॥ श्रीः ॥

वेदान्त-तत्त्व-विचार

[सप्रमाण विचार-सागर]

१००८ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती
'श्रीकरपात्री'जी के शिष्य स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती

मूल्य रु० ४) चार रुपया
६/-

प्रकाशक

बाबू रघुवंशसिंह
गाँव–पचरुखिया, पो०–मतवागढ़ (गया)
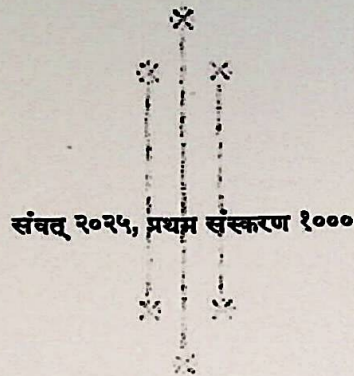
संवत् २०२५, प्रथम संस्करण १०००

मिलनेका पता—

पं० दीनानाथ कुलकर्णी
डी २५/१८, नारदघाट, वाराणसी

॥ श्रीहरिः ॥

भूमिका

(१००८ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती 'श्रीकरपात्री'जी महाराज)

जो वस्तु अज्ञानसे आवृत विपर्यय तथा संदेहकी विषय एवं सप्रयोजन विचारवाली हो, उसीमें जिज्ञासा तथा सम्यग् ज्ञानके लिये विचार किया जाता है, साथ ही जो सामान्यरूपसे प्रसिद्ध एवं विशेषरूपसे अप्रसिद्ध है उसीमें जिज्ञासा होती है। ब्रह्मात्मतत्त्व भी प्रमातारूपसे अत्यन्त प्रसिद्ध है, क्योंकि प्रमाता-से स्वभिन्न प्रमेयकी प्रवृत्तिके लिये ही प्रमाणका अन्वेषण करता है। अपनी प्रमितिके लिये प्रमाणका अन्वेषण कभी नहीं करता, अतः अहंरूपसे अपरोक्ष आत्मा स्वतः सिद्ध है। सम्पूर्ण प्रपञ्च जिसकी प्रसिद्धिसे ही प्रसिद्ध है, उसकी प्रसिद्धिमें संदेह नहीं हो सकता। इस तरह यद्यपि आत्मा प्रसिद्ध ही नहीं, किन्तु सबसे प्रथम वही भासमान होता है। सब वस्तुएँ उसके भानके पश्चात् ही वैसे भासमान होती हैं जैसे दर्पणकी प्रतीतिके पश्चात् प्रति-बिम्ब प्रतीत होते हैं। अथवा जैसे आलोककी प्रतीतिके पश्चात् नील-पीतादि रूप भासमान होते हैं। तथापि श्रुति उसे परिपूर्ण

परमानन्द ब्रह्मस्वरूप कहती है। परन्तु वह परमानन्दपूर्णता उसमें नहीं प्रतीत होती है, प्रत्युत उसके विपरीत परिच्छिन्नता आदि प्रतीत होती हैं। अतः उस रूपसे वह अप्रसिद्ध ही है।

सत्तारूपसे, वोधरूपसे ब्रह्म भी यद्यपि प्रसिद्ध है, तथापि उसकी श्रुत्युक्त निष्प्रपञ्चता और निर्विशेषता नहीं भासमान होती है। अतः वह भी सामान्यतया प्रसिद्ध एवं विशेषरूपसे अप्रसिद्ध है। अतः आत्मा एवं ब्रह्मकी जिज्ञासा हो सकती है। यद्यपि ब्रह्मात्मा स्वप्रकाश है। सूर्यमें अन्धकारके तुल्य स्वप्रकाश-में अज्ञान सम्भावित नहीं और विना अज्ञानके संशय आदि वन नहीं सकते। यहाँतक कि प्रमाण-प्रमेयादि-प्रतिकर्म-व्यवस्था ही अज्ञानपर निर्भर होती है। अज्ञात ही प्रमेय होता है, उसका ज्ञापक ही प्रमाण होता है और वेदान्तानुसार मुख्य प्रमेयत्व भी आत्मामें ही माना गया है; क्योंकि स्वप्रकाश होनेसे उसीमें असत्त्वापादन और अभानापादनरूप अज्ञानकी आवरणशक्ति सार्थक हो सकती है।

इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्ममें अज्ञानके विना द्वैतप्रपञ्चाभास-मय विपर्यय भी नहीं वन सकता हैं, असत्यमें सत्यता-आवेश, देहादिमें आत्मत्वका ग्रह भी अज्ञानके विना सम्भव नहीं; इन सव कारणोंसे आत्मामें ज्ञानाभावसे विलक्षण भावरूप संशय-विपर्ययादिका कारणभूत अज्ञान मान्य है। जैसे वीजमें अङ्कुरो-

त्पादिनी शक्ति बीजसे विलक्षण होती है, वैसे ही सत्स्वरूप ब्रह्ममें अनन्त ब्रह्माण्डात्मक प्रपञ्चकी उत्पादिनी शक्ति भी सत्से विलक्षण मान्य है। वही ज्ञानाभावसे विलक्षण भावरूप अज्ञान अचित् आदि शब्दोंसे व्यवहृत होता है। जैसे स्वतः सिद्ध होनेसे ब्रह्म अप्रमेय है, वैसे ही अप्रसिद्ध होनेसे प्रमेय भी है। जो सामान्यतः प्रसिद्ध हो एवं विशेषतः अप्रसिद्ध हो उसीमें अज्ञान, भ्रान्ति, संदेह, प्रमाण, प्रमा एवं विचारादि हो सकते हैं। अज्ञानकृत आवरणके विना विचार्यता नहीं वन सकती, अज्ञान होनेपर भी अध्यास या भ्रमके विना भी आत्मामें विचार्यता नहीं हो सकती; क्योंकि सुषुप्तिमें आत्मा अज्ञात रहता है तब भी विचार नहीं प्रवृत्त होता है। विपर्यय होनेपर भी संशय हुए विना भी जिज्ञासा नहीं हो सकती, परन्तु पूर्वोक्त रीतिसे आत्मामें विशेषतः अप्रसिद्धिसे अज्ञान, संशय तथा प्रपञ्च-विकल्पका स्पष्ट अनुभव होता है।

आस्तिक वेद-प्रामाण्यवादी वेदके द्वारा आत्माकी ब्रह्मरूपता सुनता है, प्रत्यक्षतः आत्मामें जीवत्वका अनुभव करता है। इसी तरह 'नेति-नेति' वाक्योंद्वारा प्रपञ्चका बाध या मिथ्यात्व समझता है, परन्तु प्रत्यक्षतः प्रपञ्च सत्य ही प्रतीत होता है; अतः संशय होना स्वाभाविक है। जीव और जगदादिका अधिष्ठान होनेके लिये जहाँ आत्माको अनिर्वचनीयशक्ति अचित्,

अज्ञान, तमकी अपेक्षा है; वहाँ शक्ति या अज्ञानको भी अपनी स्थिति, स्वसत्ता एवं स्फुरणके लिये अखण्ड ब्रह्म-सत्ताकी अपेक्षा है। अतः वह अज्ञान स्वसिद्धिके लिये ही सच्चित्स्वरूपको आच्छादित न करके उसके अद्वितीय परिपूर्ण आनन्दस्वरूपको हीं आवृत करता है। वही जीव जगदादि भ्रमाधिष्ठान अज्ञानका आश्रय है और वही उसका विषय भी है। यदि अज्ञान सच्चिद्रूपको आवृत करता, तब तो वह स्वयं भी तथा सभी प्रपञ्च अप्रसिद्ध ही रहता। साथ हीं यदि परिपूर्ण आनन्दरूपका आवरण नहीं करता तो वह स्वयं निरर्थक होता। इसीलिये जीवेशादि-विभागशून्य अखण्ड ब्रह्म ही अज्ञानका विषय एवं आश्रय मान्य होता है। फिर भी यह नहीं समझना चाहिये कि सच्चिद्रूप एवं अद्वयानन्द पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। उनका कल्पित भेद होते हुए भी वस्तुतः सच्चित्, परिपूर्ण आनन्द एक ही वस्तु है। जैसे सुदूरसे वृक्ष गृहीत होनेपर भी उसका स्वरूपभूत भेद अगृहीत होता है, वैसे सच्चित्स्वरूप अज्ञानादि साक्षिरूपसे भासमान होता हुआ भी उससे अभिन्न ही उसकी परिपूर्णता, आनन्दरूपता अगृहीत होती है। सत्, चित् भी दो नहीं हैं। सत्‌की स्वप्रकाशता ही चिद्रूपता है और चित्‌की अंत्यन्ताबाध्यता सद्रूपता है। ऐसे ही आनन्द भी सच्चित्स्वरूपसे पृथक् नहीं है। फिर भी व्यावर्त्य भेदसे विभिन्न पदोंका प्रयोग सार्थक है, व्यर्थ नहीं है।

उसी सच्चित्स्वरूपमें दुःखात्यन्ताभावकी अधिकरण होनेसे आनन्दरूपता एवं द्वैतात्यन्ताभावका अधिकरण होनेसे परिपूर्ण-रूपताका व्यवहार होता है। अज्ञान यदि सम्पूर्णरूपसे ब्रह्मको तिरोहित करे तो जगदान्ध्य-प्रसंग होगा और अज्ञानकी प्रतीति भी नहीं होगी। अंशतः आवरण करे तो ब्रह्ममें निरंशता, अखण्डता बाधित होगी। अतः जैसे उपनेत्रद्वारा अस्थूल अक्षरोंमें ही स्थूलत्वबुद्धि होती है, वहाँ वह अक्षर अक्षररूपसे स्पष्ट प्रकट होनेपर भी अस्थूल (सूक्ष्म) रूपसे आवृत होता है। जैसे असूक्ष्म आदित्यमें प्रादेशिकत्वमात्रकी भ्रान्ति होती है, वहाँ आदित्यरूपसे आदित्य भासमान होनेपर भी असूक्ष्मरूपसे आवृत है। नीरूप आकाशमें नीलरूपका भ्रम होता है, वहाँ भी आकाशकी नीरूपता आवृत है, आकाशरूपता भासमान है। अह्रस्व वृक्षमें दूरसे ह्रस्वत्वबुद्धि होती है वह वृक्षरूपसे अनावृत है, अह्रस्वरूपसे आवृत है।

किसीको प्राची दिक्‌में प्रतीचीत्वका भ्रम होता है, वहाँ दिग्रूपसे भान और प्राचीरूपसे अभान होता है। नौकारूढ लोगोंको निष्क्रिय तटस्थ वृक्षोंमें सक्रियत्व-भ्रम होता है। वहाँ वृक्षरूपसे अनावरण और निष्क्रियरूपसे आवरण देखा जाता है। रज्जु-शुक्ति आदि द्रव्योंमें सर्पादिका भ्रम होता है। यहाँ भी द्रव्यरूपसे स्पष्टता, रज्ज्वादिरूपसे अस्पष्टता प्रसिद्ध है।

नित्य ज्ञानमें मोहसे अनित्यत्वबुद्धि होती है। ज्ञानत्वरूपसे उसका भान होनेपर उसकी नित्यता आवृत होती है। निष्प्रपञ्च स्वप्नभासकमें सप्रपञ्चका आरोप होता है, स्वयंरूपसे स्वप्नभासक प्रसिद्ध है, परन्तु निष्प्रपञ्चता उसकी स्वरूपभूत होनेपर भी आवृत है। निःसामान्य-विशेष आत्मामें सामान्य-विशेषका व्यवहार उसी भानाभानके आधारपर होता है।

अनिदंरूप सत्में इदं सत्का आरोप होता है। सत्त्वरूपसे यहाँ भी अधिष्ठान भासमान है। अनिदंरूपसे वह आवृत ही है। अकर्तृत्वादिरूप आत्मामें कर्तृत्वादिका भ्रम है। तथापि अहंरूपसे आत्मा भासमान है, अकर्तृत्वादिरूपसे आवृत है।

किं बहुना, तत्तद्विशेषशून्य सत्तामें तत्तद्विशेषकी कल्पना है। वहाँ सत्तारूप स्फुट है। तत्तद्विशेषशून्यता आच्छन्न ही है। इस प्रकार शुद्ध अखण्ड आत्मा ही अज्ञानद्वारा प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्धरूप होकर सर्वप्रपञ्चका अधिष्ठान बनता है। उसे ही श्रुतियाँ उपादान कारण एवं निमित्त कारण भी कहती हैं। जैसे मिथ्या अधिष्ठान नहीं होता, वैसे ही मिथ्या उपादान भी नहीं होता है। अधिष्ठानमें निषिद्ध वस्तुका भी अपने उपादान कारण-में सत्त्व ज्ञात होता है। परन्तु जो स्वोपादानमें निषिद्ध होता है, उसका कहीं भी अस्तित्व ज्ञात नहीं होता है। शुक्तिमें रजत निषिद्ध होनेपर भी उसका अपने उपादानमें सत्त्व मान्य होता

है। परन्तु पटके उपादानभूत तन्तुमें पटका निषेध होनेसे उसका अस्तित्व कहीं भी ज्ञात नहीं होता है। कार्योंमें अतीत, अनागत, वर्तमान अवस्थाओंमें जो रूप अनुवृत रहता है, वह सत् ही होता है, वही कारण होता है।

जैसे लोकमें शुक्ति अज्ञानद्वारा रजतरूपमें भासित होती है, वैसे ही ब्रह्म भी अचित् माया या अज्ञानद्वारा जीव-जगदादिरूपसे भासित होता है।

दर्शन-सामग्री होनेपर जो अन्वेषण करनेपर भी उपलब्ध नहीं होता, वह पदार्थ नहीं होता। अति दूरसे आकाशमें उड़ते हुए पक्षी नहीं दीखते, तो भी उनके सत्त्वका अपलाप नहीं होता। अति सामीप्यके कारण अञ्जन विद्यमान होनेपर भी उपलब्ध नहीं होता। अन्ध-बधिर आदिको इन्द्रिय-वैकल्यसे रूपादिका उपलम्भ नहीं होता, मनकी चञ्चलता या अन्यमन-स्कतासे भी समीपकी वस्तु नहीं दीखती है। परमाण्वादि सूक्ष्मताके कारण नहीं उपलब्ध होते हैं। कुड्यादिके व्यवधानसे गृहगत वस्तुका तथा अन्योच्चारण-सांकर्यसे पुत्रादिके शब्दोंका उपलम्भ नहीं होता है।

प्रपञ्चका प्रत्यक्ष भान होता है, अतः उसका असत्त्व कहना वदतोव्याघात है। साथ ही श्रुति और युक्तिसे उसका निषेध

होता है। अतः सत्त्व कहना भी कठिन है। तन्तुमें पट भासमान अवश्य है, परन्तु विचार करनेपर आतान-वितानात्मक तन्तुओंसे अलग पटका सत्त्व सिद्ध नहीं होता है। उसकी सत्ता जैसे भ्रान्तिमूलक ही है, वैसे ही कारणभूत ब्रह्मसत्तासे ही प्रपञ्चकी सत्ता भ्रान्तिसे प्रतीत होती है। कारणकी सत्ता ही कार्यकी सत्ता है। कारणकी दृष्टि ही कार्यकी दृष्टि भी है। स्पष्ट है कि तन्तु एवं मृत्तिकाके रूप, स्पर्श, गुरुत्वादिको तन्तु आदिमें ही देखकर पटादिको पृथक् देखनेसे उसका अस्तित्व सर्वथा बाधित होता है। यदि प्रमाणसे पटादि भासित हों, तभी उनका अस्तित्व मानना चाहिये, अन्यथा पटादिका मिथ्यावेशमात्र ही है। इसी तरह आत्मज्ञान-सत्ता एवं स्फूर्ति आत्मामें ही समझ लेनेपर प्रपञ्चकी सत्ता एवं दृष्टि कुछ भी नहीं सिद्ध होती है। जितना भी दृश्यप्रपञ्च है, विचार करनेसे उसकी सत्ता कारणकी ही सत्ता है। जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न होनेवाले घटका मृत्तिकामें त्रैकालिक निषेध विदित होनेपर उसकी कहीं अन्यत्र सत्ता सम्भावित नहीं होती, इसी तरह आत्मासे उत्पन्न होनेवाले विश्वप्रपञ्चका आत्मामें ही त्रैकालिक निषेध विदित होनेपर उसकी सत्ता कहीं अन्यत्र सम्भावित नहीं होती। "नेति-नेति," "अशब्दमस्पर्श०" आदि निषेध-वाक्य विशेषाभावका बोध कराकर सामान्य, आत्म-सामान्यका बोध कराते हुए, अन्तमें निःसामान्य-

विशेष ब्रह्मात्म वस्तुमें पर्यवसित होते हैं। इसी तरह "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्योंका भी निर्विशेष ब्रह्म ही पर्यवसान है।

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यादि श्रुतियोंसे यह भी विदित होता है कि सृष्टिका कर्ता परमेश्वर है और वही प्रवेश क्रियाका भी कर्ता है। जो प्रवेष्टा परमेश्वर है, वही प्रविष्ट होकर 'त्वं' पदार्थके रूपमें व्यवहृत होता है। अतएव 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे 'तत्' 'त्वं' दोनों पदार्थोंका ऐक्य बोधित होता है।

फिर भी वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त धर्मका भगवच्चरण-पङ्कजसमर्पण बुद्धिसे अनुष्ठान करते-करते भगवान्‌की मङ्गलमयी कृपासे जब साधकका अन्तःकरण पवित्र होता है, तभी नित्यानित्यवस्तु-विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति तथा तीव्र बुभुक्षाके तुल्य उत्कट मुमुक्षाकी प्राप्ति होती है। उक्त साधनों एवं सद्गुणोंके प्राप्त होनेपर सद्गुरु-प्राप्तिपूर्वक श्रवणादि बन सकते हैं और तभी पूर्वोक्त निष्प्रपञ्च ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। यद्यपि ब्रह्मसाक्षात्कारमें वेदान्त-महावाक्य ही परम प्रमाण होते हैं, तथापि उपक्रमोपसंहारादि षड्विध शास्त्र-तात्पर्य-निर्णायक लिङ्गोंद्वारा उपनिषदोंका ब्रह्मात्मामें तात्पर्यरूप श्रवणके विना प्रस्फुट ब्रह्मात्मसाक्षात्कार नहीं हो पाता। इसीलिये वेदान्त-शास्त्रमें श्रवण या विचारका विशेष महत्त्व है।

श्रवण (विचारित वेदान्तों) द्वारा, श्रुतार्थका ही बुद्धयारोहणार्थ तर्कमय मननके द्वारा सुव्यवस्थापन किया जाता है। और उसीका विजातीय प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्यय-प्रवाहरूप निदिध्यासन किया जाता है। भले जीव वस्तुतः स्वप्रकाश, अखण्ड, अनन्त, सच्चिदानन्दघन ब्रह्माभिन्न ही है, तो भी श्रवण, मनन और निदिध्यासनके विना उसका साक्षात्कारात्मक अनुभव नहीं हो पाता।

संस्कृत भाषामें इस सम्बन्धके अनेक प्रौढ़ ग्रन्थ विद्यमान हैं, परन्तु हिन्दी भाषामें वेदान्तके साङ्गोपाङ्ग विचारपूर्ण बहुत कम ग्रन्थ हैं। श्रीस्वामी अनन्तानन्द सरस्वतीने उपनिषदादि वेदान्त-ग्रन्थों एवं विचारसागरके आधारपर हिन्दीमें 'वेदान्त-तत्त्व-विचार' नामक ग्रन्थका संकलन किया है। यह साधकों, विचारकोंके लिये अत्यन्त उपयोगी है।
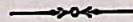
सम्मतियाँ—

(१)

* श्रीः *

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य ऊर्ध्वाम्नाय सुमेरु पीठाधीश्वर १०८ श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वती

श्रीदण्डी स्वामी श्रीअनन्तानन्द सरस्वतीने 'विचार-सागर' प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थको, जिसके अनुवाद अनेक भाषाओंमें हुए हैं, श्रीवासुदेवेन्द्र सरस्वतीने संस्कृत भाषामें किया है, अनूदित किया है। श्रीस्वामीजीके अनुवादमें अपेक्षित प्रमाण उद्धृत होनेके अतिरिक्त स्पष्टता, सुन्दरता, सरलता और प्रामाणिका-धारता उट्टङ्कित हैं। अनुसन्धानकी दृष्टि पद-पदपर परिलक्षित हो रही है। परिश्रमके क्षेत्र इस विशाल अनुवचनमें स्खलनकी नैसर्गिकता ऐसी पलायित हुई है कि कदाचित् किंचित् केन-चित्परिलक्षित हो सकती है। एकान्त साधनाके तपस्वी श्रीस्वामीजीने दो वर्षकी सतत निरतिशय तल्लीनतासे इस निबन्धका उद्भावन किया है। इसके आदिप्रभव महात्माकी भाषा अधिक दैशिक थी, प्रमाणके उद्धरण नहीं थे, इनका इसमें पर्याप्त मार्जन हुआ है। अतएव इसकी उपादेयता, महनीयता और उपयोगिता अधिक निखर गई है। श्रीस्वामीजीने इसके पूर्व अनेक ग्रन्थ निबद्ध किये हैं जो साम्प्रयिक उद्भ्रान्त प्राणियोंके असाधारण निर्वापक सिद्ध हो रहे हैं।

वस्तुतः क्लेशबहुल संसार-दावानलदन्दह्यमान जीवोंको विश्राम, शान्ति-सुख, सकल दुःख-विमोक्ष सत्, चित्, आनन्द, कूटस्थ, नित्य, स्वप्रकाश, श्रुति-स्मृति-पुराणोंके चरम, परम ऐदम्पर्य विषय, सर्वानुभवसिद्ध, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्मके साक्षात्कार तथा मूला-तूला सर्वविध अविद्याकी निवृत्तिसे ही सम्भावित है। स्वामीजीका यह मनोहर निर्माण इस सन्मार्गमें अतिरिक्त सहायक होगा, इससे अनन्त प्राणियोंका उद्धार तथा निर्द्वापर भगवत्प्राप्ति होगी। मैं इसको किंचिदवच्छेदेन देखकर परम प्रसन्न हुआ।

(२)

श्रीहरिः

अनन्तश्रीविभूषित दण्डिस्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी,
संस्थापक-आध्यात्मिक उत्थान मण्डल,
भोपाल (म० प्र०)

समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दावाप्ति प्राणियोंका परमपुरुषार्थ है, यही मोक्षका भी स्वरूप है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', इस वचनके अनुसार प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म परमात्माके दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कारसे अविद्या तत्कार्यका बाध हो जानेपर स्वस्वरूपावस्थानरूप कैवल्य मोक्षकी प्राप्ति सुनिश्चित है।

अद्वैत-तत्त्वसाक्षात्कारका करण जीव-ब्रह्मकी एकताका बोधक वेदान्तवाक्य माना जाता है, विचार नहीं। 'तं त्वौप-

निषदं पुरुषं पृच्छामि' यह श्रुति ब्रह्मको औपनिषद पुरुष कहकर 'उपनिषद् अर्थात् वेदान्तवाक्यमें ही ब्रह्मज्ञानकी करणताका द्योतन करती है। प्रमाणगत संशय तथा प्रमेयगत संशयकी निवृत्तिके लिये वेदान्तोंका उपक्रमादि षड्विधलिङ्गोंसे प्रत्यग्ब्रह्मैक्यमें तात्पर्य-निर्धारणरूप श्रवण एवं तदनुकूल उपपत्तिरूप मननका भी उपयोग है। क्योंकि संशय-विपर्यय-रहित ज्ञान ही अप्रतिबद्ध होकर मोक्षका हेतु होता है। प्रस्तुत पुस्तकमें तत्त्वज्ञानके लिये अपेक्षित श्रौत प्रमाणों और युक्तियोंका अच्छा सङ्कलन है। स्वामी श्रीअनन्तानन्द सरस्वतीने पर्याप्त परिश्रमसे पुस्तकको वर्तमानरूपमें उपस्थित करके इसको जिज्ञासुओंके लिये बोधगम्य बना दिया है। स्वामीजीका एतद्विषयक प्रयास प्रशंसनीय है।

(३)

॥ श्रीहरिः ॥

पं. गङ्गाशङ्कर मिश्र, प्रधान सम्पादक, 'सन्मार्ग'
वाराणसी तथा कलकत्ता

स्वामी श्रीअनन्तानन्द सरस्वतीद्वारा रचित 'वेदान्त-तत्त्व-विचार' नामक पुस्तक देखनेको मिली। श्रीस्वामीजी सनातनधर्म-हृदयसम्राट् पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके पट्ट शिष्योंमेंसे एक हैं। वेदान्त-ग्रन्थोंके अध्ययनमें ही आपका समय व्यतीत होता है। अद्वैतवाद वेदान्तका मुख्य विषय है।

दर्शनोंमें वेदान्त भी अद्वैत ही है। उसकी तुलनामें कोई दूसरा दर्शन टिक नहीं सकता। पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी उसके सिद्धान्तोंकी सराहना की है। इस गूढ़ दर्शनके तत्त्वको स्वामी-जीने अपनी पुस्तकमें सरल ढंगसे और सरल भाषामें समझाने-का प्रयास किया है। इसमें उन्हें अच्छी सफलता भी प्राप्त हुई है। पाठक इसके अध्ययनसे बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं।

(४)
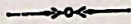
पं. श्रीबदरीनाथ शुक्ल, एम. ए., न्याय-वेदान्ताचार्य,
प्राध्यापक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

"वेदान्त-तत्त्व-विचार" नामक पुस्तकको मैंने आद्योपान्त पढ़ा। इस पुस्तकमें "वेदान्त" शास्त्रके सभी प्रतिपाद्य विषयों-पर सरल और सुन्दर रीतिसे प्रवहमान हिन्दी भाषाके माध्यम-से पर्याप्त प्राञ्जल विचार किया गया है और सभी महत्त्वपूर्ण विषयोंको सुबोध बनानेकी भरपूर चेष्टा की गयी है। ग्रन्थकार-ने विषयके प्रतिपादनकी जो शैली अपनायी है उसमें तर्क, प्रज्ञा, भाव और श्रद्धा सभीकी प्रधानता है। अतः यह पुस्तक अध्येताके मानस और मस्तिष्क दोनोंको पूर्ण आहार प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक यतः एक कोरे विद्वान्‌की कृति न होकर एक साधक संन्यासी विद्वान्‌की हार्दिक कृति है। अतः यह पाठकोंमें केवल वैचारिक क्रान्ति ही नहीं उत्पन्न करती, अपितु उनके जीवनकी दिशा भी निश्चित करती है, और उस ओर उन्हें आगे बढ़नेकी प्रेरणा भी प्रदान करती है।

पुस्तकमें वेदान्त-सिद्धान्तके विषयमें जो सूचनाएँ दी गयी हैं, उनके समर्थन और उपपादनमें जो उक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं वह सब वेदान्तके मान्य ग्रन्थोंपर आधारित हैं, तथा उनके सम्बन्धमें जो बातें कही गयी हैं उनकी पुष्टिके लिए अनेक प्रामाणिक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

ग्रन्थकार पूज्य श्रीस्वामीजी अनन्तानन्दजीको मैं ऐसे लोकोपयोगी ग्रन्थकी रचनाके लिए हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूँ। क्योंकि उन्होंने राष्ट्रभाषाके माध्यमसे इस लोको-पयोगी आध्यात्मिक ग्रन्थकी ऐसे समयमें रचना की है जब वैज्ञानिक सभ्यताके उत्कट आलोकमें भारतकी सत्य शाश्वत उपलब्धियाँ धूमिल पड़ने लगी हैं और चिरकालसे संजोयी मानवता अन्ताराष्ट्रिय संघर्षोंकी ज्वालामें दग्ध होने जा रही है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक समाजमें अपेक्षित आदर प्राप्त करेगी, और मानव-समाजको कोरी भौतिकताके पङ्कसे निकाल आध्यात्मिकताके निसर्ग निर्मल नीरमें अवगाहन करनेका सुअवसर प्रदान कर मनुष्य जीवनका पावन परिष्कार कर सकेगी।

(५)

श्रीविश्वनाथः शरणम्।

मीमांसारत्न अ० सुब्रह्मण्य शास्त्री, प्राध्यापक, मीमांसा-दर्शन,
संस्कृतमहाविद्यालय, का. हि. वि. वि., वाराणसी

स्नातं तेन समस्ततीर्थनिवहे सर्वापि दत्तावनि-
यज्ञानाञ्च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संतर्पिताः।
संसाराच्च समुद्धृतास्स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्यो ह्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥ १॥

ये तु ब्रह्ममयीं वृत्तिं ज्ञात्वा च वर्द्धयन्ति ये।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये॥ २॥

यह 'वेदान्त-तत्त्व-विचार' नामकी एक छोटी-सी पुस्तक वेदान्त-शास्त्रके अध्ययन और अभ्यास करनेवालोंके लिये परम उपकारक होगी। क्योंकि जिज्ञासुओंके उपकारके लिये ही आदरणीय स्वामी श्रीअनंन्तानन्दजी महाराजने अपने जीवनके अनुभवोंका ही इसमें संग्रह किया है।

इसमें ७ अंश हैं। पहलेमें—जीव-ब्रह्म-ऐक्यका सरल एवं सरस शब्दोंके द्वारा निरूपण किया गया है। द्वितीयमें—विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, अधिकारिरूप अनुबन्ध-चतुष्टयका आक्षेप-समाधानद्वारा विवेचन किया गया है। तृतीयमें—गुरु तथा शिष्यका स्वरूप-विवेचन एवं गुरु-सेवा-क्रमका निरूपण किया गया है। प्रत्येक साधकको ज्ञान-प्राप्तिके लिये तथा ज्ञान-प्राप्तिके बाद कृतघ्नता-दोष-परिहारके लिये जीवनपर्यन्त

वेदान्त, गुरु तथा ईश्वरको संस्मरण रखना चाहिये। चतुर्थ अंशमें—उत्तमाधिकारियोंके लिये उपदेश, ब्रह्मतत्त्वका उपदेश, महावाक्यके द्वारा अपरोक्षज्ञानका प्रकार कहा गया है। पञ्चम अंशमें—मध्यम अधिकारियोंके लिये उपदेश तथा गुरु, वेद-शास्त्र आदिकी सत्ताका वर्णन करते हुए भेदवादका तिरस्कार किया गया है। इस प्रसङ्गमें 'भच्छु' की कथा अत्यन्त ही रोचक दी गयी है। षष्ठ अंशमें—तत्त्वज्ञान होनेके बाद गुरु-वेदान्तादि साधनके मिथ्यात्वका उपपादन किया गया है। ज्ञानके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनोंका भी प्रतिपादन किया गया है और चार महावाक्योंका तथा ॐकारका भी वाक्यार्थ-वर्णन बड़ी ही सरल रीतिसे किया गया है और ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है इस सिद्धान्तको समर्थन करते हुए सृष्टि, प्रलय, मोक्ष, जीव, ईश्वर इत्यादिका भी विवेचन किया गया है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा नास्ति-मतोंका भी निरासकर वेदान्तसिद्धान्तको पुष्ट किया गया है। इसीमें दृष्टि-सृष्टिवादका भी निरूपण किया है। सप्तम अंशमें—जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति, ज्ञानियोंके व्यवहार, समाधिके अष्टाङ्ग और उसके विघ्न एवं विघ्नोंकी निवृत्तिके उपाय बतलाते हुए सम्पूर्ण वेदान्तका अभेदमें ही तात्पर्य प्रतिपादन किया गया है।

श्रीस्वामीजीने अपने ग्रन्थकी प्रामाणिकताके लिये सूत्र-भाष्य, गीता, उपनिषदें, संक्षेपशारीरक और पञ्चदशी आदि ग्रन्थोंका भी उद्धरण किया है। इसलिये श्रीस्वामीजीका प्रयास

अत्यन्त प्रशंसनीय है। अतः मैं इस ग्रन्थका हृदयसे स्वागत करता हूँ और इससे जनताजनार्दनका विशेष लाभ हो यही भगवान् विश्वनाथसे प्रार्थना करता हूँ।

आदौ ज्ञानाप्तये पश्चात् कृतघ्नत्वनिवृत्तये।
यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः॥

ॐ शान्तिः। शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ श्रीः ॥

प्राक्कथन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। इनमें परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। "न स पुनरावर्तते" इस श्रुतिसे मोक्ष ही नित्य है यह प्रतीत होता है। अन्य तीन धर्म, अर्थ एवं कामको प्रत्यक्ष ही "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एव-मेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" यह श्रुति अनित्य बोधन कर रही है। मोक्ष क्या है? इस विषयमें भिन्न-भिन्न वादियोंके अनेक मत हैं—यथा भाट्टके मतमें नित्य सुखके साक्षात्कारको मोक्ष कहते हैं। निर्लेप पुरुषका कैवल्यरूपसे अवस्थान मोक्ष है यह योगी कहते हैं। सांख्यके मतमें प्रकृति-पुरुषके विवेक-पुरस्सर अविवेक निवृत्त होनेपर पुरुषका स्वस्वरूपसे अवस्थान ही मोक्ष है। किसीके मतमें निखिल दुःख-निवृत्तिपूर्वक स्वात्मानन्दकी प्राप्ति ही मोक्ष है। इसी प्रकार चार्वाक, विज्ञानवादी, भास्कर, वैष्णव, हैरण्यगर्भ और रसेश्वरवादी आदिके मतमें भिन्न-भिन्न प्रकारके मोक्ष माने जाते हैं। वेदान्तियोंके मतमें विद्यासे नित्य निरस्त अविद्या-तत्कार्य अद्वितीय ब्रह्मात्मैकत्वस्वरूप परमानन्दकी प्राप्ति ही मोक्ष है। वह मोक्ष विचार—विवेकके विना नहीं होता। यद्यपि मोक्ष महावाक्य-श्रवणसे ही होता

है, तथापि संशय-विपर्यय-निवृत्तिके लिये विचार आवश्यक होता है। क्योंकि अविवेकसे आत्मामें बन्ध और विवेकसे मोक्ष कहा गया है।

विवेक अर्थात् विचारका अर्थ है 'प्रमाणसे तत्त्वका परीक्षण एवं तात्पर्य-निर्णयानुकूल युक्तियोंका अनुसन्धान।'

युक्तिवाक्यैरनेकैश्च अप्रत्यक्षार्थसाधनः।
अनेकोपायसंयुक्तो विचार इति कीर्तितः॥

विचारके द्वारा अविद्या और तत्कार्य निवृत्त होनेसे ब्रह्मात्मैकत्वस्वरूप परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। यह ब्रह्मात्मैकत्व निश्चय हो जानेपर समस्त संसारको आत्मस्वरूपसे देखता हुआ प्राणी जीवन्मुक्तिका सुख अनुभव करता है।

इस आत्म-तत्त्व-विचारका उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता आदिमें भगवान् भाष्यकारने बड़े विस्तारसे वर्णन किया है। किन्तु सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये इनका समझना बड़ा कठिन है। वेदान्त-विषयको सरलतासे समझनेके लिये श्रीनिश्चलदासके 'विचार-सागर' को किन्हीं तैलङ्ग स्वामी श्रीवासुदेवेन्द्र सरस्वतीने संस्कृतमें लिखा है। संयोगवश मुझको उनका लिखा हुआ संस्कृत 'विचार-सागर' देखनेका अवसर मिला। पढ़नेसे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने सोचा कि इसका शुद्ध हिन्दीमें अनुवाद करूँ तो मुझको विशेष लाभ होगा। अतः "स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा।" इसको मनमें रखकर हिन्दी

और संस्कृत दोनोंको देखकर शुद्ध हिन्दीमें लिखना आरम्भ किया। कितने लोगोंने कहा भी कि इसकी हिन्दी भाषा तो है ही, पुनः हिन्दीमें लिखनेसे क्या लाभ होगा। मैंने सोचा—हिन्दीमें है तो सही, किन्तु प्राचीन हिन्दीमें लोगोंकी रुचि नहीं है, एवं उसमें प्रमाणस्वरूप मन्त्र नहीं हैं; और संस्कृत सबको सुलभ नहीं है। यह विचार करके प्रमाणभूत मन्त्रोंके सहित यह "वेदान्त-तत्त्व-विचार" नामक ग्रन्थ लिखा गया है।

लिखते समय कितने ही श्रद्धालु सज्जनोंने कहा कि यह छप जाय तो साधारण व्यक्तिको भी इससे लाभ होगा। उनके कहनेसे तथा कुछ अर्थकी सहायता प्राप्त होनेसे इसको छपाना आरम्भ किया। किन्तु ग्रन्थ बड़ा होनेसे थोड़े अर्थमें इसका पूर्ण होना कठिन हो गया। इसी बीच, चित्रापुर मठके मठाधीश श्रीस्वामी परिज्ञानआश्रमजी काशीमें अपने शिष्य पं० दीनानाथ कुलकर्णीजीके यहाँ पधारे हुए थे, उनसे सत्संगके सिलसिलेमें इसकी छपाईकी चर्चा हुई। तब उन्होंने बड़ी उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देकर इसकी छपाईमें जो कुछ कमी थी उसकी पूर्ति कर दी, जिसके फलस्वरूप यह ग्रन्थ पाठकोंकी सेवामें समर्पण हो सका है। आर्थिक सहायता देनेवाले सज्जनोंके नाम इस प्रकार हैं—

महन्त स्वामी श्रीपरिज्ञानआश्रमजी, मठाधीश, चित्रापुर
स्वामी श्रीकाशीआश्रमजी, अस्सी, काशी
श्री पं० राजेन्द्रजी वेदाचार्य, प्राध्यापक, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

सेठ अनन्तरामजी पोद्दार, अस्सी, काशी
आनन्दी बाई, अस्सी, काशी
गनौड़ी बाई, नारदघाट, काशी
पं० चण्डीदत्त पाण्डेय, नगवा, गया
बाबू मुनिकरणसिंह, नगवा, गया
बाबू रघुवंशसिंह, पचरुखिया, गया
बाबू देवनन्दनसिंह, बलिया, गया
बाबू मधुलालसिंह, बलिया, गया
बाबू बुन्दीलालसिंह, चिरैला, गया

इन सभी सज्जनोंने आर्थिक सहायता देकर इस पुस्तकको छपानेमें बड़ा उत्साह दिलाया है। अतः इन सभीको अनेकानेक धन्यवाद हैं।

—अनन्तानन्द सरस्वती

॥ श्रीः ॥

विषय-सूची

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
	प्रथम अंश	

१.	ब्रह्मनिर्देशरूप मङ्गलाचरण—जीवब्रह्मैक्यरूप मङ्गल ...	१
२.	अनेक विशेषणोंका प्रयोजन ...	३
३.	मङ्गलाचरणके विषयमें आक्षेप-समाधान ...	४
४.	साधनचतुष्टय ...	१०
	(क) विवेक-वैराग्य ...	११
	(ख) शमादि षट्सम्पत्ति ...	१२
	(ग) मुमुक्षा ...	१६
५.	विवेकादिका अन्तरङ्गत्व ...	१७
६.	श्रवणका लक्षण ...	१८
७.	मननका लक्षण ...	२०
८.	ऐक्यसाधक युक्तियाँ ...	२०
९.	भेदबाधक युक्तियाँ ...	२०
१०.	निदिध्यासनका लक्षण ...	२१
११.	श्रवणादिका प्रयोजन ...	२२
	(क) श्रवणका उपयोग ...	२२
	(ख) मननका उपयोग ...	२२
	(ग) निदिध्यासनका उपयोग ...	२२
१२.	अपरोक्ष ज्ञानका साक्षात् साधन ...	२३
१३.	महावाक्य अपरोक्ष ज्ञानका हेतु है इसपर आक्षेप और समाधान ...	२३

क्रम-संख्या विषय		पृष्ठ-संख्या
१४. विषय-निरूपण	...	२६
१५. प्रयोजनके विषयमें आक्षेप एवं समाधान	...	२७
१६. सम्बन्ध-निरूपण	...	३१

द्वितीय अंश

१७. अधिकारिविषयक आक्षेप-समाधान	...	३२
१८. पामर और विषयीके लक्षण	...	३८
१९. जिज्ञासुके लक्षण	...	३९
२०. मुक्तके लक्षण	...	४१
२१. जीव-ब्रह्मैक्य विषयमें आक्षेप और समाधान	...	४२
२२. साक्षि-ब्रह्मैक्य विषयमें आक्षेप-समाधान	...	४७
२३. साक्षीका स्वरूप	...	४९
२४. जीवका स्वरूप	...	५०
२५. ऐक्यकी सिद्धि	...	५१
२६. प्रयोजनविषयक आक्षेप	...	५३
२७. अध्यास-सामग्री	...	५५
२८. सामग्रीका अभाव	...	५६
२९. कर्मसे ही मोक्ष सिद्ध होता है इस ऐकभविकवादको अवलम्बन करके आक्षेप	...	५८
३०. प्रयोजनविषयक आक्षेपोंका समाधान	...	६२
३१. संस्कार ही सब अध्यासका हेतु है	...	६५
३२. पूर्वोक्त आक्षेपोंका समाधान	...	६८
३३. प्रमेयादि दोषोंका खण्डन	...	७०
३४. कारणाध्यासका निरूपण	...	७३
३५. आत्मा सामान्यरूपसे ज्ञात है, विशेषरूपसे अज्ञात है	...	७५

क्रम-संख्या विषय		पृष्ठ-संख्या
३६. ज्ञानके विना कर्मसे मोक्ष नहीं	...	७७
३७. सम्बन्धविषयक आक्षेप और समाधान	...	८२

तृतीय अंश

३८. गुरु-शिष्य-स्वरूप-निरूपण	...	८४
३९. गुरुके लक्षण	...	८४
४०. भेदखण्डन-युक्तियाँ	...	८५
४१. शिष्यके लक्षण	...	८६
४२. गुरु-सेवा	...	८७
४३. गुरु-सेवाका क्रम	...	८८

चतुर्थ अंश

४४. उत्तम अधिकारीके लिये उपदेश—एक आख्यायिका	...	९०
४५. शिष्यकी मोक्षेच्छाको जानकर भ्रान्तिजन्यता उपपादनपूर्वक महावाक्यका उपदेश	...	९३
४६. आत्मा आनन्दस्वरूप होता तो विषयसम्बन्धसे आनन्दका भान नहीं होता—आक्षेप	...	९४
४७. समाधान—विषयमें आनन्द नहीं	...	९४
४८. दुःखविषयक प्रश्न-प्रत्युक्तियाँ	...	९७
४९. संसार-प्रतीति मिथ्या है	...	९८
५०. रज्जुमें सर्प-प्रतीति कैसे ?	...	९९
५१. शिष्य अपने प्रश्नका आशय कहता है	...	९९
५२. असत्ख्याति	...	९९
५३. आत्मख्याति	...	१००
५४. अन्यथाख्याति	...	१००
५५. अख्याति एवं पूर्वोक्त तीनों मतोंका खण्डन	...	१००
५६. अख्यातिमत-खण्डन	...	१०२

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
५७.	सिद्धान्तमें अनिर्वचनीयख्यातिका निरूपण	...	१०३
५८.	आक्षेप एवं समाधान	...	१०७
५९.	मिथ्या जगत्के आधार-अधिष्ठान	...	११३
६०.	आत्माके सामान्य-विशेष रूप	...	११५
६१.	मिथ्या जगत्का द्रष्टा आत्मासे अन्य होना चाहिये	...	११५
६२.	संसार-निवृत्तिका उपाय	...	११७
६३.	ज्ञान ही अज्ञानका नाशक है	...	११८
६४.	जीव-ब्रह्ममें अभेद	...	११९
६५.	चतुर्विध आकाशका वर्णन	...	१२१
६६.	चैतन्यके चार भेद	...	१२३
६७.	जीवका स्वरूप	...	१२४
६८.	आभासस्वरूपका विवेचन	...	१२६
६९.	चिदाभास ही पुण्य-पापका आश्रय	...	१२७
७०.	ईश्वरका स्वरूप	...	१३०
७१.	ब्रह्मस्वरूपका वर्णन	...	१३४
७२.	आभास और कूटस्थ	...	१३७
७३.	'अहं ब्रह्मास्मि'का उपदेश	...	१३९
७४.	आभासकी सात अवस्थाएँ	...	१४०
७५.	मुख्य और बाध सामानाधिकरण्य	...	१४७
७६.	कूटस्थ और आभासका भान	...	१४९
७७.	अहंवृत्तिमें साक्षी और चिदाभासका एक साथ भान	...	१५०
७८.	अज्ञानका आश्रय और विषय	...	१५१
७९.	बाह्य पदार्थमें वृत्ति और चिदाभासका उपयोग	...	१५२
८०.	प्रमाण-निरूपण	...	१५५
८१.	प्रमाण और प्रमाका लक्षण	...	१५८
८२.	षड्विध प्रमा	...	१६०

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
८३.	करणका लक्षण	...	१६०
८४.	प्रमाता, प्रमाण, प्रमा और प्रमेय : चैतन्यके चार भेद		१६२
८५.	प्रमाता और साक्षीके लक्षण	...	१६३
८६.	विशेषणका लक्षण	...	१६३
८७.	उपाधिका लक्षण	...	१६४
८८.	आभासवादमें जीव और साक्षीके स्वरूप	...	१६५
८९.	आभासवादकी श्रेष्ठता	...	१६६
९०.	आभासवादसे प्रमातादि चैतन्यका स्वरूप	...	१६८
९१.	इन्द्रिय-सम्बन्धके विना 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञानकी प्रत्यक्षता कैसे ?	...	१७०
९२.	श्रीराम-कृष्णादिके विग्रहोंकी विशेषता	...	१७२
९३.	पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर	...	१७६
९४.	ब्रह्मज्ञानकी प्रत्यक्षता	...	१७९

पञ्चम अंश

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
९५.	गुरु एवं वेदान्तके द्वारा अद्वैत ज्ञान होना सम्भव नहीं है—तत्त्वदृष्टिका प्रश्न	...	१८३
९६.	गुरुका उत्तर—	...	१८३
९७.	भेदवादका तिरस्कार	...	१८५
९८.	राजा और अमात्य भर्च्छुकी कथा	...	१८६
९९.	भर्च्छुका वैराग्य	...	१८७
१००.	समसत्तावान्की साधक-बाधकता	...	१९९
१०१.	व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक सत्ताका वर्णन	...	१९९
१०२.	संसारविषयक विचार	...	२०३
१०३.	मायाका स्वरूप	...	२०६

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
१०४.	अज्ञानकी स्वाश्रयता और स्वविषयता	...	२०९
१०५.	एक अज्ञानपक्षमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था, नाम-भेदसे मायाका स्वरूप	...	२१०
१०६.	ईश्वरका स्वरूप	...	२१२
१०७.	जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण	...	२१३
१०८.	जीवका स्वरूप	...	२१५
१०९.	जगत्-सृष्टिका वर्णन	...	२१५
११०.	ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्यका अभाव	...	२१५
१११.	जीवके भोगार्थ ईश्वरकी सृष्टि रचनेकी इच्छा	...	२१५
११२.	सूक्ष्म सृष्टि	...	२१६
११३.	अन्तःकरणकी उत्पत्ति	...	२१७
११४.	पञ्च प्राणोंकी उत्पत्ति	...	२१७
११५.	ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति	...	२१८
११६.	स्थूल सृष्टि और पञ्चीकरण-प्रकार	...	२१९
११७.	स्थूल ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति	...	२१९
११८.	आत्मविवेक अथवा पञ्चकोशविवेक—पञ्चकोशोंसे आत्माका आवरण	...	२२०
११९.	विरोचनका सिद्धान्त (अन्नमयकोशात्मवाद)	...	२२४
१२०.	चार्वाकमत एवं चार्वाकमत-खण्डन	...	२२५
१२१.	इन्द्रियात्मवाद और खण्डन	...	२२७
१२२.	प्राणात्मवाद और खण्डन	...	२२८
१२३.	मनआत्मवाद और खण्डन	...	२३०
१२४.	विज्ञानवाद और खण्डन	...	२३१
१२५.	माध्यमिक बौद्ध मत (आनन्दमय आत्मा)	...	२३३
१२६.	भट्टमत-खण्डन	...	२३५

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
१२७.	प्रभाकर एवं नैयायिकोंका मत	...	२३६
१२८.	ईश्वरीय पञ्चकोशसे ईश्वर-स्वरूपका आच्छादन	...	२३७
१२९.	पञ्चकोश-विवेक	...	२३९
१३०.	महावाक्यार्थ-निरूपण	...	२४२
१३१.	जीवन्मुक्तका निश्चय और वेदान्त-श्रवण-फल	...	२४३
१३२.	ज्ञानी और अज्ञानीके लक्षण	...	२४५
१३३.	गोप्यतत्त्वोपदेश	...	२४५
१३४.	लय-चिन्तन-क्रम	...	२४८
१३५.	ज्ञान-ध्यानके भेद और अहंग्रह-ध्यान	...	२५२
१३६.	प्रणवोपासना	...	२५४
१३७.	निर्गुण प्रणवोपासनाका क्रम	...	२५५
१३८.	ओङ्कारका ब्रह्मसे अभेद-चिन्तन	...	२५७
१३९.	ब्रह्मस्वरूप ओङ्कार और आत्माका अभेद-चिन्तन	...	२५७
१४०.	विश्व, विराट् और अकारमात्राका अभेद-चिन्तन	...	२५९
१४१.	विश्व और तैजसमें विलक्षणता	...	२५९
१४२.	तैजस, हिरण्यगर्भ और उकारका अभेद-चिन्तन	...	२६०
१४३.	प्राज्ञ, ईश्वर और मकारका अभेद-चिन्तन	...	२६०
१४४.	विश्वादि तीनोंका एकत्व और तुरीय ईश्वरका साक्षीसे अभेद-चिन्तन	...	२६१
१४५.	दो स्वरूप आत्माका दो स्वरूप ओङ्कारसे अभेद, ओङ्कारकी मात्राओंका और आत्माके पादोंका परस्पर अभेद-चिन्तन	...	२६२
१४६.	लय-चिन्तन-निरूपण	...	२६३
१४७.	ओङ्कारकी उपासनामें परमहंसका ही अधिकार	...	२६४
१४८.	ओङ्कार-ध्यानसे ज्ञानद्वारा मोक्षफल	...	२६४
१४९.	ओङ्कार-ध्यानसे ब्रह्मलोक-प्राप्तिरूप फल	...	२६५

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
१५०.	ब्रह्मलोकका मार्ग	...	२६५
१५१.	सायुज्यमुक्ति	...	२६६
१५२.	अहंग्रह-ध्यानसे ब्रह्मलोक-प्राप्ति	...	२६७
१५३.	उत्तरायणमार्गसे ब्रह्मलोक प्राप्त करनेवालेको पुनः संसार-प्राप्ति और ज्ञानद्वारा मोक्ष	...	२६८
१५४.	हिरण्यगर्भलोकवासियोंको असंग निर्विकार ब्रह्म-रूपसे आत्माके भानमें कारण	...	२६९
१५५.	ओङ्कार और महावाक्योंमें एकार्थता	...	२७१
१५६.	निर्गुण उपासनाके अनधिकारियोंका कर्तव्य	...	२७१

षष्ठ अंश

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
१५७.	गुरु-वेदान्तादि-साधन-मिथ्यात्व-वर्णन—उपोद्घात	...	२७३
१५८.	कनिष्ठाधिकारी तर्कदृष्टिका प्रश्न	...	२७३
१५९.	पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर	...	२७४
१६०.	स्वप्नमें लिङ्गशरीर स्थूलशरीरसे बाहर निकलकर सत्य पर्वतादि नहीं देखता	...	२७६
१६१.	जाग्रत् और स्वप्नकी तुल्यता	...	२७९
१६२.	स्वप्नके पदार्थोंके अधिष्ठान और उपादान	...	२८१
१६३.	सत्ताविषयक शङ्का-समाधान	...	२८५
१६४.	ब्रह्मज्ञानके विना भी स्वप्न-निवृत्ति एवं द्विविध सत्ताका वर्णन	...	२८५
१६५.	सत्ताविषयक शङ्का-समाधान	...	२८६
१६६.	देश-कालकी उत्पत्तिके विषयमें शङ्का-समाधान	...	२९०
१६७.	जाग्रत्प्रपञ्च भी सामग्रीके विना ही उत्पन्न होनेसे स्वप्नप्रपञ्चके समान मिथ्या है	...	२९५
१६८.	जाग्रत् एवं स्वप्नके पदार्थ अस्थिर हैं	...	२९७

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
१६९.	जाग्रत्पदार्थोंकी परस्पर कार्यकारणता नहीं है	...	२९९
१७०.	जाग्रत् और स्वप्नमें साम्य	...	३००
१७१.	सृष्टि-श्रुतियोंका लय-चिन्तनद्वारा अद्वैतमें ही तात्पर्य है	...	३०१
१७२.	दृष्टिसृष्टिवाद ही स्वीकार्य	...	३०२
१७३.	गुरु-वेदान्तादिके मिथ्यात्वमें दृष्टान्त	...	३०५
१७४.	अगृधदेवका स्वप्न	...	३०७
१७५.	अगृधदेवका स्वप्नमें गुरुसे समागम	...	३०९
१७६.	अगृधदेवके तीन प्रश्न	...	३१०
१७७.	'मैं कौन हूँ ?' इस प्रथम प्रश्नका उत्तर	...	३११
१७८.	सांख्यमत-निरूपण और खण्डन	...	३१२
१७९.	त्रिविध नैयायिक मतका वर्णन एवं खण्डन	...	३१५
१८०.	एकदेशी नैयायिकका मत	...	३२०
१८१.	न्यायमतमें आत्माके अनेकत्व एवं व्यापकत्वका उपपादन	...	३२१
१८२.	आत्मा व्यापक, अनेक, कर्ता तथा भोक्ता है इस न्यायमतका खण्डन	...	३२३
१८३.	अन्तःकरण ही कर्ता-भोक्ता है, वह अन्तःकरण नाना और मध्यम परिमाणवाला है इस वेदान्त-सिद्धान्तका प्रतिपादन	...	३२५
१८४.	आत्माके मध्यम परिमाणत्ववादका खण्डन	...	३२५
१८५.	आत्माके अणुपरिमाणत्ववादका खण्डन	...	३२७
१८६.	सिद्धान्त-प्रदर्शन	...	३२८
१८७.	आत्माके सद्रूपका वर्णन	...	३३१
१८८.	आत्माकी चिद्रूपताका वर्णन	...	३३२

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१८९.	आत्माके आनन्दस्वरूपका वर्णन ...	३३४
१९०.	सत्, चित् और आनन्दका ऐक्य तथा ब्रह्म एवं आत्माका ऐक्य-वर्णन ...	३३८
१९१.	ब्रह्मस्वरूप आत्माके जन्मरहितत्वका प्रतिपादन ...	३३९
१९२.	कल्पित वस्तुमें अंशका भेद ...	३४०
१९३.	सर्वपदार्थोंमें अंशपञ्चक और आत्माकी असंगता ...	३४१
१९४.	'संसारका कर्ता कौन है ?' इस द्वितीय प्रश्नका उत्तर ...	३४२
१९५.	ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र है ...	३४२
१९६.	जगत्कारणके विषयमें अनेक वाद और उनमें दोष ...	३४३
१९७.	अल्पज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट जीव जगत्का कर्ता नहीं ...	३४४
१९८.	ईश्वर व्यापक और नित्य है ...	३४५
१९९.	ईश्वर और जीवका स्वरूपसे भेद नहीं ...	३४७
२००.	'मोक्षका कारण क्या है ?' इस तृतीय प्रश्नका उत्तर ...	३४७
२०१.	मोक्षका साधन ज्ञान है ...	३४७
२०२.	कर्म-उपासना मोक्षका साधन नहीं ...	३४८
२०३.	मुमुक्षुको पञ्चविध कर्मफलोंकी आकाङ्क्षा नहीं ...	३४९
२०४.	कर्म-उपासनासहित ज्ञान मोक्षका साधन है—यह वाद ...	३५१
२०५.	कर्म-उपासना साक्षात् मोक्षका साधन है—यह वाद ...	३५२
२०६.	कर्म-उपासना परम्परासे मोक्षका साधन है—यह वाद ...	३५३

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
२०७.	समुत्पन्न ज्ञानके रक्षणार्थ भी कर्म-उपासना अपेक्षित—यह वाद ...	३५३
२०८.	कर्म एवं उपासनाका ज्ञानसे विरोध है पूर्व आक्षेपोंका समाधान ...	३५४
२०९.	आत्मामें जाति आदिका अध्यास कर्मका हेतु है, ज्ञानीको अध्यासका अभाव है ...	३५५
२१०.	मोक्षके उद्देशसे ज्ञानको कर्म एवं उपासनाकी अपेक्षा नहीं ...	३५६
२११.	केवल ज्ञान ही मोक्षका साधन है इसमें शास्त्रोंका प्रामाण्य ...	३५८
२१२.	कर्म एवं उपासना ज्ञानके साधन हैं, मोक्षके नहीं ...	३५९
२१३.	कर्मोपासना ज्ञान-रक्षाके लिये भी उपयुक्त नहीं ...	३६०
२१४.	ज्ञानीके पाप एवं चाञ्चल्यके अभावमें कर्मोपासना उपयुक्त नहीं ...	३६१
२१५.	जीवन्मुक्तानन्दमें ब्रह्माकारवृत्ति ही कारण है, इससे भी ज्ञानीको कर्मोपासनाकी अपेक्षा नहीं ...	३६२
२१६.	ज्ञानीको भी अन्तःकरण-चाञ्चल्यकी निवृत्तिके लिये कर्मोपासना अनुष्ठेय है' इस आक्षेपका समाधान ...	३६३
२१७.	मन्द बोधवान् एवं उत्तम जिज्ञासुकी भी कर्मादिमें प्रवृत्ति नहीं ...	३६४
२१८.	ज्ञानीके कर्म आभासरूप ही हैं ...	३६७
२१९.	मन्द बोधका कर्मोपासनासे विरोध ...	३६८
२२०.	उपदिष्टार्थसंग्रह—जीवका स्वरूप ...	३६९
२२१.	ज्ञानके साधन ...	३७०

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
२२२.	ज्ञानका स्वरूप	...	३७१
२२३.	अज्ञानी और ज्ञानीके लक्षण	...	३७२
२२४.	महावाक्यार्थज्ञान—त्रिविध लक्षणाका निरूपण	...	३७५
२२५.	शक्ति एवं लक्षणा नामक दो वृत्तियोंका वर्णन	...	३७५
२२६.	न्यायमतसे शक्ति-लक्षण	...	३७८
२२७.	शक्तिलक्षणविषयक आक्षेप-समाधान	...	३७९
२२८.	शक्तिविषयमें मतान्तर-खण्डन	...	३८१
२२९.	शक्तिविषयक वैयाकरणमत-खण्डन	...	३८१
२३०.	भट्टके मतसे शक्तिका लक्षण	...	३८३
२३१.	भट्टके भेदाभेदवादका तात्पर्य	...	३८५
२३२.	भेदाभेद-पक्षमें प्रमाण	...	३८६
२३३.	भेदाभेदात्मक तादात्म्य सम्बन्ध	...	३८७
२३४.	भट्टमत-खण्डन	...	३८९
२३५.	शक्यका लक्षण	...	३९६
२३६.	त्रिविध लक्षणाओंके लक्षण	...	३९७
२३७.	महावाक्योंमें लक्षणा	...	३९८
२३८.	महावाक्योंमें जहदजहल्लक्षणा असम्भव	...	४००
२३९.	महावाक्यमें भागत्याग लक्षणाका स्वीकार	...	४००
२४०.	जीव-ईश्वर-स्वरूप-वर्णनमें आभासवाद	...	४०१
२४१.	प्रतिबिम्बवाद	...	४०२
२४२.	आभास और प्रतिबिम्बवादमें भेद	...	४०२
२४३.	अवच्छेदवाद	...	४०३
२४४.	चारों महावाक्योंमें भागत्याग लक्षणाका प्रदर्शन	...	४०४
२४५.	'तत्त्वमसि' का सम्बन्धत्रयसे अखण्डार्थबोधकत्व	...	४०५
२४६.	महावाक्योंके अर्थबोधक श्लोक	...	४०६
२४७.	महावाक्योंका अवान्तर वैलक्षण्य	...	४०६

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
२४८.	पूर्वोक्तार्थसंग्रह	...	४०९
२४९.	'दोनों पदोंमें लक्षणा निष्फल है'—आक्षेप	...	४०९
२५०.	पूर्वोक्त आक्षेपका समाधान	...	४१०
२५१.	'ईश्वरवाचक पदमें ही लक्षणा है' यह पक्ष असंगत है	...	४११
२५२.	'जीववाचक पदमें ही लक्षणा है' यह पक्ष भी असंगत है	...	४१२
२५३.	दोनों पदोंमें लक्षणा और ओतप्रोतभाव	...	४१३
२५४.	स्वप्नग्रन्थकी समाप्ति	...	४१४
२५५.	शिष्यका प्रश्न और उसका उत्तर	...	४१५

सप्तम अंश

क्रम-संख्या	विषय		पृष्ठ-संख्या
२५६.	जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका वर्णन—ज्ञानियोंके व्यवहारमें नियम नहीं	...	४१७
२५७.	ज्ञानीका व्यवहार अनियमित है—इसपर आक्षेप	...	४१८
२५८.	ज्ञानीका व्यवहार और प्रारब्ध आदिका विचार	...	४१९
२५९.	पूर्वोक्त विषयमें आक्षेप-समाधान	...	४२०
२६०.	प्रतिबन्ध-स्वरूप-विचार	...	४२१
२६१.	ज्ञानीका व्यवहार निवृत्तिप्रधान ही होता है	...	४२२
२६२.	समाधिके अष्टाङ्ग	...	४२२
	(क) यम, नियम, आसन	...	४२२
	(ख) प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान	...	४२३
	(ग) समाधि	...	४२३
	(घ) सविकल्प एवं निर्विकल्प समाधि	...	४२४
	(ङ) निर्विकल्प समाधिके दो भेद	...	४२६

क्रम-संख्या | विषय | पृष्ठ-संख्या

२६३. समाधिके चार विघ्न ... ४२६

(क) लय ... ४२६

(ख) विक्षेप ... ४२७

(ग) कषाय ... ४२७

(घ) अन्तःकरणकी पाँच भूमिकाएँ ... ४२७

२६४. तत्त्वदृष्टिका देशकालादिसे अनपेक्ष देहपात ... ४२८

२६५. अदृष्टिका देशकालादिकी अपेक्षासे देहपात ... ४२९

२६६. तर्कदृष्टिका निश्चय ... ४२९

२६७. अभेद-तात्पर्य ... ४३०

अनन्तश्रीविभूषित

गुरुदेव श्रीकरपात्रीजी महाराज

के चरणोंमें

समर्पण

श्रीगणेशाय नमः

शरणं तरुणेन्दुशेखरः शरणं मे गिरिराजकन्यका ।
शरणं पुनरेव तावुभौ शरणं नान्यमुपैमि दैवतम् ॥

वेदान्त-तत्त्व-विचार

प्रथम अंश

ब्रह्मनिर्देशरूपमङ्गलाचरणम्

(१) जीवब्रह्मैक्यरूपमङ्गलम्

सुखं नित्यं स्वप्रकाशं व्यापकं नामरूपयोः ।
अधिष्ठानं बुद्ध्यबोध्यं बुद्धेर्द्रग्यत्तु निर्मलम् ॥
अपारं सर्ववेदान्तवेद्यं प्रत्यक् परं महः ।
तदेवाहं न मत्तोऽन्यदिति मे निश्चिता मतिः ॥

'तदेवाहम्' इस महावाक्यके अर्थसे यह निश्चित होता है कि प्रत्यगभिन्न परमात्मा ही स्वस्वरूप है। उसीका यह विशेषण है— 'तत् प्रत्यक् परं महः (ब्रह्म)' वह प्रत्यक् पर महः ही ब्रह्म है। पुनः वह कैसा है ? 'सुखं नित्यं स्वप्रकाशं व्यापकं नामरूपयोरधिष्ठानम्' सुख-स्वरूप, नित्य, स्वयंप्रकाश, व्यापक और समस्त नामरूपका अधिष्ठान है। एवं 'बुद्ध्यबोध्यं बुद्धेर्दृक्'—'बुद्ध्यबोध्यम्' का अर्थ है कि बुद्धि ब्रह्मको नहीं जानती है अर्थात् ब्रह्मको नहीं प्रकाश करती है; क्योंकि श्रुति कहती है कि **"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा"** (क० उ० २ । ३ । १२) **"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"** (तै० ४ । ९) **"न तत्र सूर्यो भाति"** (क० २ । २ । १५) इत्यादि। किन्तु 'बुद्धेर्दृक्' सर्वसाक्षी है यानी ब्रह्म ही बुद्धिको प्रकाशित

करता—बोधशक्ति देता है। **"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्"** (क० १।५) **"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"** (क० २।२।१५) इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। यहाँ यह विशेषरूपसे जानना चाहिये कि बुद्धि शब्दकी शक्तिवृत्तिसे ब्रह्मको नहीं जानती, किन्तु लक्षणा-वृत्तिसे जानती है। मल-विक्षेपादि दोषयुक्त बुद्धि तो ब्रह्मको स्पर्श करती ही नहीं। किन्तु उपर्युक्त दोषोंसे रहित बुद्धि ब्रह्मदर्शनमें कारण होती है। इस विषयमें यह गीताभाष्य-वचन भी है—**शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने कारणम्'** यह बुद्धि भी फलव्याप्तिसे ब्रह्मको नहीं जानती, किन्तु वृत्तिव्याप्तिसे ही ब्रह्म-बोधनमें सहायक होती है। जैसे दीप अपने प्रकाशसे स्व-सम्बन्धित समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है, वैसा प्रकाश तो बुद्धि नहीं करती, किन्तु अन्धकारमें घटादिसे आवृत रत्न प्रदीपद्वारा आवरण दूर होनेपर जैसे स्वयं प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार **"अहं ब्रह्मास्मि"** इस प्रमाणजन्य प्रमारूप वृत्तिसे ब्रह्मका आवरण दूर होनेपर बुद्ध्यादि साधनान्तरनिरपेक्ष ही स्वसम्बद्ध सर्वावभासकत्व-रूप स्वयंज्योति स्वरूपसे ब्रह्म प्रकाशित होने लगता है। यही ब्रह्मका स्वप्रकाशकत्व है।

[स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥
बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥ इत्यादि]

(पञ्चदशी)

पुनः वह ब्रह्म कैसा है ? निर्मलम्—शुद्ध, अपारम्—देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है।

(२) इसके आगे प्रत्येक विशेषणके प्रयोजनका वर्णन किया जाता है—

(१) सुखं नित्यम्—सुखका विशेषण नित्य नहीं दिया जाय तो वैषयिक सुख तथा नैयायिकोंके अभिमत आत्माके गुण आनन्दमें अतिव्याप्ति होने लगेगी। नित्य विशेषणसे अनित्यका बाध होकर, नित्य सुखका ज्ञान होता है।

(२) नित्यं स्वप्रकाशम्—केवल नित्य कहें तो न्यायमतोक्त काल एवं आकाशादि नित्य पदार्थोंमें अतिव्याप्ति होगी। उसका वारण करनेके लिये स्वप्रकाश कहा गया है। न्यायमतमें आकाशादि नित्य होनेपर जड होनेसे उनमें प्रकाशकत्व नहीं है।

(३) स्वप्रकाशका विशेषण है, 'व्यापकम्'। यदि केवल स्वप्रकाश कहें तो सूर्यादि ज्योति एवं न्यायमतसिद्ध आत्माके गुण ज्ञान, तथा क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धोंके अभिमत आत्मामें अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्तिके वारणके लिये 'स्वप्रकाशं व्यापकम्' विशेषण कहा गया है। क्योंकि उन लोगोंके आत्मगुण परिच्छिन्न हैं।

(४) "व्यापकं नामरूपयोरधिष्ठानम्"—व्यापकका विशेषण है, 'नामरूपयोरधिष्ठानम्"। केवलमात्र व्यापक होनेसे नैयायिक-प्रभाकर-के अभिमत आकाशादि तथा सांख्यप्रसिद्ध प्रकृतिमें अतिव्याप्ति होती है। अतः उसके वारणके लिये 'नामरूपयोरधिष्ठानम्' यह विशेषण कहा गया है। पूर्वोक्त वादीके मतसे आकाशादिको व्यापक स्वीकार करनेपर भी नाम-रूपका अधिष्ठान नहीं हो सकता है।

(५) 'नामरूपयोरधिष्ठानम्' का विशेषण है 'स्वप्रकाशम्'। (बुद्ध्यबोध्यं बुद्धेर्दृक्)—नामरूपका अधिष्ठानमात्र कहनेपर प्राति-भासिक सर्पादि नामरूपके अधिष्ठान रज्ज्वादिमें अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्तिके वारणके लिये 'बुद्ध्यबोध्यं बुद्धेर्दृक्' यह विशेषण

कहा गया है। रज्ज्वादिके जड होनेसे अतिव्याप्तिका वारण हो जाता है। यह परिष्कार मन्दमतियोंके उद्देश्यसे है। वस्तुतः वेदान्तियोंके मतमें रज्ज्वादि समस्त कल्पनाओंके अधिष्ठान तत्तदुपहित चैतन्य ही है। अतः 'नामरूपयोरधिष्ठानम्' इतना भी लक्षण ठीक ही है।

(६) 'बुद्ध्यबोध्यम्' का विशेषण है 'निर्मलम्'। बुद्ध्यबोध्यम्—स्वप्रकाशमात्र कहनेसे किन्हीं उपासकोंके मतमें आत्मामें ही अतिव्याप्ति होगी, उसके वारणके लिये 'निर्मलम्' यह विशेषण है। उपासकोंके मतमें आत्मा स्वप्रकाश होनेपर भी अविद्यादियुक्त ही स्वीकार है; अतः अतिव्याप्ति नहीं होती।

(७) 'निर्मलम्' का विशेषण है 'अपारम्'। केवल निर्मलमात्र विशेषण रहनेपर सांख्यवादियोंके अभिमत आत्मामें अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणके लिने 'अपारम्' कहा गया है। उनके मतमें आत्मा देश-कालसे अपरिच्छिन्न होनेपर भी वस्तुपरिच्छिन्न ही है। वस्तुपरिच्छिन्नताके भी अभावमें अतिव्याप्ति नहीं होती है।

(३) **अनेक विशेषणोंका प्रयोजन—**

यह कि दो-दो विशेषण—अर्थात् "सुखं, नित्यं" 'नित्यं, स्वप्रकाशं" इत्यादिसे अनेक अतिव्याप्ति निरासपूर्वक जिज्ञासुको विस्पष्ट रुचि उत्पन्न होकर ब्रह्मज्ञान हो जाय। पूर्वोक्त अखिल लक्षणोंसे लक्षित **'चिन्मात्रब्रह्मैवाहं'** 'चिन्मात्रब्रह्म ही 'मैं' हूँ'। यही मङ्गलश्लोकका अर्थ है।

स्वप्रत्यगात्मविषयक मङ्गलाचरणके विषयमें आक्षेप और समाधान—

(१) **आक्षेप—**

हरिहरादि उपास्यदेवोंके सद्भावमें तत्-स्मरणात्मक मङ्गलाचरणको छोड़कर स्वात्मस्मरणरूप मङ्गलाचरण करना क्या योग्य है?

समाधान—अखण्डचित्स्वरूप आत्मसमुद्रमें हरि-हर-ब्रह्मा-सूर्य-इन्द्रादि उपलक्षित सभी देवगण तरंगके समान हैं। अतः सर्वप्रपञ्चाधिष्ठान जगत्कारणस्वरूप आत्माके स्मरणसे कार्यरूप सर्व देवगणोंका स्मरण हो जाता है। अतः स्वविषयक मङ्गलाचरण युक्त ही है।

(२) **आक्षेप—**

मायायुक्त चैतन्यात्मक ईश्वर समुद्रके तरंग हरिहरादिदेव हैं, न कि स्वआत्माके। अतः ईश्वरविषयक मङ्गलाचरण करना चाहिये। और भी बात है, वृक्षके मूलसेचनसे समस्त शाखा-स्कन्ध तृप्त होते हैं तथा अन्नपानादिजनित प्राणकी तृप्तिसे सकल इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं उसी प्रकार ईश्वरविषयक मङ्गलाचरणसे ईश्वरके समस्त विभूतिस्वरूप देवगण तृप्त होते हैं। अपने आत्माके मङ्गलाचरणसे नहीं तृप्त हो सकते।

समाधान—योगियोंके हृदयमें चिन्त्यमान सर्वज्ञ कृपालु ईश्वर भी मायोपाधिवशसे मुझ अखण्ड चिन्मात्रमें स्वप्न, इन्द्रजाल, मायामरीचिका-उदक, गन्धर्व-नगर और रज्जुसर्पादिके समान मिथ्या आरोपित ही तो है। यथा—

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ (कै० १९)
आत्मैव इदं सर्वम्। (छा० ७। २५। १)
अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमिदं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि॥
(कै० २०)

स्वपूर्णात्मातिरेकेण जगज्जीवेश्वरादयः ।
न सन्ति नास्ति माया च तेभ्यश्चाहं विलक्षणः ॥
सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्घनोऽस्म्यहम् ।
रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम् ।
संहारे रुद्र इत्येवं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । (के० १।४।८)
योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति
न स वेद यथा पशुः । (बृ १।४।१०)
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद ॥ (बृ० २।४।६)
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणया सेशं मया कल्पितम् ।
स्वस्मिन्नेव स्वप्नवदीशानत्वादिसर्वकल्पनया ।
जीवः सर्वविकारोपादानमिति ब्रुवत्यन्ये ॥

इत्यादि सैकड़ों वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि आत्मामें समस्त जगत् कल्पित है।

जिसमें जो कल्पित होता है वह अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होता—इस न्यायसे मुझ अखण्ड चिदात्मामें अध्यस्त ईश्वरादि देवका भी मुझ आत्माके अनुसन्धानसे ही स्मरणरूप मङ्गलाचरण सिद्ध हो गया है।

(३) आक्षेप—

शुद्ध ब्रह्ममें ईश्वरादि देवकी कल्पना है, परिच्छिन्न तुममें नहीं हो सकती है। अतः निर्गुण ब्रह्मके स्मरणसे इतर सब देवोंका स्मरणरूप मङ्गल होता है, परिच्छिन्न 'त्वं'के स्मरणसे नहीं हो सकता।

समाधान—जैसे अधिष्ठानभूत रज्जुके अज्ञानसे सर्पादि भ्रम होता है, अधिष्ठानके याथात्म्य ज्ञानसे भ्रम निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार समस्त जगत्के अधिष्ठान प्रत्यग् एकरस ब्रह्मके

अज्ञानसे जगत् प्रतीत होता है, उस प्रत्यग् ब्रह्मके अपरोक्ष होनेसे निःशेष भ्रम निवृत्त हो जाता है। वह ब्रह्म प्रत्यग्रूप मैं ही हूँ।

अयमात्मा हि ब्रह्मैव सर्वात्मकतयास्थितः ।
इति निर्धारितं श्रुत्या बृहदारण्यसंस्थया ॥
यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते ॥
"तत्त्वमसि" "त्वं तदसि"
यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यं तत् त्वमेव त्वमेव तत् ॥
एकमाद्यन्तरहितं चिन्मात्रममलं ततम् ।
खादप्यतितरां सूक्ष्मं तद् ब्रह्मासि न संशयः ॥
तदेत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्
सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा ।
स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात् । आत्मानमेव प्रियमुपासीत ।
(बृ० १।४।८)
आत्मा ह्येषां स भवति । (बृ० १।४।१०)
यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः ।
(बृ० ३।४।१)

इत्यादि श्रुतियोंसे एवं "आत्मानमेव" इसमें 'एव' इस निर्धारणसे प्रत्यगेकरस चिन्मात्र ब्रह्म और मुझमें अंश-अंशित्व, विकार-विकारित्व और उपास्य-उपासकत्वादि द्वैतसम्बन्धी कोई भेद नहीं है। यह सुतरां सिद्ध हो जाता है। तथा कारणाधीन कार्य एवं प्रकाशाधीन प्रकाश्य और अधिष्ठानाधीन आरोप्य यह त्रिविध पारतन्त्र्य भी मुझमें सम्भव नहीं है। इसीलिये चिन्मात्र प्रत्यग्रूप एकरस 'मुझ' आत्माका स्मरण ही शुद्ध ब्रह्मविषयक मङ्गल होता है।

(४) आक्षेप—

गुरु-परम्पराप्राप्त सगुण इष्टदेव रामकृष्णादिका नमस्कारात्मक मङ्गल करना युक्त था, न कि आत्मनमस्कार करना।

समाधान—चित्तशुद्धिपूर्वक जिस स्वरूप-परिज्ञानके लिये साधक निष्काम कर्म, चित्तैकाग्र्यसे उपासना और यमादि अष्टाङ्ग योगका आचरण करते हैं, उस प्रत्यगेकरस चिन्मात्र अखण्ड ब्रह्म स्वरूप मुझ (आत्मा) से अन्य कौन-सी वस्तु है जिसका नमस्कार किया जाय। स्वस्वरूपसे भिन्न अणुमात्र भी द्वैत सम्भव नहीं है। एक अखण्ड अद्वैतमें भेदघटित त्रिपुटीका विषयभूत नमस्कारादि व्यवहार ही सम्भव नहीं हो सकता है।

ग्रन्थारम्भ

वेदान्त-सिद्धान्तरूप नीरसे पूर्ण यह ग्रन्थ है। तीव्र श्रद्धा-भक्ति-साधनचतुष्टयसम्पन्न साधक ही गुरुमुखसे श्रवण कर मनन-निदिध्यासनद्वारा स्वस्वरूपापरोक्ष्य साक्षात् करके अविद्यादि अखिल अनर्थसे निवृत्त होकर केवल अद्वितीय चिन्मात्ररूप परमानन्द प्राप्त करता है।

अनेक प्रकारके प्राचीन सूत्रभाष्य वार्तिकादि ग्रन्थोंके रहते हुए यह नया ग्रन्थ आरम्भ करनेका क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यह है कि उनका अधिकारी अत्यन्त प्रौढ़ शास्त्रज्ञ उत्तम व्यक्ति है, मन्द अधिकारियोंके लिये यह ग्रन्थ रचा जा रहा है।

साधनचतुष्टयका निरूपण

अनुबन्ध-चतुष्टय—अधिकारी, विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध—इनका नाम अनुबन्ध है।

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते॥

इन वचनोंसे जबतक प्रयोजनादिका ज्ञान नहीं होगा, तबतक प्राणीकी किसी शास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अधिकारीका लक्षण

मल विक्षेप जाके नहीं, किन्तु एक अज्ञान।
है चव साधनसहित नर, सो अधिकृत मतिमान॥

स्वभावतः मनुष्यमात्रके अन्तःकरणमें मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन दोष रहते हैं। निष्काम वर्णाश्रम कर्मोंके

अनुष्ठानसे मलकी निवृत्ति तथा उपासनासे विक्षेपकी निवृत्ति होती है। निष्काम कर्म और उपासनासे मल, विक्षेप निवृत्त होनेपर भी स्वस्वरूपावरक अज्ञाननिवृत्तिके लिये जो साधक साधन-चतुष्टयसम्पन्न है वही इस वेदान्त शास्त्रका अधिकारी होता है।

[मल नाम पापका है। वह पापका संस्कार अति सूक्ष्मरूप होनेसे प्रत्यक्ष दिखायी नहीं पड़ता, परन्तु निषिद्ध कर्माचरणसे विषयासक्तिद्वारा चित्तगत अशुभ वासनाका अनुमान होता है।

विक्षेप नाम चित्तकी चञ्चलताका है। जिसका चित्त वेदान्त-श्रवणमें या स्वरूपानुसंधानमें स्थिर नहीं होता, उसकी निवृत्तिके लिये ईश्वर-नामोच्चारण, अजपामन्त्र, ध्यान, निर्गुण ब्रह्मानुसं-धानादि उपाय अनुष्ठेय हैं। उपासनासे चित्तकी एकाग्रता होती है।

अथवा शरीर, वाणी, मनसे तथा पुष्कल धनसे ईश्वर ही हमारे अनन्तकोटि जन्मोंके अर्जित पुण्यसे गुरुरूपमें अवतीर्ण हैं, इस भावनासे गुरुसेवा करनेपर कर्मोपासनादि कलापके विना ही चित्तशुद्धिद्वारा चित्तैकाग्रता उत्पन्न हो जाती है।

अथवा अहर्निश वेदान्त-श्रवणसे भी चित्तशुद्धि होती है यह श्रुति-स्मृतिकी बात है। "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" "दिने दिने च वेदान्तश्रवणात् आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया।"

यह वेदान्त-श्रवण स्वातन्त्र्येण चित्तैकाग्रता उत्पन्न करता है।

इस प्रकार मल-विक्षेपादिरहित साधनचतुष्टयसम्पन्न ही वेदान्तका अधिकारी होता है। जैसे राजसूययज्ञका अधिकारी क्षत्रिय एवं स्तोमका वैश्य ही अधिकारी है उसी प्रकार उक्त साधन-चतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति ही वेदान्तका अधिकारी होता है, दूसरा नहीं।]

साधनचतुष्टय

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक, (२) इहामुत्रफलभोगविराग (३) शमदमादि षट् सम्पत् (४) मुमुक्षुत्व।

(१) विवेक—

नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावत्—चिन्मात्र आत्मा नित्यः (सत्यः) नाशाप्रतियोगी, क्रियाशून्यः।

तद्विलक्षणोऽनात्मा तु दृश्यः प्रपञ्चो नाशप्रतियोगी अनित्यः (असत्यः) क्रियासहितश्च—इस प्रकारके विवेचनका ही नाम विवेक है।

अविनासी आतम अचल, जग तातैं प्रतिकूल।
ऐसो ज्ञान विवेक है, सब साधनको मूल॥

अन्य तीन साधनोंका हेतु भी यह विवेक ही है। विवेक होनेपर ही वैराग्यादि तीन साधन हो सकेंगे। 'निमित्ताभावे नैमित्तिकाभावात्'। अतः प्रथम विवेक अवश्य सम्पादन करना चाहिये।

[अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप प्रत्यगात्माको मैं नहीं जानता हूँ, इस प्रकार व्यवहारका जो हेतु है, उसका ही नाम अज्ञान है। यह अज्ञान तादृश तत्त्वज्ञान अर्थात् अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप प्रत्यगात्माके ज्ञानसे नष्ट होगा।]

(२) वैराग्य—

ब्रह्मलोक लौं भोग जो, चहै सबनको त्याग।
वेद अर्थ ज्ञाता मुनी, कहत ताहि वैराग॥

ब्रह्मलोकपर्यन्त भोगोंमें दोष-दृष्टिसे अनादरपूर्वक उपेक्षा करना ही वैराग्य है। वेदपारदर्शी ऐसा कहते हैं।

[यह अनेक प्रकारका है :—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार।

यतमान यानी मन्द वैराग्य, व्यतिरेक यानी सत्संगसे दुर्गुण परिहार कर सद्गुण सम्पादन करनेका उत्साह प्राप्त करना।

एकेन्द्रिय यानी विषयोंसे इन्द्रियोंका निग्रह। वशीकार यानी सर्वतो मनोनिग्रह करना। उसमें भी मन्द, तीव्र और तीव्रतर तीन-तीन प्रकार हैं। अतः मुमुक्षुको अति प्रयत्नसे तीव्रतर वैराग्य सम्पादन करना चाहिये।]

(३) शमादि षट्सम्पत्ति—

शम, दम, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा—इनका नाम शमादि षट् सम्पत्ति है।

मन विषयनतैं रोकनों, सम तिहिं कहत सुधीर।
इन्द्रियगनको रोकनो, दम भाखत बुधवीर॥

शम—प्राचीन विषय-वासना-त्यागपूर्वक विषयोंसे मनको लौटानेका नाम है शम।

दम—उसी प्रकार विषयोंसे बाह्य इन्द्रियोंकी निवृत्ति दम है।

श्रद्धा—गुरु और वेदान्त-वाक्यमें दृढतर विश्वास, आस्तिक्य-वृद्धि श्रद्धा है।

समाधान—ब्रह्मस्वरूप लक्ष्यमें एकाग्रता समाधान है।

सत्य वेद गुरु वाक्य हैं, श्रद्धा अस विस्वास।
समाधान ताकूं कहत, मन बिछेपको नास॥

उपरति—इस लोक एवं परलोकके भोगके हेतु लौकिक और वैदिक साधनसहित समस्त कर्मोंका त्याग, तथा स्रक्-चन्दनादि विषयों, विशेषकर स्त्रियोंके हलाहल विषके समान त्यागका नाम उपरति है।

तितिक्षा—शीतोष्ण, क्षुत्पिपासादि द्वन्द्वको सहन करनेका नाम तितिक्षा है।

साधनसहित कर्म सब त्यागै।
लखि विष सम विषयनतैं भागै॥
दृग नारी लखि ह्वै जिय ग्लाना।
यह लच्छन उपराम बखाना॥
आतप, सीत, छुधा, तृषा, इनको सहन स्वभाव।
ताहि तितिच्छा कहत हैं, कोविद मुनिवर राव॥

[(१) विषयोंमें दोष-दृष्टिरूप अङ्कुशसे मनरूप मतवाले हाथीको स्वाधीन करनेका नाम शम है।

(२) दोष-दृष्टिपूर्वक शास्त्र-चिन्तनरूप कशा (कोड़ा)से शब्दादि विषयस्वरूप विषम मार्गसे इन्द्रियरूप घोड़ोंको अपने अधीन करनेका नाम दम है।

(३) जिसको आचार्य और वेद-वाक्योंमें पूज्यबुद्धि होनेसे प्रेमातिशयरूप निरतिशय भक्ति उत्पन्न होती है, उसीको वेद, शास्त्र और आचार्यमें श्रद्धा होती है। दूसरेको श्रद्धा नहीं होती।

(४) लक्ष्य-ब्रह्म-चित्तैकाग्रता—उसका स्वभाव यह है कि सगुण ब्रह्म-ध्यानसे या मूर्तोपासनासे चित्तैकाग्रता होती है। उसके अनन्तर निर्गुण ब्रह्ममें अनवरत स्थिति होती है।

विषयत्याग करनेपर भी किसी प्रकार पुनः प्राप्त होनेपर पूर्वानुभवजन्य वासनासे पुनः इच्छा नहीं होना—यह वैराग्यकी फलीभूता अवस्था है। तथा अप्राप्त विषयोंमें दोषदृष्टिसे इच्छा नहीं होना—यही उपरति और वैराग्यमें भेद है।

प्रश्न—पत्नी, पुत्र, वित्त, वय, अवस्था, जाति आदि सब कर्मके साधन हैं। विषय-ग्रहणमें स्त्री-रूप विषयका ग्रहण हो जाता है, पुनः पृथक् स्त्री ग्रहण यह पुनरुक्ति दोष होगा।

उत्तर—अतीत अनन्त कोटि जन्मार्जित भोगवासना तीव्रतर होनेसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मैथुनात्मक सब इन्द्रियोंका विषय एक स्त्रीपिण्डमें सम्भव हो सकता है। सकल विषयोंसे संसार-रूप समुद्रमें डुबानेवाली एक स्त्री ही है। अतः प्रबलतर वासनाके कारण स्त्री-विषयसे विशेष वैराग्य करना चाहिये। इसीलिये "लखि विष सम" कहकर पुनः "दृग नारी लखि" यह कहा है।

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत् त्यक्तं जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

वेदान्त-श्रवणादिके प्रसंगमें उनका प्रतिबन्धक शीत-उष्ण, क्षुत्पिपासादि द्वन्द्व ही अन्तराय है। इनका सहनरूप तितिक्षा अवश्य करना चाहिये।]

शमादि षट् साधनोंको एक मानकर विवेकादि चार ही कहा गया है, नहीं कि नव साधन।

समादि षट् सम्पत्तिको, भाखत साधन एक।
इमि नव नहिं साधन भनैं, किंतु च्यारि सविवेक॥

[शम-दमादि आपसमें एक दूसरेके सहायक होनेसे एक माने गये हैं।

मन वशमें हुए विना इन्द्रियजय नहीं हो सकता। अतः दम शमकी अपेक्षा रखता है।

स्त्री, पुत्र, वित्त आदिमें आसक्त पुरुषकी बहिर्मुख मनसे वेदान्त-शास्त्र, गुरु आदिमें श्रद्धा नहीं हो सकती। अतः श्रद्धा भी शमकी अपेक्षा रखती है।

मन-निरोध विना ब्रह्ममें चित्तैकाग्रता सम्भव नहीं है। अतः समाधान भी शमकी अपेक्षा रखता है।

जैसे क्षीरपालित मार्जार मूषकको देखनेमात्रसे ग्रहण करने

दौड़ता है, इसी प्रकार विषयोंसे उपरत निरोधसे वशीकृत मन भी प्राचीन वासनासे वासित वेगसे विषयकी तरफ दौड़ने लगता है। अतः उपरति भी शमकी अपेक्षा रखती है।

अन्तर्मुख मनसे ही शीत-उष्णादि द्वन्द्व सहन करनेमें समर्थ होता है, बहिर्मुख मनसे नहीं। अतः तितिक्षा भी शमकी अपेक्षा रखती है।

इस प्रकार शम दमादि पाँचोंका सहकारी होता है। इन्द्रिय-संयमके विना मनपर विजय नहीं होता। अतः शम भी दमकी अपेक्षा रखता है।

रूप-रसादि विषयासक्त जीवको गुरु, वेदान्तमें श्रद्धा नहीं हो सकती। अतः श्रद्धा भी दमकी अपेक्षा रखती है।

इन्द्रियनिग्रहके विना चित्त-एकाग्रता नहीं होती। अतः समाधान भी दमकी अपेक्षा रखता है।

इन्द्रिय-दमनके विना दृष्टेष्ट विषयमें बार-बार इच्छा उत्पन्न होती ही रहेगी। अतः उपरति भी दमकी अपेक्षा रखती है।

इन्द्रियसंयमके विना विषयसान्निध्यसे क्षुभित मनसे द्वन्द्व-सहिष्णुता भी नहीं हो सकती। अतः तितिक्षा भी दमकी आकांक्षा रखती है।

भाव यह है कि दम भी शमादि पाँचोंका सहकारी है।

गुरु और वेदान्तमें तीव्रतर श्रद्धाके अभावमें श्रवणादि तथा श्रवणादिमें उपयोगी शमादि साधनमें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः शम-दमादि भी श्रद्धाकी अपेक्षा रखते हैं।

चित्तैकाग्रताके विना शमादि साधनको सिद्धि नहीं होगी। अतः शमादि समाधानकी अपेक्षा रखते हैं।

विषयोंसे अनुपरत चित्तको भी शमादि नहीं हो सकते। अतः उपरतिकी भी अपेक्षा है।

१६ : वेदान्त-तत्त्व-विचार

शीतोष्ण, क्षुत्पिपासा, लाभालाभादि विचित्र विषयोंका अनुभव-जनित तापत्रय यदि सहन नहीं होगा तो मनका शम, इन्द्रियोंमें दम, गुरु-वेदान्त-वाक्यमें श्रद्धा, चित्तैकाग्रय और प्राप्तोपभोग योग्य धनादि विषयोंसे उपरति—यह सब साधन नहीं बन सकते। अतः शमादि तितिक्षाकी भी अपेक्षा रखते हैं।

इस प्रकार परस्पर सापेक्ष होनेसे शमादि छओंको मिलाकर एक साधन माना गया है।]

(४) मुमुक्षा—स्वस्वरूपभूत ब्रह्मात्मैकत्वप्राप्ति एवं आत्यन्तिक सर्वानर्थनिवृत्तिकी तीव्रतर इच्छाका ही नाम मुमुक्षा है।

ब्रह्मप्राप्ति अरु बंधकी, हानि मोक्षको रूप।
ताकी चाह मुमुच्छुता, भाखत मुनिवरभूप॥

विवेकादि चार एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्, त्वम् पदार्थका शोधन—ये आठ ज्ञानके साधन माने जाते हैं।

ज्ञानोत्पत्तिके साधनोंमें अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधन भी माने जाते हैं। उपर्युक्त विवेकादि आठ अन्तरङ्ग और यज्ञयागादि बहिरङ्ग कहे गये हैं।

इन दोमें यज्ञादि बहिरङ्ग त्यागकर जिज्ञासुको अन्तरङ्गको ही अपनाना चाहिये।

जिसका श्रवणमें अथवा तत्कार्य ज्ञानमें प्रत्यक्ष फल देखा जाय, उसका नाम अन्तरङ्ग है। विवेकादि चार तो श्रवणके मुख्य साधन हैं, क्योंकि बहिर्मुख (विषयासक्त)को विवेकादिके बिना श्रवणादि हो नहीं सकते।

एवं श्रवण-मनन आदि ब्रह्मसाक्षात्कारमें मुख्य साधन हैं। इनके बिना ब्रह्मसाक्षात्कार हो नहीं सकता। तथा तत्त्वम् पदार्थका ज्ञान भी अखण्ड एकरस अभेद ज्ञानमें मुख्योपयोगी है। इस प्रकार विवेकादि चार श्रवणादिमें उपयोगी हैं। और श्रवणादि अपरोक्ष

ज्ञानमें एवं तत्त्वम्-पदार्थ-ज्ञान-अखण्ड महावाक्यार्थ-ज्ञानमें—यों क्रमसे चारोंका उपयोग है। अतः ये आठ अन्तरङ्ग साधन माने जाते हैं।

विवेकादिका अन्तरङ्गत्व-कथन—ज्ञानाधिकारियोंमें विवेकादि अवश्य सम्भव होनेसे अन्तरङ्ग कहे जाते हैं। यहाँ यह विशेषता है कि, विवेकादि चारका श्रवणादिमें उपयोग होता है और श्रवणादिका ज्ञानमें; अतः विवेकादिकी अपेक्षा श्रवणादि अन्तरङ्ग हैं। यद्यपि वेदान्तमें सब जगह ज्ञानके अन्तरङ्ग विवेकादि कहे गये हैं। जैसे "तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च न विपर्यये।" इत्यादि। तथापि अन्तरङ्ग साधन-भूत श्रवणादिका ही प्रत्यक्ष फल ज्ञान है। फिर भी मुमुक्षुको श्रवणादिवत् विवेकादिका भी अवश्य आदर करना चाहिये।

[ऊपर कहा गया है कि तीव्रतर इच्छा ही मुमुक्षुत्व है।

तीव्रतर—जैसे भूखा व्यक्ति अन्य चिन्ता छोड़कर केवल अन्नपान-सम्पादनमात्रमें ही लगता है तथा अग्निसे जलता व्यक्ति शान्त्यर्थ जलाशयका ही अन्वेषण करता है इसी प्रकार संसाररूप तापत्रयसे पीड़ित व्यक्तिकी अन्य चिन्ता छोड़कर संसारतापत्रयसे छूटनेकी इच्छा ही तीव्रतर इच्छा है।

तत्त्वम्-पदार्थ-शोधनका तात्पर्य यह है कि जैसे हंस नीर-क्षीरका विवेचन करता है तथा जैसे दधिसे नवनीत पृथक् किया जाता है; वैसे ही चिज्जडसे उपलब्ध कार्यकारणरूप शरीरमें अधिष्ठान एवं आरोपका, दृक् तथा दृश्यका और साक्ष्य एवं साक्षीका शास्त्रानुसार विचार ही तत्त्वम्-पदार्थशोधन कहलाता है।

ज्ञानमें मुख्य अन्तरङ्गादि साधन श्रवणादिको कहा गया है—

[इसका भाव यह है कि नित्य-नैमित्तिक यज्ञादि श्रौत एवं स्मार्त कर्म तथा सगुणोपासना मल-विक्षेपादि दोषोंको दूर कर चित्तशुद्धि

सम्पन्न करके जिज्ञासा-उत्पत्तिद्वारा ज्ञानमें दूरसे उपकारक हैं। इसलिये इन यज्ञादिको बहिरङ्ग और विवेकादि आठको अन्तरङ्ग कहा गया है। इसी प्रकार श्रवणादिकी अपेक्षा विवेकादिको बहिरङ्ग कहा गया है। किन्तु नित्य-नैमित्तिक वर्णाश्रमानुष्ठानके विना मल-विक्षेपका नाश नहीं होता एवं मल-विक्षेप दूर हुए विना जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती। उसी प्रकार विवेकादि साधनचतुष्टय-रहित बहिर्मुख मनुष्यको दीर्घकाल निरन्तर अन्तरायरहित श्रवणादि भी नहीं होता है। अतः श्रवणादिके अङ्गभूत विवेकादि साधनचतुष्टयको सम्पादन करना चाहिये। लोकमें देखा जाता है कि जो शास्त्रज्ञ एवं विवेकयुक्त हैं वे भी अत्यन्त विषयासक्त होकर काम्य कर्ममें प्रवृत्त रहते हैं। अतः वैराग्य और समाधिसे सम्पन्न मुमुक्षुको ही निर्विघ्न श्रवणादिके द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होता है।]

श्रवणके लक्षण

वस्तुतः विचार करनेपर श्रवणादि भी ज्ञानके अन्तरङ्ग साधन नहीं हैं। अन्तरङ्ग तो तत्त्वमस्यादि महावाक्य ही हैं। "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इत्यादि श्रुतिसे यह निश्चय होता है कि षड्विध तात्पर्य लिङ्गोंसे वेदान्त-वाक्योंका अद्वितीय प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें ही तात्पर्य है। इस प्रकार निर्णयानुकूल चित्तवृत्ति विशेषका नाम श्रवण है।

[उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

जैसे "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" से इस प्रकरणके आरम्भमें जो तत्त्व बताया गया है उसीका "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इससे उपसंहार किया गया है। इस उपक्रम और उपसंहारसे एकरूपता दर्शायी है।

जैसे कोई अर्थी पुरुष अपने अभिलषित पदार्थको भिन्न-भिन्न वाक्योंसे बार-बार प्रकट करता है, वैसे ही भिन्न-भिन्न युक्तियोंसे प्रत्यग् ब्रह्मैक्यको 'तत्त्वमसि "इस प्रकार नौ बार कथन करना—अभ्यास कहा गया है।

अद्वितीय प्रत्यगभिन्न ब्रह्म वेदान्तेतर प्रमाणोंसे अगम्य है और स्वप्रकाश होनेसे नित्य अपरोक्ष भी है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'—मतलब यह कि गुरु-वेदान्त-वाक्यमें श्रद्धामात्रसे वह समधिगम्य है। यह अपूर्वता दिखायी।

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" इससे कार्य-कारणसंघातसे पृथक् कहकर "' ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" यह अद्वैत ब्रह्मभावापत्तिरूप फल चतुर्थ लिङ्ग कहा गया।

"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि सृष्टिवाक्योंसे भेदनिन्दापूर्वक अभेदकी स्तुतिरूप 'अर्थवाद' कहा गया।

प्रतिपादन किया जानेवाला अद्वैतके अनुकूल दृष्टान्तका प्रदर्शन ही उपपत्ति कहलाता है।

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" "यथा सोम्यैकेन लोहमणिना" "सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन" "एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः"।

इत्यादि वचनोंसे कारण सद्रूपसे भिन्न कार्य नहीं है, यह दृश्य मायामात्र है। मृल्लोह आदि दृष्टान्तसे सकल जगत् प्रत्यक् चेतन ब्रह्म ही है यह उपपत्तिरूप षष्ठ लिङ्ग कहा गया।

इस प्रकार उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिङ्गोंसे समस्त वेदान्त-

वाक्योंका अद्वैत प्रत्यगात्मामें ही तात्पर्य है इस निर्णयानुकूल चित्त-वृत्तिका नाम श्रवण है।]

मननका लक्षण

प्रत्यगात्म और ब्रह्ममें ऐक्यसाधक युक्तियों और भेद-बाधक युक्तियोंसे निरन्तर अद्वितीय ब्रह्मात्मैकत्वका अनुसंधान करना मनन है।

ऐक्यसाधक युक्तियाँ

(१) 'यत् सच्चिदानन्दस्वरूपं न तद् ब्रह्मणो भिद्यते यत् सच्चिदानन्दस्वरूपं न भवति तद् ब्रह्मणो भिद्यते।'

जो सच्चिदानन्द स्वरूप है वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है तथा जो सच्चिदानन्द नहीं है वह ब्रह्मसे भिन्न है। जैसे ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप होनेसे ही ब्रह्मसे अभिन्न है। व्यावहारिक घटादि अनृत जड दुःखात्मक होनेसे सच्चिदानन्द स्वरूपके अभावमें ब्रह्मसे भिन्न है। इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म है सच्चिदानन्द स्वरूप होनेसे "ईश्वर-वत्"—यह अनुमान है।

(२) जैसे घटाकाश एवं मठाकाशमें घट-मठरूप उपाधिसे ही आकाशमें भेद प्रतीत होता है। स्वतः आकाशमें भेद नहीं है। तथा अन्तःकरण (बुद्धि) मायारूप उपाधिके विना जीव और ब्रह्ममें भी भेद नहीं है।

भेदबाधक युक्तियाँ

(१) "प्रत्यक्परचितोर्भेदो मिथ्या उपाध्यधीनत्वात् घटाकाश-मठाकाशयोर्भेदवत्।"

'यन्नैवं तन्नैवं (यदौपाधिकं न भवति तन्मिथ्या न भवति)' जैसे व्यावहारिक घट-पट-मठादि व्यवहार औपाधिक नहीं है, अतः

सत्य है (न मिथ्या) तद्वत् जहाँ-जहाँ उपाधिके कारण भेद है वहाँ-वहाँ भेद मिथ्या है।

(२) यथा विम्ब और प्रतिविम्बका भेद मिथ्या है तथा जीव-ब्रह्मका भेद भी मिथ्या ही है।]

निदिध्यासनका लक्षण

भेद-ज्ञान (अनात्म-ज्ञान) से रहित ब्रह्माकाराकारित प्रत्यय-का प्रवाह ही निदिध्यासन है। निदिध्यासनकी परिपाक अवस्था ही समाधि है।

समाधिका निदिध्यासनमें अन्तर्भाव होनेसे समाधिको पृथक् साधनमें गणना नहीं किया।

[(१) साक्षात्कार और निदिध्यासनमें यह भेद है कि नम्री-भूत वृक्ष-शाखाके समान, विना प्रयत्नके अनात्माकार वृत्तिरूप अन्तरायसे रहित स्वयं 'अहं ब्रह्मास्मि' यह वेदान्तजन्य वृत्ति ही साक्षात्कार है। तथा अपने प्रयत्नसे नम्र किये गये शाखा आदिकी तरह स्वप्रयत्नमात्रसाध्य ब्रह्माकाराकारित वृत्ति निदिध्यासन है। प्रयत्नके उपरम होनेपर जैसे शाखा उन्नमन हो (ऊपर उठ) जाती है वैसे ही निदिध्यासनके निवृत्त होनेपर वृत्ति भी निवृत्त हो जाती है।

(२) समाधि शब्दसे त्रिपुटी-भानरहित निर्विकल्प समाधि तथा निदिध्यासन शब्दसे ध्यान-ध्येयात्मक त्रिपुटीयुक्त विकल्प समाधि कही जाती है। तथा च उक्तम्—

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥
ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवत् चित्तं समाधिरभिधीयते॥]

श्रवणादिका प्रयोजन-कथन

श्रवणादि यद्यपि साक्षात् ज्ञानके साधन नहीं हैं, क्योंकि ये श्रवणादि प्रमाण नहीं हैं। तथापि ज्ञानके प्रतिबन्धकीभूत बुद्धिके दोष असम्भावना, विपरीतभावना आदिको नाश करते हैं। असम्भावना—संशय, विपरीतभावना—विपर्यय।

[यह रज्जु है या सर्प—इस प्रकार कोटिद्वय ज्ञानका नाम संशय है। रज्जुमें (अयं सर्पः) अविद्याविषयक ज्ञानका नाम विपर्यय है। यही भ्रान्ति ज्ञान है, इसीको विपरीत ज्ञान या ज्ञानाध्यास कहते हैं। प्रकरणमें मिथ्याभूत देहादि अनात्मामें सत्यत्व बुद्धि एवं आत्मत्व बुद्धि विपर्यय कहलाता है।]

श्रवणका उपयोग

वेदान्तवाक्य क्या अद्वैतब्रह्मका बोध कराता है अथवा अन्य किसी अर्थान्तरका बोध कराता है, यह प्रमाणगत संशय श्रवणसे दूर हो जाता है।

मननका उपयोग

जीव और ब्रह्ममें अभेद सत्य है या भेद, यह प्रमेयगत संशय मननसे निवृत्त होता है।

निदिध्यासनका उपयोग

देहादि समस्त दृश्य प्रपञ्च सत्य है, तथा जीव और ब्रह्मका भेद भी सत्य है, यह बुद्धि—विपरीत भावना निदिध्यासनसे निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार श्रवणादि ज्ञानके प्रतिबन्धकीभूत असम्भावना और विपरीत भावनाकी निवृत्तिद्वारा परम्परासे अपरोक्ष ज्ञानका साधन होता है। साक्षात् ज्ञानका साधन नहीं है।

[संशय निवृत्त होनेपर भी साक्षात् होनेसे पूर्व अविद्या रहनेसे 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ किन्तु जीव हूँ, मुझसे ब्रह्म भिन्न है, देहादि जगत् सत्य है' इस प्रकारके अनेक संशय-विपर्यय बार-बार होते रहते हैं। उनकी निवृत्तिके लिये सदा निदिध्यासनका अभ्यास करना चाहिये।]

अपरोक्ष ज्ञानका साक्षात् साधन

ज्ञानके साक्षात् साधन तो वेदान्तवाक्य ही हैं। वह वेदान्त-वाक्य दो प्रकारके होते हैं। एक अवान्तर वाक्य, दूसरा महा-वाक्य। जीव, आत्मा और परमात्माके स्वरूपप्रतिपादक वाक्य अवान्तर वाक्य कहलाते हैं। इनके ऐक्यबोधक वाक्यको महावाक्य कहते हैं। अवान्तर वाक्यसे परोक्ष ज्ञान होता है और महावाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान। 'अस्ति ब्रह्म'—'ब्रह्म है' यह परोक्ष ज्ञान है। 'अहमेव ब्रह्म' इस ज्ञानका नाम अपरोक्ष ज्ञान है। 'त्वमेव ब्रह्मासि' इस प्रकार गुरुके द्वारा उपदेशश्रवणके अनन्तर ही पुष्कल साधन-सम्पन्न शिष्यको 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अपरोक्ष ज्ञान होता है। श्रोत्रसे असम्बद्ध वाक्य ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, अतः श्रोत्रेन्द्रिय-सम्बद्ध महावाक्य ही अपरोक्ष ज्ञानका हेतु कहा गया है। महावाक्य-से सबको अपरोक्ष ही ज्ञान होता है, परोक्ष ज्ञान नहीं होता; यह नियम है।

महावाक्य अपरोक्ष ज्ञानका हेतु है इसपर आक्षेप और समाधान

प्रथम आक्षेप—

कोई कहते हैं कि श्रवणादि और महावाक्य—ये दोनों मिलकर ही अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करते हैं। केवल वाक्य तो परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न करते हैं, अपरोक्ष ज्ञान नहीं। केवल वाक्यसे यदि अपरोक्ष ज्ञान हो जाय तो श्रवण-मननादि व्यर्थ ही हो जायेंगे।

द्वितीय आक्षेप—

उनका यह भी कहना है कि यद्यपि सिद्धान्त मतसे केवल वाक्यसे ही अपरोक्ष ज्ञान होता है, श्रवणादिसे असम्भावना एवं

विपरीत भावनाका नाश होता है, तथापि जिस वस्तुका अपरोक्ष ज्ञान होता है, उसमें किसीको असम्भावना, विपरीत भावना नहीं होती; अतः केवल वाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान होता है, इस एकदेश-वादी (पञ्चदशीकार) के मतमें 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान होनेपर तो असम्भावना, विपरीतभावनाकी सम्भावना ही नहीं तो श्रवणादि व्यर्थ ही हो जायेंगे। हमारे (पूर्वपक्षी) के मतमें तो केवल वाक्यसे पहिले परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् श्रवणादि सहकृत वाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसा स्वीकार करनेसे श्रवणादि व्यर्थ नहीं होते। यह बहुत ग्रन्थकारोंका मत भी है।

प्रथम आक्षेपका समाधान—

पूर्वपक्षीने जो यह कहा कि शब्दसामान्य—केवल वाक्यसे परोक्ष ज्ञान ही होता है, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि शब्दका यह स्वभाव है कि परोक्ष एवं अपरोक्ष दो प्रकारके ज्ञान उत्पन्न करता है। देश-कालसे परिच्छिन्न—आवृत वस्तुका नाम व्यवहित है। यह व्यवहितविषयक ज्ञान ही परोक्ष ज्ञान है; तथा देश-कालादिसे अव्यवहित (अनावृत) ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है। शब्द स्वभावसे दोनों प्रकारके ज्ञान उत्पन्न करता है। व्यवहितविषयक शब्दजन्य ज्ञान परोक्ष ज्ञान है; यथा—स्वर्ग-इन्द्रादि-देवतादिका शास्त्ररूप शब्द-प्रमाणसे जन्य जो ज्ञान है, वह नित्य परोक्ष ही है। अव्यवहित वस्तुविषयक शब्दज्ञान दो प्रकारके होते हैं—परोक्ष तथा अपरोक्ष। अव्यवहित वस्तुका जब 'अस्ति' शब्दसे ज्ञान होता है, तब वह अव्यवहित ज्ञान भी परोक्ष ज्ञान ही होता है; यथा—"दशमोऽस्ति" 'दसवाँ व्यक्ति है'—यहाँ 'अस्ति' शब्दसे उत्पन्न ज्ञान अव्यवहित होनेपर भी दसवें पुरुषका ज्ञान परोक्ष ज्ञान ही है। और जब अव्यवहित वस्तुका ज्ञान 'इदमस्ति' शब्दजन्य होता है तब अपरोक्ष ज्ञान ही होता है। यह ज्ञान

परोक्ष नहीं होता; यथा—'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यमें 'त्वमसि' इस शब्दसे जन्य ज्ञान अपरोक्ष ही है। इसी प्रकार ब्रह्म परमात्मा सर्व प्राणियोंके प्रत्यगात्मा होनेसे अत्यन्त अव्यवहित नित्यापरोक्ष ज्ञानस्वरूप हैं, तथापि 'तदस्ति' इस अवान्तर वाक्यसे परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता। और "दशमस्त्वमसि" इस वाक्यके सदृश महावाक्य तो श्रोताको आत्मस्वरूपसे अपरोक्ष ब्रह्मका ही बोध कराता है। अतः महावाक्यसे अव्यवहित प्रत्यग् ब्रह्मका अपरोक्ष ही ज्ञान होता है, न कि परोक्ष ज्ञान।

द्वितीय आक्षेपका समाधान—

वादीने जो कहा था कि महावाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान स्वीकार किया जाय तब अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होनेपर तो असम्भावनादि दोषोंका सम्भव ही नहीं हो सकता, ऐसी दशामें श्रवणादि व्यर्थ हो जायेंगे? तो यह कहना ठीक नहीं है। कोई राजा अपने अमात्य भच्छुं नामक व्यक्तिको चक्षुसे देखता हुआ भी विपरीत भावनाके कारण जैसे नहीं जान सका, वैसे ही महावाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान होनेपर भी जिसके अन्तःकरणमें ज्ञानका प्रतिबन्धक असम्भावनादि वर्तमान है उसको सदोष ज्ञान फल (मुक्ति) योग्य नहीं होगा। अतः प्रतिबन्ध दूर करनेके लिये अवश्य ही श्रवणादिका आवर्तन करते रहना चाहिये। और जिसमें महाभाग्यसे रागद्वेषादिके कारणभूत असम्भावनादि दोष नहीं हैं, उसको निर्दोष अपरोक्ष ज्ञान होनेपर श्रवणादिकी व्यर्थता इष्ट ही है। अतः ज्ञानका साक्षात् कारण महावाक्य ही है, श्रवणादि नहीं। श्रवणादि तो ज्ञानके प्रतिबन्धक असम्भावनादि दोषोंको दूर मात्र करते हैं, इसीलिये श्रवणादि गौणीवृत्तिसे ज्ञानके साधन कहे जाते हैं। तथा विवेकादि साधन-चतुष्टय भी श्रवणादिमें उपकारक होनेसे ज्ञानके साधन कहे जाते हैं। इसी कारण विवेकादि साधन-चतुष्टयसम्पन्न मनुष्य ही वेदान्तका अधिकारी होता है, अन्य नहीं—यह बात ठीक ही है।

विषय-निरूपण

यह ग्रन्थ जीव और ब्रह्मकी एकता प्रतिपादन करता है। जीव शब्दसे जीवका लक्ष्यार्थ कूटस्थ जानना चाहिये। अतः प्रत्यक् और पर चिन्मात्र इसका विषय है; क्योंकि समस्त वेदान्त इसी विषयका प्रतिपादक है। इससे अन्य द्वैतका प्रतिपादन करनेवाले द्वैतवादी वेदविरुद्ध होनेसे वेदबाह्य माने गये हैं।

जीव ब्रह्मकी एकता, कहत विषय जन बुद्धि।
तिनको जे अंतर लहैं, ते मतिमंद अबुद्धि॥

प्रयोजन-निरूपण

समस्त प्रपञ्चका कारणभूत अज्ञान एवं अज्ञानका कार्य दृश्य-जात सकल द्वैत यह जन्म-मरणरूप अखिल दुःखका कारण होनेसे महाअनर्थ है। यह बात श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और अनुभवादि सकल प्रमाणसे सिद्ध है। इस अनर्थकी निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्तिका नाम मोक्ष है। यह मोक्ष-प्राप्ति ही इस ग्रन्थका परम प्रयोजन है। ज्ञान तो अवान्तर प्रयोजन है। पुरुषको जिस विषयकी उत्कट इच्छा होती है, वही उसका परम प्रयोजन या पुरुषार्थ कहा जाता है। जीवमात्रकी यह स्वभावसे ही इच्छा होती है कि दुःख निवृत्त हो जाय और सुखकी प्राप्ति हो। पूर्वोक्त अनर्थरूप द्वैतके अभावसे उपलक्षित परमानन्द चित् ही मोक्ष है। अतः मोक्ष ही परम प्रयोजन है, ज्ञान नहीं। दुःखनिवृत्ति और परमानन्द-प्राप्तिका हेतु (साधन) ज्ञान है। दुःखनिवृत्ति और आनन्दस्वरूप ज्ञान नहीं है। अतः ज्ञान अवान्तर प्रयोजन कहा गया है। परम प्रयोजनका जो द्वार होता है वह अवान्तर प्रयोजन ही होता है, जैसे केलेके फलकी प्राप्तिमें उसके पत्र और पुष्पादि। इस प्रकार वेदान्तग्रन्थजनित ज्ञानद्वारा मुक्तिरूप परमप्रयोजन-फलप्राप्तिमें ज्ञान अवान्तर प्रयोजन होता है।

प्रयोजनके विषयमें आक्षेप

इस ग्रन्थका प्रयोजन अनर्थनिवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति कहा गया है वह ठीक नहीं है। समस्त वेदान्तमें जीवका स्वरूप परमानन्दरूप वर्णन किया गया है। यथा—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'—'विज्ञानं जीवचैतन्यं आनन्दं ब्रह्मैव न ततोऽतिरिच्यते।' आप भी इसको स्वीकार करते ही हैं। लोकमें देखा जाता है कि अप्राप्तकी प्राप्ति तो होती है, किन्तु जो सदा प्राप्त है उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः सदा परमानन्दस्वरूप ही आत्माको पुनः परमानन्दप्राप्तिका कथन सर्वथा असम्भव जान पड़ता है।

जीवको स्वरूप अति आनंद कहत वेद,
ताकूं सुख प्राप्तिको असंभव बखानिये।
आगे जो अप्राप्त वस्तु ताकी प्राप्ति संभवत,
नित्य प्राप्त वस्तुकी तौ प्राप्ति किमि मानिये॥

समाधान

इस प्रकार पूर्वपक्षीकी शङ्का सुननेमात्रसे अद्वैत ग्रन्थमें कहे गये प्रयोजनका अनादर नहीं करना चाहिये। वेदान्तज्ञानके उपदेशक गुरुके कृपापात्र अधिकारियोंके लिये इस प्रकारके अशेष सन्देहोंको, प्रचण्ड वायुके द्वारा तूलराशिको उड़ा देनेकी भाँति अपने सुदृढ़ विवेकद्वारा उड़ा देना अत्यन्त सुलभ होता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने हाथमें पड़े हुए कङ्कणको भ्रान्तिसे यह मानने लगे कि हमारा कङ्कण खो गया है और उसका अन्वेषण करने—ढूँढ़नेके लिये इधर-उधर घूमता फिरे, उस घूमते हुएको कोई आप्त व्यक्ति कह दे कि कङ्कण तुम्हारे हाथमें ही तो है, इसको सुनकर पूर्वप्राप्त कङ्कणको ही 'ओ हो! कङ्कण मिल गया' यह कहता है। इसी प्रकार परमानन्दस्वरूप नित्य अपरोक्ष प्राप्त भी स्वात्मा

अविद्यावश भ्रान्तिसे अप्राप्तवत् प्रतीत होता है। 'नाहं परमानन्द-स्वरूपः, किन्तु ब्रह्मैव परमानन्दस्वरूपः" "मैं परमान्दस्वरूप नहीं हूँ, परमानन्दस्वरूप तो ब्रह्म ही है। इससे विलक्षण मुझको ब्रह्मकी उपासनासे परमानन्द प्राप्त हो सकेगा।' मूढ़ (अज्ञानी) भ्रान्तिसे यह मानता है। ऐसा माननेवाला शास्त्रज्ञ भी मूढ़ ही है। **"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः" "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।"** इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियोंसे जीव और ब्रह्ममें भेद माननेवालेको अज्ञानी कहा गया है। ऐसे अज्ञोंको भी कदाचित् अनन्तजन्मार्जित पुण्य-पुञ्जके उदय होनेपर प्रशान्त ब्रह्मविद्वरिष्ठ सद्गुरुके लाभसे वेदान्तवाक्य-श्रवणका अवसर मिल जाय तो परमानन्दको प्राप्ति हो जाती है। भाव यह कि आत्मा आनन्दस्वरूप स्वप्रकाश अपरोक्ष होते हुए भी अपनी अविद्यासे आवृत्त होनेके कारण प्रथम अप्राप्तवत् भान होता है। आचार्यके मुखसे वेदान्त-श्रवणसे स्वस्वरूपभूत ही परमानन्दस्वरूपता बुद्धिमें भान होने लगती है। उसीका अपूर्व होनेसे प्राप्तवत् व्यवहार होता है। इस रीतिसे प्राप्तकी भी पुनः प्राप्तिका कथन बन जाता है। अतः जो परमानन्दप्राप्ति इस ग्रन्थका परम प्रयोजन कहा गया वह युक्त ही है।

ऐसी संका लेस आनि कीजैं न विस्वास हानि,
गुरुके प्रसादतैं कुतर्क भले मानिये।
करको कंकण खोयो ऐसो भ्रम भयो जिहिं,
ज्ञानतैं मिलत इम, प्राप्त प्राप्ति जानिये॥

प्राप्तकी प्राप्तिरूप प्रयोजन कहकर नित्य निवृत्तकी निवृत्तिरूप प्रयोजन भी युक्त ही है, यह कहेंगे।

रज्जुमें सर्प नित्य निवृत्त होनेपर भी कभी भ्रान्तिसे सर्प भान होता है। और 'रज्जुरेवेयम्' 'यह रज्जु है'—इस प्रकार अधिष्ठान-मात्रके ज्ञानसे सर्प निवृत्त हो जाता है। उसी प्रकार आत्मामें भ्रमसे प्रतीयमान भी संसार नित्य निवृत्त ही स्व-स्वरूपापरोक्ष साक्षात्कार-से अशेष निवृत्त हो जाता है। इसीलिये नित्य निवृत्तकी निवृत्ति, एवं प्राप्तकी भी प्राप्ति वेदान्त-शास्त्रका परम प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय आक्षेप

कारणसहित अज्ञानको निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति यह ग्रन्थका प्रयोजन कहना ठीक नहीं है; क्योंकि निवृत्तिका अर्थ है पूर्णतया नाश एवं नाशका अर्थ है प्रध्वंसाभाव। नाश और प्रध्वंसा-भाव पर्यायवाचक शब्द हैं। अतः अनर्थनिवृत्तिरूप अभाव तथा परमानन्दप्राप्तिरूप भाव इन दोनोंका एक मुक्तिस्वरूपमें सामानाधि-करण्य नहीं बन सकता है, क्योंकि भावाभावका परस्पर विरोध है, विरुद्ध धर्मका एकत्र एक साथ समावेश नहीं होता; अतः उक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

समाधान

यह दोष नहीं है। कारणसहित अविद्याकी निवृत्ति अधिष्ठान-स्वरूप चैतन्यमात्र ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। जैसे आरोपित सर्पकी निवृत्ति अधिष्ठानरूप रज्जुसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार कल्पित नामरूपात्मक सकल वस्तुकी निवृत्ति भी तदधिष्ठान चिन्मात्र ब्रह्मसे भिन्न सिद्ध नहीं होती; क्योंकि यह नियम है कि "आरोपितप्रति-योगिकप्रध्वंसस्य प्रतियोग्यधिष्ठाने भासमानस्याधिष्ठानमात्रत्वम्" भाव यह कि कल्पित वस्तुकी निवृत्ति अधिष्ठानरूप हो होती है। वार्तिकमें कहा भी है—"अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः" यही भगवत्पादका भी अभिप्राय है। अतः इस प्रकरणमें अनर्थ-निवृत्ति भी ब्रह्ममात्र ही है। इसलिये कोई दोष नहीं है। ब्रह्म

सिद्धस्वरूप होनेसे भावरूप है, भावरूप ही अनर्थनिवृत्ति है। अतः उक्त प्रयोजनका कथन ठीक ही है।

अधिष्ठानतैं भिन्न नहिं, जगत निवृत्ति वखान।
सर्प निवृत्ती रज्जु जिम, भये रज्जुको ज्ञान॥

[व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक रूपसे अवभासमान भी प्रपञ्च **"नेति नेति" "अतोऽन्यदार्तम्" "न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तम्" "नेह नानास्ति किञ्चन"** इत्यादि श्रुति, युक्ति और अनुभवसे यथार्थमें अविद्यमान—कालत्रयमें निवृत्त ही प्रपञ्चकी नित्य निवृत्ति कही गयी है। पूर्व प्रमाणोंसे त्रिकालमें भी प्रपञ्च नहीं है, इस याथात्म्य निश्चयका नाम ही नित्य निवृत्ति कहा गया है। यह नित्य निवृत्तकी ही निवृत्ति है।

नित्यप्राप्तकी प्राप्ति—

"तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति, अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित रीतिसे गृहमें अन्तर्हित (गड़े हुए) विद्यमान धनको भी जैसे क्षेत्रज्ञ नहीं जानता है, इसी प्रकार अविद्यासे आत्मा अप्राप्तवत् प्रतीत होता है। वही अञ्जनादि उपायोंसे जाननेपर प्राप्तवत् होता है। इसीका नाम अप्राप्तकी प्राप्ति है। जैसे यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार **"अयमात्मा ब्रह्म" "प्रज्ञानं ब्रह्म" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "आत्मैवेदं सर्वम्"** इत्यादि श्रुतियोंसे सब कुछ ब्रह्म ही है, इस उपदेशसे नित्य प्राप्त परमानन्दस्वरूप आत्माकी, जो कि अविद्यासे अप्राप्तवत् प्रतीत होता था, प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् अखण्ड परमानन्द चिद्रूप ब्रह्म ही मैं हूँ—यह बोध हो जाता है। यही प्राप्तकी प्राप्ति है।]

सम्बन्ध-निरूपण

(१) ग्रन्थ और विषय (प्रमेय)का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। ग्रन्थ प्रतिपादक हैं। विषय (जीव-ब्रह्मैक्य) प्रतिपाद्य है। जो विषयका विवेचन करके बोध कराता है, वह प्रतिपादक कहलाता है, और जो वस्तु बोध करायी जाती है वह प्रतिपाद्य कहलाती है।

(२) अधिकारी और फलमें प्राप्यप्रापक सम्बन्ध होता है। फल प्राप्य और अधिकारी प्रापक होता है। जो वस्तु लब्ध होती है वह प्राप्य तथा लब्धा प्रापक कहलाता है।

(३) अधिकारी और विचारका कर्ता-कर्तव्यभाव सम्बन्ध होता है। अधिकारी कर्ता एवं विचार कर्तव्य होता है। जो कर्म करता है वह कर्ता, जो किया जाय वह कर्तव्य कहलाता है।

(४) ग्रन्थ और ज्ञानमें जन्यजनकभाव सम्बन्ध होता है। विचारके द्वारा ज्ञानके प्रति ग्रन्थ जनक तथा ज्ञान जन्य होता है। इसी प्रकार और भी अनेक सम्बन्धोंको जानना चाहिये।

॥ श्रीः ॥

द्वितीय अंश

(अनुबन्धोंके विशेष निरूपणके लिये)

प्रथम अंशमें जो संक्षेपसे कहा गया है, इस द्वितीय अंशमें उसीका विस्तारसे प्रतिपादन किया जाता है।

अधिकारिविषयक आक्षेपोंका कथन

दुःखनिवृत्तिमें आक्षेप—प्रथम अंशमें कहा गया कि साधन-चतुष्टयविशिष्ट ही अधिकारी होता है। उन साधनोंमें मुमुक्षुता नामका भी एक साधन है। वह मुमुक्षुता सब साधनोंमें श्रेष्ठ कही गयी है। मुमुक्षुताका अर्थ है मोक्षकी तीव्रतर इच्छा। उपादान कारणके सहित जगन्निवृत्ति—विनाशसे उपलक्षित—तद्द्वारा प्रकाशित ब्रह्मप्राप्तिका नाम मोक्ष है। इस मोक्ष-विशिष्ट विशेषणरूप प्रथमांश अर्थात् उपादानकारण (मूलाविद्या) के सहित जगन्निवृत्तिमें पूर्वपक्षी शङ्का करता है, कि कोई भी व्यक्ति मूलाविद्यासहित जगत्का नाश नहीं चाहता है। किन्तु विवेकी—विचारशील मनुष्य तापत्रयकी निवृत्ति चाहता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—ये तीन ताप हैं। शरीरमें ज्वरादि रोग और क्षुत्-पिपासादिजन्य दुःखको आध्यात्मिक दुःख एवं चोर-व्याघ्रादिजन्यको आधिभौतिक और यक्ष, राक्षस, प्रेत, पिशाचादि तथा शीत, घाम आदिद्वारा उत्पन्न दुःखको आधिदैविक दुःख कहते हैं। इन तीन प्रकारके दुःखोंकी निवृत्तिकी इच्छा सभी प्राणी करते हैं। अन्य किसी दुःखकी निवृत्ति कोई नहीं चाहता है। अतः मूलाविद्यासहित जगन्निवृत्तिकी इच्छा कोई भी नहीं करता है।

उत्तर—में यदि सिद्धान्ती यह कहे कि सभी लोग सब प्रकारके दुःखोंकी निवृत्तिकी इच्छा तो करते ही हैं, मूलाविद्या (अज्ञान) सहित जगन्निवृत्तिके विना निःशेष दुःखका उच्छेद सम्भव नहीं, अतः रूपान्तरसे मूलाविद्यासहित जगत्की निवृत्ति सभी चाहते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि औषधिसेवनसे ज्वरादि, भोजन-पानसे क्षुत्पिपासादि, प्रेत-पिशाच या शीतोष्णके प्रतिकारसे तज्जन्य दुःखकी निवृत्ति होनेसे सब प्रकारके दुःखोंकी निवृत्ति देखी जाती है; अतः मूलाविद्यासहित जगत्-विनाशके विना ही सब प्रकारके दुःखोंको निवृत्ति नहीं होती, यह कहना नहीं बनता। इसलिये मोक्षलक्षणलक्षित मूलाविद्यासहित जगत्-निवृत्तिकी इच्छा किसीको भी नहीं होती है।

मूलसहित जगध्वंसकी, कोउ करत नहिं आस।
किंतु विवेकी चहत हैं, त्रिविधि दुखनको नास॥

सुखप्राप्तिके विषयमें आक्षेप—

मोक्षमें द्वितीयांश ब्रह्मप्राप्तिकी इच्छा भी किसीको नहीं होती है। जो वस्तु पहिले अनुभूत होती है उसीकी इच्छा भी होती है। जो वस्तु कभी अनुभूत नहीं है, उसकी इच्छा भी किसीको नहीं होती। जैसे देशान्तरमें विद्यमान भी अत्यद्भुत अनिर्ज्ञात पदार्थमें किसीको इच्छा नहीं होती। इसी प्रकार मुमुक्षु अधिकारीको पहिले ब्रह्मविषयक ज्ञान नहीं है। यदि कहें ज्ञान है तो वह अधिकारी ही नहीं होता, क्योंकि ज्ञान होनेसे तो मुक्त है। मुक्तको मुमुक्षा नहीं उत्पन्न हो सकती अधिकारका अभाव होनेसे। अतः वेदान्त-श्रवणके पूर्व अनिर्ज्ञात ब्रह्मप्राप्तिकी इच्छा किसीको उत्पन्न नहीं हो सकती है। इस प्रकार मूल अज्ञानके सहित जगत्की निवृत्ति और ब्रह्म-

प्राप्तिकी इच्छा किसीको भी नहीं होती है। इसलिये कोई भी अधिकारी मुमुक्षु सिद्ध नहीं होता।

किय अनुभव जा वस्तुको, ताकी इच्छा होइ।
ब्रह्म नहीं अनुभूत इम, चहै न ताकूं कोइ॥

अधिकारीके अभावका प्रकारान्तरसे प्रतिपादन—

समस्त प्राणी विषयसुखकी ही इच्छा करते हैं। बड़े-बड़े तपस्वी भी पारलौकिक भोगोंकी अभिलाषासे इस लोकके समस्त भोगोंको त्यागकर अनेक प्रकारके क्लेश सहन करते हैं। अतः इहलौकिक या पारलौकिक विषयसुखकी ही सभी स्पृहा करते हैं और विषय-सुख मोक्षमें नहीं है। इसलिये भी कोई मोक्ष-साधनकी इच्छा नहीं करता है। और भी बात है—ब्रह्मादि स्तम्वपर्यन्त सारे प्राणी विषय-सुखरूप आशापाशमें वशीकृतचित्त होनेसे वैराग्य, उपरति, शम, दम आदि साधन किसीको सिद्ध भी नहीं होता है। इसलिये साधन-चतुष्टयसम्पन्न अधिकारीके अभावमें यह ग्रन्थारम्भ विफल सिद्ध होगा।

चहत विषयसुख सकलजन, नहीं मोक्षको पंथ।
अधिकारी यातैं नहीं, पढै सुनै जो ग्रंथ॥

अधिकारिविषयक आक्षेपोंके समाधान—

मोक्षके प्रथमांशभूत मूलाज्ञानसहित जगत्-निवृत्तिके इच्छा-सम्भवका प्रकार—

मोक्षेच्छा किसीको सम्भव नहीं होती, क्योंकि मोक्षमें दो अंश हैं, प्रथम उपादानकारणसहित जगत्की निवृत्तिरूप अंश एवं दूसरा ब्रह्मप्राप्तिरूप अंश है। उसमें उपादानकारणसहित जगत्-निवृत्तिकी इच्छा किसीको भी सम्भव नहीं, अपितु त्रिविध दुःख-

निवृत्तिकी ही इच्छा सबको होती है। तत्तद्दुःखनिवृत्ति तत्तद् उपायसे होती है। इसलिये उपादानकारणसहित जगत्-निवृत्तिकी कामनावाला मोक्षका अधिकारी है यह सम्भव नहीं-यह पूर्व पक्ष है।

उत्तर—

सर्वानर्थके बीजभूत मूलाज्ञानके कार्यरूप जगत्की निवृत्तिके सिवा अन्य किसी भी उपायसे अशेष तापत्रयका विनाश नहीं हो सकता है। निःशेष मूलाविद्याकी निवृत्ति ही अशेष दुःखोंकी निवृत्ति है। क्योंकि सकल दुःखके कारणभूत रोगादि हैं और रोगादिके आश्रय शरीरादिका निरवशेष विनाश तभी हो सकता है, जब निःशेष मूलाविद्याकी निवृत्ति हो जाय। अतः तापत्रयनिवृत्तिके लिये समूलाज्ञान जगन्निवृत्तिरूप मोक्षकी इच्छा सबको होती ही है। भाव यह है कि जो व्यक्ति सकल औषधादि उपाय करनेमें एवं निखिल रोगकी चिकित्सा करनेमें अत्यन्त समर्थ है, उसको भी नियमसे सर्वदुःखकी शान्ति नहीं देखी जाती। किसी-किसीका ही रोगादिजन्य दुःख औषधादि उपायसे निवृत्त होता है तथा किसीका नहीं भी निवृत्त होता है। अतः औषधादि उपायसे रोगादिजन्य दुःख सबका निवृत्त होता ही है यह नहीं कह सकते हैं। दूसरी बात यह है कि जिसका औषधादिसे रोग निवृत्त होता है, उसके भी कालान्तरमें पुनः वही रोग या अन्य रोग उत्पन्न हो जाता है। इसलिये भी औषधादिसे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। निवृत्त होनेपर पुनः कभी भी उत्पन्न न होनेका नाम आत्यन्तिकी निवृत्ति है। औषधादि उपायोंसे आत्यन्तिकी निवृत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि निवृत्त रोगकी भी पुनः उत्पत्ति देखी जाती है। इस प्रकार सैकड़ों उपायोंसे भी आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि समस्त दुःखोंके कारण ही निवृत्त हो जायँ, तब तो निश्चय ही आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति हो सकती है। निदान—कारणके निवृत्त

३६ : वेदान्त-तत्त्व-विचार

होनेपर तो दुःखलेश भी नहीं रह सकता है। इसलिये समस्त प्राणियोंको आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्तिके उद्देशसे उस दुःखके कारणके विनाशकी इच्छा होती ही है।

दुःखका निदान—मूल कारण है अज्ञान एवं अज्ञानका कार्य है प्रपञ्च।

छान्दोग्य उपनिषद्में भूमविद्याके प्रकरणमें स्पष्ट कहा गया है कि **"अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः। तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच। ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि। सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्, श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तं होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्।"** इत्यादि मन्त्रोंसे बाईस खण्डोंमें अपर ब्रह्मकी उपासनाको ज्ञानका साधन कहकर उससे आगे **"यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। भूमानं भगवो विजिज्ञासे" "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यति, अन्यच्छृणोति, अन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतम्। अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्"** इत्यादि मन्त्रोंसे भूमाका उपदेश किया गया है। इसका तात्पर्य यह कि सकल कलाओंके जाननेवाले होनेपर भी नारदजीने अपनेको शोकाक्रान्त ही देखा। आत्मज्ञानके विना समस्त शोकोंको पार भी नहीं किया जा सकता—यह बात महापुरुषोंसे सुनी भी थी। तब अपने शोकके कारणरूप अज्ञानकी निवृत्ति और आत्मज्ञानके लाभके लिये सनत्कुमारजीसे पूछा, **"तं मां भगवान् शोकस्य पारं**

तारयतु" इसको सुनकर भगवान् सनत्कुमारजीने अनेक साधनोपदेशके अनन्तर शोकशून्य अपरिच्छिन्न निरतिशय सुखस्वरूप भूमाका उपदेश करके बतलाया कि उससे अन्य सकल दृश्य प्रपञ्च जो कि परिच्छिन्न है, दुःखरूप है, भूमा ही ब्रह्म है। इस दृष्टान्तसे मूलाज्ञान और मूलाज्ञानका कार्यभूत समस्त दृश्य प्रपञ्चमात्र ही ब्रह्मसे अन्य होनेके कारण दुःखरूप है, इसलिये इस दुःखके कारण द्वैत प्रपञ्चकी मूलाज्ञानसहित "नेति नेति" के द्वारा स्वरूपसे निवृत्ति होनेपर ही समस्त दुःखकी निवृत्ति होगी। अतः निःशेषदुःखनिवृत्तिके लिये समूलाज्ञान-प्रपञ्चनिवृत्तिरूप मोक्षकी इच्छा सभीको होती ही है।

द्वितीय आक्षेपका समाधान—

पूर्वपक्षीने जो कहा कि प्रागनुभूत वस्तु-प्राप्तिकी ही इच्छा होती है। ब्रह्म तो पहिले किसीको अनुभूत नहीं है, अतः मोक्षके द्वितीयांश ब्रह्मप्राप्तिकी इच्छा किसीको नहीं होती है। यह कहना ठीक नहीं है। सभी प्राणियोंको सुख अनुभूत है, अतः सबको उसकी प्राप्तिकी इच्छा होती है। ब्रह्म नित्य निरतिशय सुखस्वरूप है, यह समस्त वेदान्तमें प्रसिद्ध ही है। अतः साधनचतुष्टयसम्पन्न उत्तमाधिकारीको सुखस्वरूप ब्रह्मप्राप्तिकी इच्छा होती ही है।

तृतीय आक्षेपका समाधान—

वादीने कहा कि सब लोग विषयेन्द्रियसंयोगजन्य सुखकी ही चाहना करते हैं। वह विषयसुख मोक्षमें नहीं है, क्योंकि विषयसुख द्वैतमें है, मोक्षमें द्वैतका अभाव है। अतः मुमुक्षु अधिकारीके अभावमें ग्रन्थारम्भ ही व्यर्थ होगा। इसपर हम वादीसे पूछते हैं कि क्या संसारमें कोई मुमुक्षु ही नहीं है, या मुमुक्षु होनेपर इस ग्रन्थमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी? वादी यह तो नहीं कह सकता कि कोई मुमुक्षु ही नहीं है, क्योंकि आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति तथा नित्य निरतिशय सुखकी इच्छा सबको देखी ही जाती है।

निःशेष दुःखनाशपूर्वक निरतिशय सुखरूप ही तो मोक्ष है। अतः संसारमें सभी मुमुक्षु ही हैं।

सब लोग वैषयिक सुखको ही अभिलाषा करते हैं, यह कहना भी ठीक नहीं जान पड़ता है। सुखसामान्यकी इच्छा सबको होती है, चाहे वह विषयजन्य हो अथवा अन्य कोई सुख हो। यदि यह कहो कि विषयजन्य सुख ही सबलोग चाहते हैं, तब तो सुषुप्तिकी इच्छा किसीको नहीं होनी चाहिये; क्योंकि सुषुप्तिमें विषयजन्य सुख नहीं है। अतः यही सिद्ध होता है कि सबलोग सुखसामान्यकी ही इच्छा करते हैं। केवल वैषयिक सुख चाहते हैं—यह नियम नहीं है। बल्कि सब लोग प्रतिदिन सुषुप्तिमें जाते हैं, इसलिये यही कहना पड़ेगा कि सबलोग स्वात्मसुखकी ही इच्छा करते हैं। "सुखमहमस्वाप्सम्" इस परामर्शसे सुषुप्तिका सुख आत्मस्वरूप सुख है यह निश्चय होता है। और भी बात है कि सबको अनुभूत होनेवाले वैषयिक सुखमें तारतम्य भी सिद्ध होता है। अतः नित्य निरतिशय एकविध सुखप्राप्तिकी इच्छा स्वभावतः सबको होती है। यह सुख नित्यसिद्ध आत्मस्वरूप सुख ही है। यही आत्मस्वरूप सुख मोक्ष है। इसलिये कहना पड़ेगा कि सभी लोग मुमुक्षु ही हैं। कोई मुमुक्षु नहीं है—यह कहना साहसमात्र है।

पामर और विषयीके लक्षण

पूर्वपक्षीने कहा कि सब लोग विषयसुखमें आसक्त हैं, निरतिशय सुखकी इच्छा किसीको नहीं होती; यह भी कहना ठीक नहीं है। लोकमें चार प्रकारके मनुष्य देखे जाते हैं। पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त। इनमें शास्त्रीय संस्कारशून्य विहित एवं प्रतिषिद्ध इहलौकिक विषय-भोगोंमें आसक्त 'पामर' कहलाते हैं। जो शास्त्रानुकूल विषयभोगोंको भोगता हुआ इहलोक तथा परलोकमें फलभोगके लिये कर्म करता है, वह विषयी है।

जिज्ञासुके लक्षण

जो शास्त्रीय उत्तम संस्कारके बलसे अध्यात्म शास्त्रका श्रवण करता है, उसको आगे कहे जानेवाला विवेक उत्पन्न होता है वह विवेक जिसको होता है, वह जिज्ञासु कहलाता है।

(१) प्रथम यह विवेक उत्पन्न होता है कि विषयजन्य सभी सुख दुःख ही है। क्योंकि वह विषय-इन्द्रिय-संयोगजन्य होनेसे अनित्य है। विषयसुख स्थितिकालमें दुःखानुसंगी ही होता है। नाश होनेपर दुःखका हेतु होता है, एवं विषयसुख अनुभव-दशामें भी इसके आगे ऐसा सुख सदा नहीं रहेगा यह व्याकुलता उत्पन्न करता है। अतः सब विषयसुख दुःखसे कवलीकृत ही है। इसलिये विषयजन्य सुख वस्तुतः सुख होनेपर भी विषयरूप उपाधिसे सम्बन्धित होनेसे दुःख ही है। यह दुःख किसी भी लौकिक उपायसे दूर नहीं किया जा सकता है। बड़े-बड़े उपायोंके अन्वेषणमें कुशल व्यक्तिको भी निःशेष दुःखनिवृत्ति नहीं देखी जाती है। निवृत्त होनेपर भी दुःख पुनः उत्पन्न हो जाता है।

(२) द्वितीय विवेक यह होता है कि जबतक शरीर बना रहेगा तबतक दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती है।

"न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति,
अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।"

क्योंकि शरीरमात्र ही पुण्य-पापका फल है। शरीरकी स्थितिमें सुख-दुःखका सम्बन्ध और शरीरके अभावमें सुख-दुःखका अभाव सुना जाता है।

मनुष्यशरीर पाप-पुण्यमिश्रित कर्मोंका फल है—यह बात तो लोकमें प्रसिद्ध ही है। कुछ लोग कहते हैं कि देवशरीर केवल पुण्यका फल है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अपनेसे अतिशय विभूति देखकर उनको भी ताप होता ही है। यह सब

इतिहासमें कहा गया है। तथा देवप्रधान इन्द्रको अनेक दैत्य-दानवोंसे भयरूप दुःखका होना कहा ही गया है। तिर्यक् पशु-पक्षी और मृगादिके शरीर भी मिश्र कर्मके ही फल हैं, क्योंकि मैथुनादि-जन्य सुख तो उनको भी प्राप्त होता ही है। भाव यह कि निखिल शरीर ही पुण्य-पापमिश्रित कर्मोंके फल हैं—यही सिद्धान्त है। अतः जबतक शरीरका सम्बन्ध है तबतक दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती।

(३) इसके अनन्तर यह तीसरा विवेक उत्पन्न होता है, कि सभी शरीरियोंके शरीर अपने-अपने किये धर्माधर्मके फल हैं, अतः धर्माधर्मकी निःशेष निवृत्ति हुए विना शरीरका आत्यन्तिक अभाव होना सम्भव नहीं एवं शरीराभावके विना आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति नहीं, तथा आत्यन्तिक कर्मक्षयके विना आत्यन्तिक शरीराभाव-रूप मोक्ष सम्भव नहीं हो सकता है।

(४) चतुर्थ ज्ञान यह होता है कि पुण्य-पापरूप कर्मोंका क्षय रागद्वेषनिवृत्ति हुए विना नहीं हो सकता है। शरीरारम्भक प्रारब्ध कर्मका क्षय होनेपर भी रागद्वेषवशात् पुनः कर्माकर्म होगा ही। अतः अशेष रागद्वेषनिवृत्तिके विना धर्माधर्मकी निवृत्ति नहीं होगी।

(५) इसके बाद पाँचवाँ ज्ञान यह होता है कि इष्टानिष्टके साधनके अज्ञानसे ही रागद्वेषमें प्रवृत्ति होती है। इष्टमें राग तथा अनिष्टमें द्वेष साधारण सभी प्राणियोंको होता है। अतः इष्टानिष्ट-साधन-बुद्धिके निवृत्त हुए विना रागद्वेषकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इष्टानिष्ट-साधन-बुद्धि भेदबुद्धिके कारण ही होती है। जब स्वरूपसे अन्य दूसरी वस्तुको जानता है तब ही इष्टानिष्ट-साधनबुद्धि उत्पन्न होती है।

स्व-स्वरूप किसीको भी सुख-दुःखका साधन नहीं होता। क्योंकि स्व-स्वरूप सुख होनेसे सुख-साधनता उसमें नहीं बन सकती। एवं स्व-स्वरूपके ज्ञानसे अन्य वस्तुके अभावमें प्रतिकूलता (दुःख) बुद्धि भी नहीं होती।

इस प्रकारकी भेदबुद्धि स्व-स्वरूपाज्ञानसे ही होती है। **"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति" "यत्र वाऽन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" "यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यते।"** इत्यादि अनन्त श्रुतियाँ 'स्व-स्वरूपाज्ञान-दशामें ही सकल द्वैतप्रपञ्चका व्यवहार होता है' यह बोध कराती हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सकल दुःखका कारण स्व-स्वरूपाज्ञान ही है। यह स्व-स्वरूपाज्ञान स्व-स्वरूपके ज्ञानसे ही निवृत्त हो सकता है, अन्य किसी उपायसे निवृत्त नहीं हो सकता। यह नियम है कि जिसका अज्ञान होता है उस वस्तुके ज्ञानसे ही वह अज्ञान दूर होता है। जैसे रज्जुके अज्ञानसे सर्पभान होता है; जब रज्जुका ज्ञान होगा तब सर्पका भान दूर होगा। अतः स्व-स्वरूपका विचार अवश्य करना चाहिये। यह विवेक जिसको होता है वह व्यक्ति 'जिज्ञासु' है।

मुक्तका लक्षण

स्थूल-सूक्ष्म-कारणात्मक शरीरत्रयसे विलक्षण, पञ्चकोशातीत, अखण्ड, अद्वय, स्वयंज्योति, स्वभाव-आनन्दघन ब्रह्म ही स्वस्वरूप है, इसे साक्षात् अपरोक्ष करतलामलकवत् जो जानता है, वह 'मुक्त' कहलाता है।

जिज्ञासुकी ही इस वेदान्त शास्त्रमें प्रवृत्ति होती है। पूर्वोक्त चार प्रकारके पुरुषोंमें पामर और विषयी तो विषयजन्य सुखमें ही अपनेको तृप्त मानता है। किसी विषयीको पारलौकिक परम सुखकी इच्छा होनेपर भी वह ऐसे कर्मादि साधनमें प्रवृत्त रहता है जो वस्तुतः परमसुखका साधन नहीं है। साधु-संग, सत्-शास्त्रश्रवणादिरूप परमानन्दप्राप्तिके साधनका उसको ज्ञान ही

नहीं होता। अतः पामर और विषयीको निरतिशयानन्द-प्राप्ति एवं आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति सम्भव नहीं है। और मुक्त कृतकृत्य ही है। इसलिये केवल जिज्ञासुकी ही आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और नित्यनिरतिशय आनन्दकी प्राप्तिके लिये इस वेदान्त-विचारमें प्रवृत्ति होती है।

जीवब्रह्मैक्य विषयमें आक्षेप—

सिद्धान्तीने कहा कि जीव और ब्रह्मका ऐक्य ही इस ग्रन्थका विषय है, यह कहना नहीं बनता है, क्योंकि इन दोनोंके स्वभावमें भेद है। ब्रह्म अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशात्मक पञ्चक्लेशोंसे शून्य है, एवं व्यापक, एक, स्वगत-सजातीय-विजातीय भेदरहित है। इसके विपरीत सकल क्लेशभागी जीव है, परिच्छिन्न एवं अनेक हैं। जितने शरीर हैं उतने जीव हैं। सर्व शरीरोंमें एक जीव स्वीकार करो तो एकके सुखसे सबको सुख, एकके दुःखसे सबको दुःख होने लगेगा; किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। अतः जीव-ब्रह्मकी एकता नहीं बन सकती है।

[१. विचार करनेपर जिसकी स्वरूप-सत्ताका अभाव हो, उसका नाम अविद्या है—"या न विद्यते सा अविद्या"। वह अविद्या दो प्रकारकी है, मूला अविद्या और तूला अविद्या। शुद्ध चिन्मात्रका आवरण करनेवाली मूला अविद्या और घटादि उपहित चैतन्यका आवरण करनेवाली तूला अविद्या कही जाती है। मूला अविद्या कार्यकारण भेदसे दो प्रकारकी है। आवरण-विक्षेप-शक्तिसहित अनादि-भावरूपा कारण अविद्या है एवं वस्तुको अन्यथा प्रतीत करानेवाली कार्य अविद्या। कार्य अविद्या भी चार प्रकारकी है। (१) अनित्य स्वर्गादि लोक एवं स्वर्गादिलोकके विषयोंमें नित्यताबुद्धि।(२) अशुद्ध शरीर-स्त्री-पुत्रादिके आलिङ्गन-चुम्बन आदि निकृष्ट कार्योंमें शुचित्व-बुद्धि। (३) दुःखात्मक धनादि भोगके साधनोंमें सुखत्व-बुद्धि।

(४) अनात्मा देहादिमें आत्मत्वरूप भ्रमाख्य बुद्धि। पञ्चक्लेशके अन्तर्गत यह चार प्रकारकी कार्याविद्या ही ग्रहण की गयी है।

२. बुद्धि और आत्माके अविवेकसे अभेद बुद्धिका नाम अस्मिता है।

३. प्राचीन विषयानुभवजन्य संस्कारके कारण विषयोंमें भोगेच्छाका नाम राग है।

४. प्रतिकूल विषयोंके नाशकी इच्छा होना द्वेष है।

५. मरणके भयसे शरीरकी रक्षा करनेके आग्रहका नाम अभिनिवेश है। "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" (पात०)

६. सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदशून्य ब्रह्म है।(१) सजतीय-भेद—ब्राह्मणादिकोंमें अन्योन्य भेद हो सजातीयभेद है। (२) विजातीयभेद—वृक्षसे पाषाणादिमें भेदका नाम विजातीयभेद है।(३) स्वगतभेद—अवयवी—शरीरको अपने अवयव-कर-चरणादि एवं वृक्ष-में शाखाभेद ही स्वगतभेद है। **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** सकल द्वैत ब्रह्म-मात्र है, अतः ब्रह्मान्तरके अभावमें सजातीयशून्य ब्रह्म है। ब्रह्मरूप प्रत्यक्चैतन्यसे विलक्षण जड दृश्य प्रपञ्च ही विजातीय है। वह जड दृश्य प्रपञ्च यदि सत्य हो तो ब्रह्म भी विजातीयभेदसहित हो सकता है, किन्तु प्रपञ्च सत्य नहीं है। रज्जुमें आरोपित सर्पवत् मिथ्या है। जो वस्तु मिथ्या है वह अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होती। अतः विजातीयभेदशून्य भी ब्रह्म है। ब्रह्म निरवयव भी है—सच्चिदा-नन्दादि ब्रह्मके स्वरूप—लक्षण होनेसे असाधारण धर्म हैं अवयव नहीं। पुष्पादिगत रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि जैसे पुष्पस्वरूप ही हैं, वैसे ही सच्चिदानन्दादि धर्म भी ब्रह्मके स्वरूपभूत ही धर्म हैं, उससे पृथक् नहीं हैं; अतः स्वगतभेदरहित भी ब्रह्म है—**"एक-मेवाद्वितीयम्।"**

जीव-ब्रह्मैक्य विषयमें आक्षेपका समाधान—

आक्षेप—सर्व शरीरोंमें यदि एक आत्मा हो तब तो ब्रह्मात्मैक्य हो सकता है, किन्तु ऐसा है नहीं; अतः ऐक्य नहीं बन सकता है।

समाधान—आत्माके अनेकत्वमें कोई प्रमाण नहीं है। अज्ञ-जनोंमें प्रसिद्ध आत्मविषयक इन्द्रिय-प्रत्यक्षके अधीन आत्माका भेद नहीं माना जा सकता है। यह इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष भेद तो उपाधिभूत शरीरभेदके कारण प्रतीत होता है। **"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्"** वेद न जाननेवाले अज्ञजन ब्रह्मको नहीं जान सकते हैं। **"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"** इन सब श्रुतियोंसे यही बोध होता है कि वेदसे इतर प्रमाणके द्वारा आत्माका ज्ञान नहीं हो सकता है। **"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः"** इत्यादि श्रुतियोंसे सर्व शरीरोंमें ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तोंमें उपलब्ध आत्मा एक ही है। जैसे अनेक घटमें उपलभ्यमान आकाश एक ही है तथा सर्व शरीरोंमें आत्मा एक ही है।

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"

इन श्रुतियोंसे ब्रह्मात्मैकत्व ही जाना जाता है।

आक्षेप—आत्माके अनेकत्वमें प्रमाणका अभाव नहीं है, प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाण हैं। यथा—

(१) **प्रत्यक्ष प्रमाण**—'ब्राह्मणोऽहं, क्षत्रियोऽहं' ऐसे अहंकार-पूर्वक प्रति प्राणीके शरीरभेदसे आत्माका भेद प्रत्यक्ष है। अहंकार-भेद ही आत्मभेदका नियामक है। सब देहोंमें आत्मा एक माननेपर त्वं, अहं, अयं इत्यादि व्यवहार नहीं हो सकता है। अतः आत्मा नाना प्रत्यक्ष ही है।

(२) **अर्थापत्ति**—आत्माके नाना नहीं माननेपर त्वं, अहं, अयं इत्यादि भेदव्यवहार नहीं बन सकता है। भेदव्यवहारकी सिद्धि

अन्य युक्तिसे नहीं होती, अतः आत्मा नाना स्वीकार करना ही चाहिये।

(३) **अनुमान प्रमाण**—घड़े, सकोरे आदिकी भाँति त्वं, अहं, अयं इस व्यवहारभेदसे और उस-उस शरीररूप व्यक्तिभेदसे भी प्रत्येक शरीरमें आत्मा भिन्न है—यह अनुमान प्रमाण है।

(४) **श्रुति-पुराणादि प्रमाण**—देव, दानव, यक्ष, राक्षस गन्धर्व और किन्नरादि भेद देखे जाते हैं। इससे भी आत्माका नानात्व सिद्ध होता है।

(५) **युक्ति**—यदि सर्व शरीरोंमें एक आत्मा स्वीकार करें, तब एकके सुख-दुःखसे सबको सुख-दुःखका सांकर्य होगा एवं एकके ज्ञानसे सभी ज्ञानी हो जायँगे—ऐसा माननेपर विधि-प्रतिषेध-शास्त्र-की भी व्यर्थताका प्रसंग होगा; क्योंकि ज्ञानी विधि-निषेधसे अतीत होता है। तथा एकके बन्धसे सबको बन्धका प्रसंग भी होगा। अतः आत्मा नाना है यही मानना चाहिये।

समाधान—(१) वादीने जो कहा कि 'अहं अहं' इस ज्ञानके भेदसे आत्मा नाना है, यह कहना ठीक नहीं है। 'अहं शिशुः' 'अहं कुमारः' 'युवाहं' 'अहं वृद्धः' इत्यादि व्यवहारोंमें शैशवादि भेदसे अहंप्रत्ययका भेद होनेपर भी सर्वावस्थामें आत्मा एक ही रहता है। यौवनादि अवस्थाओंमें कौमारादि अवस्थान्तरका भेद अनुवृत्त नहीं होता है। तथापि भिन्न सर्वावस्थामें एक ही अहंशब्दाभिधेय आत्माकी अनुवृत्ति अनुभूत होती है। अतः अहंप्रतीतिका भेद आत्मभेदका नियामक नहीं होता है। और भी बात है कि यदि उन-उन अवस्थाओंमें आत्मा भिन्न हो तो बाल्यादि अवस्थाओंके किये हुए कर्मोंका अवस्थान्तरमें ज्ञान नहीं होता, इसलिये आत्माके भेद प्रत्यक्ष नहीं हैं।

(२) एक ही देहमें जैसे अवयवभेदके आश्रयसे शिर, पाणि, पाद

आदि व्यवहार सिद्ध होता है, उसी प्रकार सकल शरीरोंमें एक आत्मा होनेपर भी उस-उस शरीरभेदके आश्रयसे त्वं, अहं, अयं इत्यादि व्यवहार बन सकता है। यह भेदव्यवहार आत्मभेदके कारण नहीं है। अतः भेदव्यवहार-सिद्धि अन्यथा नहीं होती। इसलिये आत्मामें भेद मानना चाहिये इसमें अर्थापत्ति प्रमाण भी नहीं है।

(३) शरीर एवं व्यक्तिभेदसे तथा त्वं, अहं, अयं, इत्यादि व्यवहारभेदसे भी आत्मा नाना है इसमें अनुमान प्रमाण नहीं माना जा सकता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरोंके और जाग्रत्-स्वप्नके शरीरोंके भेद होनेपर भी अहं-अहं यह प्रत्यभिज्ञा-प्रतीति होनेसे आत्मामें नानात्व भेद नहीं हो सकता है।

(४) पूर्वोक्त श्रुति-स्मृति-पुराण और इतिहासादिमें प्रसिद्ध देव-दानव-मनुष्यादि भेदव्यवहार तो ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त तत्तद्देहाधीन है, आत्मसम्बन्धी व्यवहार नहीं है। सब शरीरोंमें चैतन्य एकरूप है, अतः चैतन्यस्वरूप आत्मामें भेद सिद्ध नहीं होता। **"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" "एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "सलील एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति" "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा" "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"** इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे आत्मा एक है, यह प्रतिपादन किया गया है।

(५) एक आत्मा माननेपर प्रत्यक्ष सिद्ध सुख-दुःखादिकी व्यवस्था नहीं बनेगी—यह भी नहीं कह सकते हो; क्योंकि यह सुख-दुःखादि प्रत्यक्ष सिद्ध व्यवहार तो अन्तःकरणरूप उपाधिके कारण ही प्रतीत होता है। तत्तद् उपाधिगत सुख-दुःखकी व्यवस्था तो तत्तत् प्रारब्ध कर्माधीन है। एक ही देहमें सुख-दुःखकी विचित्रता कर्मभेदसे ही होती है। पुण्य-पापरूप कर्मका कार्य सुख-दुःख है, चिदाभासयुक्त तत्तदन्तःकरणरूप उपाधिसे भोक्तामें भेद होनेसे सुख-दुःखकी व्यवस्था सम्भव ही है।

एक आत्मा माननेपर एकके ज्ञानसे सभी ज्ञानी हो जायेंगे, इससे विधि-निषेध-शास्त्र व्यर्थ होगा, यह शङ्का भी नहीं बनती। यद्यपि एक ही आत्मा सब समय सब कुछ जानता है, तथापि तत्तद्देहस्थ अन्तःकरणकी वृत्तिद्वारा ही घट-पटादि विषयविशेषको जानता है। क्योंकि देहभेदके कारण बुद्धिमें भेद है, बुद्धिभेदसे प्रतिदेहमें ज्ञानभेद भी अवश्य होगा।]

साक्षिब्रह्मैक्य विषयमें आक्षेप

जीवातिरिक्त कोई साक्षी नहीं है, साक्षी मानें तो नाना हैं, एक नहीं। सिद्धान्तीने जो कहा कि सुख-दुःखादि अन्तःकरणके धर्म हैं, और अन्तःकरण अनेक हैं। इसलिये एक उपाधिमें स्थित, सुख-दुःखादि धर्मका दूसरे उपाधिसे सम्बन्ध नहीं होता है। साक्षी एक है, सब सुख-दुःखादि साक्ष्यके धर्मसे वह असम्बद्ध है। अतः साक्षीकी ब्रह्मके साथ एकता हो सकती है—यह कहना ठीक नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मविशिष्ट जीवातिरिक्त साक्षी माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। साक्षी-स्वीकारपक्षमें एक साक्षी है—यह मानना भी योग्य नहीं है। अनेक साक्षी है यही युक्त है। यथा—अन्तःकरण और अन्तःकरणके धर्म सुख-दुःखादिको न अन्तःकरण विषय करता है न इन्द्रियाँ ही विषय करती हैं; इसका विषय करनेवाला साक्षी है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है। यदि एक साक्षी है, एक अन्तःकरणगत सुख-दुःखादिका विषय करता है, तो उसी कालमें सर्वान्तःकरणका सुख-दुःख विषय करे, यह अनुभव नहीं होता, इसलिये अनेक साक्षी स्वीकार करना ही युक्त है। इस पक्षमें कोई दोष नहीं है। जिस-जिस अन्तःकरणका जो-जो साक्षी है तत्तद् अन्तःकरणके धर्मोंको विषय करेगा। इस प्रकार अनेक साक्षी माननेपर ब्रह्मसे साक्षीका ऐक्य नहीं बन सकता।

अन्तःकरणको इन्द्रियाँ विषय नहीं कर सकतीं। पञ्चीकृत पञ्चभूत और इनके कार्यको ही इन्द्रियाँ विषय करती हैं। इसमें आगे कहे जानेवाले भेद हैं। चक्षु इन्द्रिय नील, पीतादि वर्णयुक्त घटादिनिष्ठ नैल्यादि और उसके आधारभूत घट दोनोंको देखता है। त्वगिन्द्रिय भी स्पर्श एवं स्पर्शके आश्रय दोनोंको विषय करता है। किन्तु जिह्वा, घ्राण और श्रवण यह तीनों इन्द्रियाँ वस्तु-आश्रित रस, गन्ध एवं शब्दको ही ग्रहण करती हैं आश्रयको विषय नहीं करती हैं। अतः इन तीन इन्द्रियोंसे भी अन्तःकरण विषय नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार चक्षु और त्वगिन्द्रिय भी अन्तःकरणको विषय नहीं कर पातीं। क्योंकि वाह्य पञ्चीकृतभूत, तत्कार्यरूप आश्रय तथा स्पर्श और स्पर्शके आश्रयको ही चक्षु और त्वक्से विषय किया जाता है। अन्तःकरण अपञ्चीकृत भूतका कार्य है, अतः नेत्र त्वक्का विषय नहीं है। अपञ्चीकृत भूतके कार्य नेत्रेन्द्रियको भी नेत्र विषय नहीं करता है। वाह्य वस्तु ही इन्द्रियोंकी विषय होती है। इन्द्रियोंकी अपेक्षा अन्तःकरण अन्तर है, इसलिये वह इन्द्रियोंका विषय नहीं होता है।

अन्तःकरण अपनी वृत्तिका भी विषय नहीं होता

अन्तःकरण अपनी वृत्तिके द्वारा भी विषय नहीं किया जाता। अन्तःकरण अपनी वृत्तिका आश्रय है, आश्रय होनेसे वृत्ति अन्तःकरणको विषय नहीं कर सकती है। जैसे अग्निके आश्रित जो दाहक शक्ति है, वह अपने आश्रय अग्निसे इन्धनको ही विषय करती है, उसी प्रकार अन्तःकरणकी वृत्ति भी अपने आश्रय अन्तःकरणभिन्न वाह्य वस्तुको ही विषय करती है। तात्पर्य यह कि अन्तःकरण अपनी वृत्तिका विषय नहीं होता है।

अन्तःकरणधर्म भी अन्तःकरणकी वृत्तिका विषय नहीं होता

इसी प्रकार अन्तःकरणकी वृत्ति अपने आश्रय अन्तःकरणके

आश्रित राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि धर्मोंको भी विषय करनेमें समर्थ नहीं होती। यदि अन्तःकरणकी वृत्ति अपने आश्रय अन्तःकरणको विषय करती, तव तदाश्रित तद्धर्मभूत सुख-दुःखादिको भी विषय करती। क्योंकि अन्तःकरणको विषय करनेवाली वृत्ति अन्तःकरणके सम्मुख नहीं होती है; अतः अन्तःकरणके समान तद्धर्म भी अन्तःकरणवृत्तिका विषय नहीं होता। यह नियम है कि वृत्ति अपने आश्रयसे कुछ दूर वस्तुको ही विषय करती है; न अत्यन्त दूरस्थ को, न अत्यन्त समीपकी वस्तुको। जैसे नेत्रकी वृत्ति अपने आश्रय नेत्रमें स्थित अञ्जनको समीप होनेसे विषय नहीं करती, उसी प्रकार अन्तःकरणकी वृत्ति भी अपने आश्रयगत अत्यन्त समीप सुख-दुःखादि धर्मको विषय नहीं करती। इसी प्रकार अन्तःकरण एवं तद्धर्मको अन्तःकरणकी वृत्ति विषय नहीं करती किन्तु केवल साक्षीसे ही विषय किया जाता है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

अनेक साक्षीका एक ब्रह्मके साथ ऐक्य सम्भव नहीं है। इस प्रकार अन्तःकरण और अन्तःकरणके धर्म केवल साक्षी-वेद्य हैं इस मतमें एक साक्षीका अङ्गीकार करना योग्य नहीं है। पूर्व प्रदर्शित रीतिसे एक साक्षीसे जव अन्तःकरणस्थ सुख-दुःख विषय किया जायगा, तव सर्वान्तःकरणगत सुख-दुःखोंको भी विषय करनेका प्रसंग अवश्य होगा। लोकमें ऐसा अनुभव नहीं होता, अतः अनेक साक्षी ही स्वीकार करना चाहिये। अनेक साक्षी स्वीकार करनेपर कोई दोष नहीं होता—यह वात पहिले दिखा चुके हैं। उसी प्रकार अनेक साक्षीका एक ब्रह्मसे ऐक्य भी नहीं हो सकता।

विषय-विषयक आक्षेपोंके समाधान

साक्षीका स्वरूप

वादीने कहा कि राग-द्वेषादि क्लेशविशिष्ट जीव है, ब्रह्म इससे

रहित है, अतः इन दोनों जीव और ब्रह्मका ऐक्य ग्रन्थका विषय सिद्ध नहीं होता। यद्यपि यह बात ठीक है, तथापि राग-द्वेषादिरहित साक्षीका ब्रह्मसे ऐक्य बन सकता है। और भी कहा कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व-धर्मविशिष्ट जीवसे अन्य वन्ध्यापुत्रके सदृश कोई साक्षी नहीं है, यह कहना योग्य नहीं है। उपहित होनेसे साक्षी है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप सांसारिक विशेषणोंसे युक्त जो विशेष्य अंश है वही साक्षी है। उस साक्षीके निषेधसे संसारीके विशेष्यांशका ही अपलाप होगा, इस विशेष्यांशके अभावमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वस्वरूप संसारीका ही अभाव हो जायगा। एक ही चैतन्यको जहाँ साक्षी कहा जाता है वहाँ अन्तः-करण उपाधि होता है। जब उसीको कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट जीव कहा जाय तब अन्तःकरण उसका विशेषण हो जाता है। विशेषणसे युक्तको विशिष्ट और उपाधिसे युक्तको उपहित कहा जाता है।

"कार्यानन्वयित्वे सति विद्यमानत्वे सति व्यावर्तकः उपाधिः।"
अर्थात्—जो वस्तु अपने समीपस्थ वस्त्वन्तरको व्यावर्तन करता है और स्वयं वस्तुसे सम्बन्ध नहीं रखता, उसका नाम उपाधि है। जैसे न्यायमतमें कर्णगोलकान्तर्गत जो आकाश है, उसका नाम श्रोत्रेन्द्रिय है। यहाँ कर्णगोलक श्रोत्रका उपाधि है। क्योंकि कर्ण-गोलक स्वावच्छिन्न आकाशको श्रोत्रेन्द्रियत्व बोधन कराकर स्वयं उससे असम्बद्ध ही रहता है। इसलिये कर्णगोलक श्रोत्रका उपाधि है। इसी प्रकार अन्तःकरण भी अपनेसे उपहित चैतन्यको साक्षी बोध कराकर स्वयं उससे (चैतन्य) से असम्बद्ध रहता है। अतः अन्तःकरण साक्षीका उपाधि है। अन्तःकरणस्थ चैतन्यमात्र साक्षी सिद्ध होता है।

जीवका स्वरूप

"कार्यान्वयित्वे सति विद्यमानत्वे सति व्यावर्तकं विशेषणम्" अर्थात् अपने साथ अन्य वस्तुका जो अवभासक है वह विशेषण कहलाता

है। जैसे 'कुण्डलो आगतः' इस वचनमें कुण्डल विशेषण है, अपने सहित पुरुषके आगमन क्रियाके कर्तृत्वका बोध कराता है। यथा वा 'नीलं घटमपश्यम्' यहाँ नीलवर्ण घटका विशेषण है, नीलवर्ण अपने सहित घटरूप कार्यका दर्शन कराता है। इसी प्रकार अन्तःकरण भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट जीव चैतन्यका विशेषण है। स्वाव-च्छिन्न—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वव्यवहारके आस्पदत्वका बोध करता है। संसारी जीवका अन्तःकरण विशेषण है। इसलिये अन्तःकरण एवं तदवच्छिन्न चैतन्यको एक करके संसारी यह व्यपदेश है। इसका आगे स्पष्टीकरण किया जायगा।

ऐक्यकी सिद्धि

राग-द्वेषादि क्लेश संसारीको ही हैं, साक्षीमें नहीं हैं। संसारीका विशेषणरूप अन्तःकरण ही उनका आश्रय है, विशेष्यांश चैतन्य नहीं। संसारी विशेषणके विशेष्यांशभूत चैतन्यमें साक्षीका व्यवहार होता है। एक ही चैतन्य अन्तःकरणसे विशिष्ट हुआ तो उसका नाम संसारी (जीव) कहा जाता है। विशेषणरहित चैतन्यका नाम साक्षी है। इसलिये साक्षीस्वरूप और संसारीके विशेष्य स्वरूपमें शब्दमात्र भेद है, अर्थ—वस्तुमें भेद नहीं है। यदि विशेष्य रूपमें भी क्लेश स्वीकार करें तब तो साक्षीमें क्लेश अङ्गीकृत हो जायँगे। किन्तु यह इष्ट नहीं है। **"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" "स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्" "न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्"** इत्यादि श्रुतियोंसे साक्षीमें क्लेशका गन्ध भी नहीं है—यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अतः संसारीके विशेष्य रूपमें क्लेश नहीं हैं, किन्तु विशेषणीभूत अन्तःकरणमात्रमें ही क्लेशादि होते हैं। **"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी-रित्येतत्सर्वं मन एव" "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" "अकामं रूपं**

शोकान्तरम्'' ''तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति''। इत्यादि।

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद् बुद्धेस्तु नात्मनः॥

इस वृद्धवचनसे भी रागादि बुद्धिके धर्म कहे गये हैं, जीवात्माके धर्म नहीं कहे गये हैं। इसलिये अन्तःकरणविशिष्ट जीवकी ब्रह्मसे एकता सम्भव न होनेपर भी अन्तःकरणोपहित साक्षीके साथ एकता होती ही है।

साक्षी नाना होनेपर भी एक ब्रह्मसे ऐक्य सम्भव होता है—

पूर्वपक्षीने कहा कि अनेक साक्षीका एक ब्रह्मके साथ ऐक्य सम्भव नहीं होता, ऐक्य मान भी लें तो ब्रह्मके समान साक्षीको भी सर्वशरीरवर्तित्व, व्यापकत्व और एकत्व सिद्ध होनेसे एक साथ सर्वशरीरमें सुख-दुःख-साक्षात्कारका प्रसंग होगा! यह कहना ठीक नहीं है। साक्षी दो प्रकारके होते हैं, ईश्वर साक्षी और जीव साक्षी, जिसमें ईश्वर साक्षी एक तथा जीव साक्षी अनेक और परिच्छिन्न होता है, तथापि व्यापक ब्रह्मसे भिन्न नहीं होता। जैसे घटाकाश नाना एवं परिच्छिन्न होते हुए भी महाकाशसे अभिन्न होनेसे महाकाश-स्वरूप ही होता है। उसी प्रकार जीव साक्षी नाना और परिच्छिन्न होते हुए भी तत्त्वतः ब्रह्मसे अभिन्न है। अभिन्न होनेसे ब्रह्मस्वरूप ही है।

सुख-दुःखादि वृत्त्यारूढ़ साक्षीके विषय हैं—

वादीने कहा कि सुख-दुःखादि अन्तःकरणकी वृत्तिके विषय नहीं होते, यह कहना भी ठीक नहीं है। यद्यपि सुख-दुःखादि साक्षी-भास्य हैं, तथापि केवल साक्षी सुख-दुःखादिको प्रकाशित नहीं करता है। किन्तु वृत्तिद्वारा ही प्रकाशित करता है। जिस कालमें अन्तःकरण सुख-दुःखाकारमें परिणत होता है, उसी कालमें अन्तः-

करणमें ज्ञानरूपा वृत्ति भी सुख-दुःखादिको विषय करनेवाली होती है। तादृश ज्ञानरूप वृत्तिमें आरूढ़ होकर ही साक्षी सुख-दुःखको प्रकाश करता है। इस रूपसे सुख-दुःखादि साक्षीके विषय होते हैं। वृत्तिके विना केवल साक्षीके विषय नहीं होते। ऐसा प्राचीन ग्रन्थ-कार मानते हैं।

यहाँ यह रहस्य है कि—केवल आकाशमें 'घटाकाश' यह नाम तथा जलाहरणादि कार्य घटरूप उपाधि होनेके पश्चात् ही प्रतीत होता है उपाधिदृष्टिके विना नहीं हो सकता। उपाधिदृष्टिके अभावमें तो केवल आकाशमात्र प्रतीत होता है। अतः घटाकाश भी महाकाश ही है, विकार वाचारम्भणमात्र होनेसे मिथ्या ही है। इसी प्रकार साक्षात् शुद्ध चैतन्यमात्रमें 'साक्षी' यह नाम एवं सुख-दुःखादिके आश्रय अन्तःकरणमें प्रकाशकत्वरूप कार्य अन्तः-करणरूप उपाधिके विना नहीं बनता, उपाधिके रहनेपर ही बन सकता है। उपाधिदृष्टिके अभावमें तो केवल 'चिन्मात्र' ही भान होता है। इसीलिये साक्षी भी ब्रह्म ही है। इसी अभिप्रायसे कहा गया है 'साक्षी एक एव' इति। उपाधिप्रयुक्त भेददृष्टिके विना स्वतः साक्षीको अनेकत्व परिच्छिन्नत्वादि नहीं भासित हो सकता है। यही साक्षी जीववाचक 'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ है। आगे इसका स्पष्टीकरण किया जायगा। इस प्रकार जीव-ब्रह्मकी एकता इस ग्रन्थका विषय ठीक ही कहा गया है।

प्रयोजनविषयक आक्षेप—

ज्ञानसे बन्ध निवृत्त नहीं होता; क्योंकि बन्ध सत्य है, यह आक्षेप है। अहंकारसे देहपर्यन्त अनात्मभूत दृश्य सभी वस्तुसमूह बन्ध कहा गया है। वह बन्ध यदि अध्यस्त हो तब तो ज्ञानसे निवृत्त हो सकता है। यदि अध्यस्त नहीं है तो ज्ञानसे निवृत्त नहीं होगा। ज्ञानका यह स्वभाव है कि स्वविषयीभूत वस्तुनिष्ठ अज्ञान तथा

अज्ञानके कार्य अध्यासको निवृत्त करता है। जैसे रज्जुका साक्षात्-कार स्वविषयीभूत रज्जुमें अध्यस्त सर्पादिको एवं रज्जुविषयक अज्ञानको भी निवृत्त करता है। भ्रम-ज्ञानके विषयीभूत मिथ्या वस्तु तथा तद्विषयक भ्रान्तिज्ञानको 'अध्यास' कहते हैं।

['अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिः—अतस्मिन् कालत्रयेऽपि सर्पाभाववति रज्ज्वादौ तद्बुद्धिः-प्रातिभासिकसर्पादिबुद्धिः तादृशसर्पादि तज्ज्ञानं चाध्यास इत्युच्यते।' यह अध्यास दो प्रकारका है। अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास। भ्रान्तिज्ञानका विषयीभूत जो मिथ्या सर्पादि है वह अर्थाध्यास है। भ्रान्तिज्ञान—मिथ्यावस्तु-का मिथ्याज्ञान ज्ञानाध्यास है। यह ज्ञान दो प्रकारका होता है, परोक्ष एवं अपरोक्ष। वह ज्ञान विषयाधीन होता है। ज्ञानाध्यास ही मिथ्याज्ञान-भ्रान्तिज्ञान कहलाता है।

अर्थाध्यास भी स्वरूपाध्यास तथा संसर्गाध्यास भेदसे दो प्रकारका होता है। अज्ञान तथा तत्कार्यादिका चेतन आत्मामें जो अध्यास है वह स्वरूपाध्यास है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माका अज्ञान एवं तत्कार्यादिमें जो अध्यास है, उसका नाम संसर्गाध्यास है।]

जो वस्तु मिथ्या नहीं है, सत्य है, उसकी ज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार आत्मामें भी अहंकारादि यदि अध्यस्त हो तब तो ज्ञानसे निवृत्त होता। आत्मामें मिथ्याभूत बन्धा-ध्यासकी सामग्री नहीं है, तथापि आत्मामें बन्ध प्रतीत होता है। अतः यह बन्ध सत्य है। सत्य होनेसे ज्ञानसे निवृत्तिकी आशा नहीं है।

बन्धनिवृत्ति ज्ञानतैं, बनै न बिन अध्यास।
सामग्री ताकी नहीं, तजो ज्ञानकी आस॥

अध्याससामग्री

१. सत्यवस्तुके अनुभवज्ञानजन्य संस्कार, २. प्रमातृदोष, ३. प्रमाणदोष, ४. प्रमेयदोष, ५. अधिष्ठानविशेषका अज्ञान एवं तत्सा-मान्यका ज्ञान—ये पाँच अध्यासकी सामग्री हैं। इन सामग्रियोंके विना अध्यास सिद्ध नहीं होता। शुक्तिमें रजत एवं रज्जुमें सर्पका अध्यास होता है। जिस व्यक्तिको परमार्थ—सत्य रजत और सर्पका अनुभवाहित संस्कार है अर्थात् जिसने रजत और सर्प देखा है, उसीको अध्यास होता है। जिसको अनुभवाहित संस्कार नहीं है, उसको अध्यास नहीं होता है। यहाँ सत्य वस्तुका प्रमाहित संस्कार अध्यासका हेतु है। क्योंकि शुक्तिमें सर्प और रज्जुमें रजतका अध्यास नहीं होता है। अतः प्रमेयगत सादृश्यदोष भी अध्यासका हेतु है। [प्रमेय रज्जु-में सर्पवत् कौटिल्य-दीर्घत्वादि एवं शुक्तिमें रजतके तुल्य चाकचिक्य प्रमेयगत दोष है।] प्रमातृ (जीव) गत लोभादि दोष भी अध्यासका हेतु है। चक्षुरादि प्रमाणगत काच-कामलादि दोष भी अध्यासका हेतु है। शुक्तिकामें रजताध्यास कालमें 'इयम्' इस अधिष्ठानसामान्य-का ज्ञान होते हुए भी 'शुक्ति' यह विशेष ज्ञान नहीं होनेसे अध्यास होता है। शुक्ति है यह विशेष ज्ञान हो, 'इयम्' यह सामान्य ज्ञान न हो तो अध्यास नहीं होता। अतः अधिष्ठानसामान्यका ज्ञान भ्रान्ति-कालमें भी जिसका भान हो जिसके विना भ्रान्ति ही नहीं हो वह सामान्यांश तद्विशेषका अज्ञान भी अध्यासका हेतु है। पूर्वोक्त पाँच सामग्रियोंमेंसे एकके भी अभावमें अध्यास सिद्ध नहीं हो सकता है। घटकी उत्पत्तिमें चक्र, चीवर, दण्ड, मृत्तिका और जल इनमें एकका भी अभाव होनेपर घट नहीं बन सकता, उसी प्रकार अध्यासकी सामग्रियोंमेंसे एकके अभावमें भी अध्यास नहीं हो सकता है। इस-लिये पूर्वोक्त पाँचों सामग्रियोंकी आवश्यकता है, तभी अध्यास बनेगा।

हानि होगी। एवं निर्विशेष स्वप्रकाशस्वरूप ब्रह्ममें विशेष अज्ञान तथा सामान्य ज्ञान असम्भव होनेसे अध्यास नहीं कहा जा सकता है। अतः ब्रह्ममें बन्ध अध्यस्त है—यह कहना योग्य नहीं है। प्रत्युत बन्ध सत्य है, यही कहना चाहिये। सत्य होनेसे ज्ञानसे निवृत्ति भी नहीं हो सकती। अतः ज्ञानसे बन्धनिवृत्त्यात्मक मोक्ष ही इस ग्रन्थका प्रयोजन है यह कहना सर्वथा असंगत है।

कर्मसे ही मोक्ष सिद्ध होता है, इस ऐकभविक वादको अवलम्बन करके आक्षेप—

कर्म अवश्य करना चाहिये—ज्ञानमात्रसे सत्यबन्धकी निवृत्ति नहीं होती यह बात कही गयी है। इसके आगे ऐकभाविकके मतमें कर्मसे ही मोक्ष होता है, इस अभिप्रायका विस्तार किया जाता है। मुमुक्षुओंको जीवनपर्यन्त नित्य-नैमित्तिक कर्म करते रहना चाहिये।

कर्मका विवरण—कर्म दो प्रकारका होता है, विहित एवं प्रतिषिद्ध। प्रवृत्ति मार्गके अधिकारी व्यक्तिके लिये वेदमें प्रतिपादित कर्मका नाम विहित कर्म है। वेदमें जिसका निषेध है, वह प्रतिषिद्ध कहलाता है।

स्वाभाविक राग-द्वेषके वशसे अनुष्ठीयमान चेष्टारूप क्रियाका नाम कर्म है। भाव यह कि प्रवृत्ति तथा निवृत्तिके लिये वेदोक्त क्रिया ही कर्म है। उसमें विहित कर्म चार प्रकारके होते हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त। पाप-परिहारके लिये किया गया कर्म प्रायश्चित्त कहलाता है। स्वर्गादि फलके उद्देशसे विहित कर्मका नाम काम्य कर्म है। जिस कर्मके न करनेसे पाप हो एवं करनेसे पाप-पुण्य न हो तथा नित्य करनेका विधान भी हो उसका नाम नित्य कर्म है। जो सूर्योपराग (सूर्यग्रहण), संक्रान्ति आदि विशेष निमित्तसे विहित कर्म है, वह नैमित्तिक है। यह चार प्रकारके विहित कर्म हैं। तथा पाँचवाँ निषिद्ध कर्म है। एक कर्म वह है

जिसका विधि-निषेध नहीं है अर्थात् सर्वसाधारण जीवमात्रका देहेन्द्रियादिका व्यापार (हलचल)—इसका नाम उदासीन कर्म है।

मुमुक्षुके द्वारा अनुष्ठेय कर्मोंका निरूपण—

मुमुक्षुओंको निषिद्ध और काम्य कर्म नहीं करना चाहिये। काम्य कर्मका अनुष्ठान देवादि उत्तम जन्मका हेतु होता है। तथा निषिद्ध कर्म कृमि-कीटादि स्थावर-जन्मका कारण होता है। अतः मुमुक्षुको इनको छोड़कर नित्य, नैमित्तिक कर्मोंका ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये। यदि नित्य-नैमित्तिक कर्म न किया तो प्रत्यवाय होगा और प्रत्यवायसे तिर्यगादि योनि प्राप्त होगी। अतः पाप-परिहारके लिये नित्य-नैमित्तिक कर्मका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये। नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका पाप-परिहारके सिवा अन्य कोई फल नहीं होता। अतः अवश्य करते रहना चाहिये।

प्रायश्चित्त कर्म भी मुमुक्षुको करना ही चाहिये। प्रसंगवश प्रमादसे कदाचित् पाप कर्म हो जाय तो उस दोषके परिहारके लिये प्रायश्चित्त कर्म कर्तव्य होता है।

इस जन्ममें निषिद्ध कर्म सम्भव न होनेपर भी जन्मान्तरमें किये गये पापके परिहारके लिये साधारण प्रायश्चित्त सबको अवश्य करना चाहिये। प्रायश्चित्त भी दो प्रकारका होता है—एक साधारण, दूसरा असाधारण। अमुक पापका अमुक प्रायश्चित्त है—इस प्रकार शास्त्रविहित विधिका नाम असाधारण प्रायश्चित्त है। सकल पाप-क्षयके लिये विहित साधारण प्रायश्चित्त कहलाता है। जिस पाप-निवृत्तिके लिये जो प्रायश्चित्त किया जाता है, उससे उसी पापकी निवृत्ति होती है।

साधारण प्रायश्चित्तके दो प्रकारके फल

साधारण प्रायश्चित्तसे सभी पाप निवृत्त होते हैं। गङ्गा-स्नानादि साधारण प्रायश्चित्त हैं, किन्तु इनसे केवल पापकी निवत्ति

बन्ध-अध्यासमें प्रथम सामग्रीका अभाव

अध्यासमें एक भी सामग्री नहीं है। क्योंकि यदि अन्यत्र कभी सत्य बन्ध अनुभूत होता तो तत्प्रमाजन्य संस्कारवशात् आत्मामें बन्धाध्यास उत्पन्न होता, किन्तु ऐसी बात नहीं है। वेदान्त सिद्धान्त-में आत्मासे अन्य सभी वस्तु मिथ्या स्वीकार की गयी है। अतः प्रमाहित ज्ञानजन्य संस्कारका अभाव होनेसे आत्मामें मिथ्या बन्धा-ध्यास नहीं हो सकता है।

द्वितीय और तृतीय सामग्रीका भी अभाव

प्रमाता (जीव) प्रमाण (इन्द्रियादि) गत दोष बन्धाध्यासमें कारण होता है। वह दोष भी यहाँ नहीं है; क्योंकि प्रमातादि निखिल प्रपञ्च ही अध्यास है, वह अध्यास ही बन्ध है यह वेदान्तका सिद्धान्त है। [चैतन्यस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न अज्ञान एवं तत्कार्य स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च तथा द्वैतमात्र समस्त दृश्य चैतन्य ब्रह्ममें अध्यस्त हैं, इसीमें अन्तःकरणात्मक प्रमाता और प्रमाण भी अध्यस्त ही हुए। प्रपञ्चाध्याससे पूर्व ही प्रमातादि प्रपञ्च अध्यास होनेसे मिथ्या है। अतः अध्यासका कारण सिद्ध नहीं होता। यह उपनिषद्का सिद्धान्त है।] तथा अध्यासके पूर्व ही प्रमाता और प्रमाणके स्वरूप असिद्ध होनेसे तद्गत दोष भी सुतरां असिद्ध होंगे। अतः प्रमाता और प्रमाणमें दोषके असिद्ध होनेसे बन्धाध्यास सिद्ध नहीं होता।

चतुर्थ सामग्रीका भी अभाव

बन्ध और आत्मा इन दोनोंका स्वरूप तम और प्रकाशके समान विरुद्ध होनेसे परस्पर सादृश्यरूप प्रमेयदोष भी नहीं है। आत्मा प्रत्यक् और आन्तर है। बन्ध—अनात्मा पराक् और बाह्य है। आत्मा विषयी—प्रकाशक, बन्ध विषय—प्रकाश्य एवं जड है। प्रत्यक्-में पराक्का तथा पराक्में प्रत्यक्का अध्यास सम्भव नहीं होता।

जैसे पुत्रकी अपेक्षा स्वदेह प्रत्यक् है, अपने देहमें पुत्रादिकोंका तथा पुत्रादिमें स्वदेहका अध्यास नहीं होता है। जैसे विषयात्म घटादिमें विषयी दीपादिका एवं दीपादि विषयीमें घटादि विषयका अध्यास नहीं होता, वैसे ही सादृश्यके अभावमें प्रत्यक् विषयी आत्मामें पराक् विषयरूप अनात्माका बन्ध अध्यास नहीं हो सकता। जैसे पराक्-प्रत्यक्का परस्पर विरोध है, उसी प्रकार विषय और विषयीका भी परस्पर विरोध है। अतः आत्मा और अनात्मामें परस्पर सादृश्याभाव होनेसे बन्धाध्यास नहीं कहा जा सकता है।

पञ्चम सामग्रीका भी अभाव

बन्धका अधिष्ठान ब्रह्म स्वयंप्रकाश एवं ज्ञानस्वरूप होनेसे बन्धाध्यासमें अधिष्ठानके विशेषांशका अज्ञान भी सम्भव नहीं है। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' ऐसी श्रुति है। इस प्रकार ब्रह्ममें अज्ञान कभी भी सम्भव नहीं होता, जैसे आदित्यमें अन्धकार। जैसे प्रकाशा-त्मक सूर्यमें अन्धकारका विरोध अपरिहार्य है, इसी प्रकार स्व-प्रकाश चैतन्यस्वरूप ब्रह्मका और तमरूप अज्ञानका परस्पर विरोध भी अपरिहार्य ही है। अतः स्वयंप्रकाशरूप होनेसे अधिष्ठान तद्वि-शेषांशका अज्ञान भी सम्भव नहीं है।

ब्रह्म निर्विशेष है इसलिये भी अध्याससामग्रीका अभाव

इससे भी ब्रह्ममें बन्धाध्यास सम्भव नहीं है कि अत्यन्त अवि-ज्ञात अथवा विशेष ज्ञात अधिष्ठानमें अध्यास नहीं होता। विशेषांश अज्ञात सामान्यांश ज्ञात अधिष्ठानमें ही अध्यास होता है। ब्रह्म तो सामान्यांश एवं विशेषांशादि धर्मशून्य है, निर्विशेष है—यह वेदान्त-का सिद्धान्त है। सर्वधर्मशून्य ब्रह्मको विशेषतः अज्ञात तथा सामा-न्यतः ज्ञात कैसे कह सकते हैं। यदि अध्यासके लोभसे सामान्य-विशेष धर्म स्वीकार कर लें तो 'ब्रह्म निर्विशेष है' इस सिद्धान्तकी

ही नहीं होती, कामियोंके काम्य भी सफल हो जाते हैं एवं प्रायश्चित्त-रूपसे पापक्षय भी। गङ्गा-स्नान, ईश्वर-नामोच्चारणादि शास्त्र-विहित होनेसे देवादि लोकप्राप्तिके हेतु काम्य और पाप-परिहारके कारण प्रायश्चित्त होते हैं। जैसे अश्वमेध यज्ञ ब्रह्महत्यादि पापोंको दूर करता है तथा स्वर्गादि काम्यफल भी देता है। अतः उभयात्मक है। इसी प्रकार गङ्गा-स्नान एवं ईश्वर-नामोच्चारणादि कामियोंको पाप-परिहारद्वारा उत्तम लोक भी देते हैं और पाप-परिहार भी करते हैं। किन्तु जिनको उत्तम लोककी कामना नहीं है, उन मुमुक्षु-ओंका केवल पाप-परिहार ही करते हैं। जैसे वेदान्तियोंके मतमें समस्त कर्म कामनासे किये जानेपर संसारके कारण होते हैं और निष्काम करनेपर अन्तःकरणशुद्धिद्वारा मोक्षके कारण होते हैं। अतः मुमुक्षुको साधारण प्रायश्चित्त करना चाहिये। इस रूपसे जन्मान्तरके सारे संचित पापोंका विना ज्ञान हुए भी नाश हो जायगा।

मुमुक्षुको संचित काम्यकर्म भी फलका हेतु नहीं होता

मुमुक्षुओंके जन्मान्तरमें अनुष्ठित काम्यकर्म भी वन्ध्या स्त्रीके समान फल उत्पन्न नहीं करता है। जैसे वेदान्तियोंके सिद्धान्तमें कर्म अनुष्ठान-कालमें फलेच्छा होनेपर ही स्वर्गादि प्राप्तिका हेतु होता है, फलेच्छाके अभावमें स्वर्गादिका हेतु नहीं होता है, उसी प्रकार ऐकभविकके मतमें भी पुरुषकी इच्छाके अनुसार ही कर्म फल देने-वाला होता है। यद्यपि जन्मान्तरमें फलेच्छासे काम्य कर्मका अनु-ष्ठान किया है, तथापि इस समय उसी पुरुषको मुमुक्षु होनेसे फलेच्छा निवृत्त हो जानेपर संचित काम्य कर्म फलका हेतु नहीं होता है। जैसे कोई दरिद्र किसी धनीकी धनकी इच्छासे आराधना करता है; किन्तु यदि कुछ कालके बाद किसी हेतुसे भाग्योदय होनेपर धनकी इच्छा निवृत्त हो गयी तो उसको उस धनीसे धनलाभरूप सेवा-फल

नहीं प्राप्त होता है, उसी प्रकार फलेच्छासे किया हुआ काम्यकर्म भी फलेच्छा निवृत्त हो जानेपर फल देनेवाला नहीं होता। अतः केवल कर्मसे भी मोक्ष होता है।

मुमुक्षुके प्रारब्ध कर्मका भोगसे नाश

वर्तमान जन्ममें काम्य, निषिद्ध कर्म नहीं किया इसलिये ऊर्ध्व-लोक या अधोलोक प्राप्त नहीं होगा। जन्मान्तरके प्रारब्ध, निषिद्ध और काम्यकर्मोंका फलभोगसे क्षय हो जाता है। नित्य-नैमित्तिक न करनेसे जो प्रत्यवायरूप पाप होता है वह उनका अनुष्ठान करनेके कारण होगा ही नहीं। जन्मान्तरके संचित और निषिद्ध कर्मोंका साधारण प्रायश्चित्तसे नाश हो जायगा तथा जन्मान्तरके संचित एवं काम्य कर्म इच्छाके अभावमें फल देंगे ही नहीं। अतः मुमुक्षुको नित्य-नैमित्तिक और साधारण प्रायश्चित्त कर्म करना चाहिये। वर्तमान जन्मके बुद्धिपूर्वक किये गये पाप-क्षयके लिये असाधारण प्रायश्चित्त भी करता रहे।

मुमुक्षुको प्रायश्चित्त भी आवश्यक नहीं

केवल नित्य-नैमित्तिक कर्म ही करे, प्रायश्चित्त न करे। मुमुक्षु-को संचित, काम्य एवं निषिद्ध कर्म निष्फल होते हैं। जैसे वेदान्तके मतमें ज्ञानीके संचित कर्मोंका नाश हो जाता है, उसी प्रकार हमारे (ऐकभविक) के मतमें भी निषिद्ध तथा काम्य कर्मको त्यागकर एकमात्र नित्य-नैमित्तिक कर्मके अनुष्ठानसे समस्त संचितका नाश हो जाता है। अथवा समस्त संचित एवं निषिद्ध और काम्य सब मिलकर एक ही जन्म देंगे। अतः वर्तमान जन्मसे अन्य एक जन्म और होगा। ऐसा मानना चाहिये। अथवा वह योगियोंके कायव्यूह-के समान भावी एक जन्ममें ही समस्त संचित कर्मोंसे एक साथ ही अनन्त शरीर धारण करके अशेष कर्मोंके फल भोग लेगा। अथवा नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानजन्य दुःख ही समस्त संचित और

निषिद्धका फल है, उसको भोग लेनेपर जन्मान्तरका संचित एवं निषिद्ध कर्म पुनर्जन्मका हेतु नहीं होगा। समस्त काम्य कर्म भावी एक ही जन्ममें अनेक शरीरद्वारा अपना फल दे देगा। मुमुक्षुको जो एक जन्म होगा, उसमें क्लेशका लेश भी नहीं होगा, क्योंकि उसका वह जन्म जन्मान्तरके समस्त पुण्यका फल है। अतः सुखमय ही होगा। तथा समस्त संचित एवं निषिद्ध कर्म नित्य-नैमित्तिकके अनुष्ठानजनित क्लेशसे एक ही जन्ममें नष्ट हो जाता है। इस प्रकारकी व्यवस्थासे प्रायश्चित्त कर्मके विना ही नित्य-नैमित्तिक कर्म मोक्ष प्रदान कर देगा। अतः मुमुक्षुको सदा नित्य-नैमित्तिक कर्मका अवश्य अनुष्ठान करते रहना चाहिये। यह शास्त्रप्रसिद्ध ऐकभविकका कथन है। भाव यह कि कर्मसे बन्धनिवृत्ति होनेपर यह ग्रन्थ विफल होगा।

प्रयोजनविषयक आक्षेपोंका समाधान

बन्ध सत्य है, वह ज्ञानसे निवृत्त नहीं हो सकता है—इस आक्षेपका समाधान—

बन्ध मिथ्या नहीं है, बन्ध सत्य है, ज्ञानसे निवृत्त नहीं होता—यह आक्षेप असंगत है। क्योंकि बन्ध मिथ्या है, ज्ञानमात्रसे निवृत्त हो जाता है।

सजातीयज्ञान संसकार तैं अध्यास होत,
सत्यज्ञानजन्य संसकारको न नेम है।
दोपको न हेतुता अध्यासविषैं देखियत,
पटविषै हेतु जैसे तुरी तंतु वेम है॥

सत्यवस्तुका ज्ञान ही अध्यासमें हेतु है यह नियम नहीं है। पूर्वपक्षीने कहा कि परमार्थ—सत्य वस्तुका ज्ञान ही संस्कारद्वारा

अध्यासमें हेतु होता है, जैसे—परमार्थ सर्पका ज्ञान संस्कारद्वारा प्रातिभासिक सर्पका हेतु होता है, यदि बन्ध भी सत्य हो तो सत्य बन्धका ज्ञान हो और वही संस्कारद्वारा अध्यासका हेतु हो। अद्वैत-सिद्धान्तमें यह स्वीकार नहीं है। वेदान्त सिद्धान्तमें तो आत्मासे अन्य सभी अनात्ममात्र मिथ्या है। अतः संस्कारद्वारा अध्यासकी सामग्रीभूत सत्य बन्धज्ञानका अभाव होनेसे 'बन्ध अध्यस्त है' यह नहीं कह सकते। किन्तु सत्य है यह पूर्वपक्षीका कहना ठीक नहीं है।

सत्यवस्तुका ही ज्ञान संस्कारद्वारा अध्यासका हेतु होता है—यह नियम नहीं, वस्तुमात्रका ज्ञान हेतु होता है। ज्ञानका विषयीभूत सत्य हो अथवा मिथ्या हो। यदि सत्य वस्तुका ही ज्ञान संस्कार-द्वारा अध्यासका हेतु मानें तो वक्ष्यमाण अध्यास नहीं हो सकेगा। जैसे किसी पुरुषने सत्य आम्रवृक्षको नहीं देखा, सुना भी नहीं; एक बाजीगरने इन्द्रजालसे आम्रवृक्ष दिखाया तथा बार-बार कहा—'अयं आम्रवृक्षः' यह आम्रका वृक्ष है। उसकी वाणी सुनकर तथा देखकर मिथ्या आम्रवृक्षके ज्ञानके संस्कारसे संस्कृत होता है। तथा कभी किसी प्रमाणसे खजूर वृक्षका भी ज्ञान उसको नहीं है। वही व्यक्ति कहीं मार्गमें जाते समय सहसा खजूरका वृक्ष देखता है तो उसको देखकर उसे यह आम्रवृक्ष है यह अध्यास होता है। वादीके मतमें यह अध्यास नहीं होना चाहिये। क्योंकि सत्य आम्रविषयक प्रमाहित संस्कार नहीं है। सिद्धान्तमें ऐन्द्रजालिक-द्वारा दर्शित मिथ्या आम्रवृक्षका ज्ञानजन्य संस्कार है, अतः खजूर-में आम्रवृक्षका अध्यास हो सकता है। पूर्व-पूर्व सजातीय वस्तुका ज्ञानजन्य संस्कार ही उत्तर-उत्तर अध्यासका हेतु होता है। इस प्रकारके संस्कारका जनक ज्ञानका विषय सत्य हो अथवा मिथ्या हो उसका आदर नहीं। संस्कारद्वारा ज्ञान ही अध्यासका हेतु होता है। ज्ञानजन्य संस्कार हेतु होता है, इस पक्षमें भी अर्थतः भेद नहीं है। जैसे ज्ञान संस्कारका हेतु है, वैसे ज्ञानजन्य संस्कार अध्यासमें

हेतु है। अतः संस्कारद्वारा ज्ञान हेतु है यह कहनेपर भी ज्ञानजन्य संस्कार ही अध्यासका हेतु है—यह सिद्ध होता है। वस्तुज्ञानमात्र हेतु नहीं होता।

आक्षेप—कार्यसे अव्यवहित पूर्वकालवर्त्ती कारण हो यह नियम नहीं है। किन्तु कार्यनियत पूर्वकालवर्तित्व कारण होना चाहिये। वह पूर्वकाल व्यवहित हो, अथवा अव्यवहित हो। यदि एकमात्र कार्यसे अव्यवहित पूर्वकालमें ही कारण हो यह नियम मान लें, तो विहित कर्म स्वर्ग-प्राप्तिके लिये एवं निषिद्ध कर्म नरक-प्राप्तिके लिये है, यह कहनेवाला शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टारूप क्रियाका ही नाम कर्म है। वह क्रिया अनुष्ठानके उत्तर क्षणमें नष्ट हो जाती है और उसका फल स्वर्ग-नरक-प्राप्ति कालान्तरमें होता है। अतः स्वर्ग-नरकादि-प्राप्तिसे अव्यवहित पूर्वकालमें उसमें कारणीभूत विहित, प्रतिषिद्ध कर्म नहीं हैं। जैसे यह व्यवहित पूर्वकालवर्ती भी शुभाशुभ कर्म स्वर्ग-नरक-प्राप्ति करानेवाला होता है, इसी प्रकार व्यवहित कालवर्ती सर्प-ज्ञानसे भी रज्जुमें उत्पन्न सर्पाध्यास होगा ही।

समाधान—यह आक्षेप ठीक नहीं है। जैसे नष्ट ज्ञान-कर्मादि-को यदि क्रमसे अध्यास एवं स्वर्ग-नरकादिमें हेतु मानें, तब तो मृत कुलाल, नष्ट चक्रदण्डादि भी घटरूप कार्य उत्पन्न करेगा। जैसे रज्जुमें सर्पाध्यासका व्यवहित पूर्वकालवर्ती सर्पज्ञान कारण है तथा जैसे स्वर्ग-नरक-प्राप्तिमें व्यवहित शुभाशुभ कर्म कारण है, उसी प्रकार इस समय नष्ट व्यवहित पूर्वकालमें स्थित होनेवाला कुलाल-चक्रादि भी घटादिकी उत्पत्तिमें कारण होगा। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः व्यवहित पूर्वकालवर्ती कारण कार्यको नहीं उत्पन्न करेगा किन्तु अव्यवहित पूर्वकालवर्ती कारण ही कार्य उत्पन्न करेगा, यही युक्त है।

स्वर्गादि विषयमें भी कार्याव्यवहित पूर्वकालवर्ती अपूर्व रूप कारण होता है; यही नियम है। जैसे क्षणिक होनेके कारण कालान्तरमें होनेवाला स्वर्ग-नरकादिका हेतु स्वतः शुभाशुभ नहीं होता है। किन्तु किये गये कर्म स्वनाशोत्तर क्षणमें धर्माधर्म नामक अपूर्व-रूप संस्कार उत्पन्न करते हैं। वे धर्माधर्म अन्तःकरणमें बने रहते हैं। उसी अव्यवहित पूर्वकालवर्ती धर्माधर्मादि कार्यसे कालान्तरमें स्वर्ग-नरकरूप फल प्राप्त होता है। फलभोगके अनन्तर धर्माधर्मादि नष्ट हो जाते हैं। इसी अभिप्रायसे शास्त्रोंमें शुभाशुभ कर्म अपूर्व-द्वारा फलके हेतु हैं, साक्षात् कर्म हेतु नहीं होते—यह कहा गया है। धर्माधर्मको ही अपूर्व, अदृष्ट, पुण्य, पाप शब्दसे कहा गया है। कोई धर्माधर्मके हेतुभूत कर्मको भी धर्माधर्म कहते हैं। क्योंकि कार्य-कारणमें भेद नहीं होता। शुभ कर्म करनेवालेको लोग कहते भी हैं कि यह महात्मा धर्माचरण करते हैं। अशुभ कर्म करनेवाले-को कहते हैं कि यह दुष्ट अधर्म करता है। वस्तुतः शुभाशुभ कर्मको साक्षात् धर्माधर्म शब्दसे नहीं कहा जाता। किन्तु शुभाशुभ कर्मसे धर्माधर्म उत्पन्न होता है। इसीलिये शुभाशुभ कर्मका धर्माधर्म नाम लोकमें प्रसिद्ध है। जैसे "आयुर्वै घृतम्"—आयुवर्धक होनेसे घृतमें आयुशब्दका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार धर्माधर्ममें भी जानना चाहिये। अतः अव्यवहित पूर्वकालवर्ती हेतु होना ही चाहिये।

संस्कार ही सब अध्यासका हेतु है

रज्जु आदिमें होनेवाले सर्पादि अध्यासके प्रति नियमसे अव्यव-हित पूर्वकालमें सर्पादि ज्ञान नहीं है, अतः सर्पादि ज्ञान अध्यासमें हेतु नहीं है, किन्तु सर्पादि अनुभवजन्य संस्कार ही अध्यासमें निश्चित हेतु है। इसी प्रकार शुक्तिकामें रजताध्यासके प्रति भी रजतादि-अनुभवजन्य संस्कार ही हेतु है। सब जगह तत्तदनुभवाहित संस्कार ही अध्यासत्वावच्छिन्नके प्रति नियमसे कारण होता है।

सजातीय वस्तुके ज्ञानजन्य संस्कार ही अध्यासमें हेतु होते हैं

वस्तु-ज्ञानका संस्कार ही हेतु होता है। जैसे शुभाशुभ कर्मजन्य धर्माधर्मरूप संस्कार अन्तःकरणमें सूक्ष्मरूपसे रहते हैं, उसी प्रकार तत्तद् वस्तुके ज्ञानजन्य संस्कार भी अन्तःकरणमें रहते ही हैं। जिस व्यक्तिको सर्पविषयक पूर्वानुभव नहीं है उसको अन्य वस्तुजन्य संस्कार रहनेपर भी रज्जुमें सर्पाध्यास नहीं होता है। जिस वस्तुका अध्यास होता है उसका सजातीय वस्तुका अनुभवाहित संस्कार ही अध्यासमें हेतु होता है, विजातीय वस्तुका अनुभवाहित संस्कार नहीं। सर्पका सजातीय सर्प ही है अन्य नहीं। जिसको सर्पविषयक ज्ञान ही नहीं हुआ है, अन्यविषयक ज्ञान होनेपर भी सजातीय वस्तु-ज्ञानजन्य संस्कारके अभावमें उसको रज्जुमें सर्पाध्यास नहीं होता। सूक्ष्मावस्थाका ही नाम संस्कार है। इस युक्तिसे अध्याससे पूर्वभावी सजातीय वस्तु-ज्ञानजन्य संस्कार ही अध्यासका कारण है।

सत्य वस्तुका ज्ञानजन्य संस्कार ही अध्यासमें हेतु होता है, मिथ्या वस्तुका ज्ञानजन्य संस्कार नहीं, यह वादीके नियमका अपवाद पहिले ऐन्द्रजालिकके दृष्टान्तसे कहा गया। अतः मिथ्या वस्तुका अनुभवजन्य संस्कार ही अध्यासमें हेतु होता है, प्रमाहित—सत्य वस्तुका संस्कार नहीं, यही नियम है।

वह संस्कार बन्धाध्यासमें भी घटता है—

अहंकारादि अखिल अनात्म वस्तुजात एवं उसका ज्ञान ही बन्ध कहा जाता है। यह प्रत्यगात्मासे विलक्षण बन्धरूप अनात्मवस्तुका समूह रज्जुमें सर्प तथा स्वप्नेन्द्रजालके सदृश है। जिस कालमें प्रतीत होता है उसी कालमें वह है, अप्रतीति दशामें इनकी सत्ता नहीं है; यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अतएव **"न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्" (मा० आ० ५) "न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्" (बृ०४।३।२३)**

"स यदा तेजसाभिभूतो भवति अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति" "एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते" (प्र० ४।६-७) "पृथिवी च पृथिवीमात्रा च" (प्र० ४।६-७-८) इत्यादि मन्त्रोंसे वेदान्तमें, सुषुप्तिमें सकल दृश्य प्रपञ्चका निःशेषाभाव प्रतिपादन किया गया है। सुषुप्तिमें कुछ भी द्वैत प्रपञ्च नहीं उपलब्ध होता है, अतः सुषुप्तिमें अखिल प्रपञ्च विलीन हो जाता है, जागनेपर पुनः उत्पन्न होता है। **"यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति, तथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुद्ध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते, प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः।" "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति" (कै० १३) "पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्" (कै० १४) "अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद" "स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति" (बृ० २।१।१९-२०)** इत्यादि श्रुतियोंसे इसी विषयका प्रतिपादन किया गया है। वेदान्तमें यही दृष्टि-सृष्टिवादके नामसे प्रसिद्ध है। आगे इसीका स्पष्टीकरण किया जाता है। [दृष्टिर्नाम अविद्यावृत्तिरूपं ज्ञानम्। तादृशज्ञानकाल एव विषयाणामुत्पत्तिरिति यो वादः स एव दृष्टिसृष्टिवादः—इति शास्त्रेषु कथितः।] इसी प्रकार अहंकारसे देहपर्यन्त विषय एवं विषयोंके ज्ञान असंख्य रूपसे प्रतिक्षण उत्पन्न होकर विनष्ट होते रहते हैं। ज्ञातैकसत्ताकत्वेन अज्ञातसत्ताका अभाव होनेसे स्वप्न-हस्ति-शुक्तिका-रजतके समान जाग्रत्‌में भी अहंकारादि जब प्रतीत होते हैं, उसी कालमें उत्पन्न भी होते हैं, अप्रतीतिदशामें लय हो जाते हैं। अहंकारादि एवं इनके ज्ञानका नाम

अध्यास है। अनिर्वचनीय ख्यातिके प्रकरणमें इनका विशेषरूपसे निरूपण किया जायगा। यद्यपि अहंकार साक्षीभास्य है यह बात विपयनिरूपणके प्रकरणमें कही गयी है, किन्तु अहंकार साक्षीरूप ही है। और साक्षीका उत्पत्ति-लय नहीं होता है, तथापि वह अहंकारादि स्वविषयोंको वृत्तिद्वारा ही प्रकाशित करता है, साक्षात् नहीं।

साक्ष्यविषयक वृत्तिके उत्पत्ति-लयसे ही अहंकारकी प्रतीतिमें उत्पत्ति-लय स्वीकार किया गया है। इस रीतिसे उत्तरोत्तर अहंकारादि एवं तद्विषयक ज्ञानोंकी उत्पत्तिके प्रति पूर्व-पूर्व मिथ्या अहंकारादिके अनुभवजन्य संस्कार ही अध्यासमें कारण होते हैं।

प्राथमिक अध्यासमें संस्कार हेतु होना असम्भव है—यह आक्षेप है।

यद्यपि उत्तरोत्तर अहंकारादि अध्यासके प्रति पूर्व-पूर्व अध्यासानुभवजन्य संस्कार कारण है यह ठीक है, तथापि प्रथम अहंकार एवं उसके ज्ञानकी उत्पत्तिमें संस्कार हेतु नहीं है। प्रथममें तो संस्कारके हेतु अहंका अभाव ही है। यदि प्रथम अहंकारकी उत्पत्तिके पूर्व अहंकारान्तर होता, तब तो तद्विपयक ज्ञानका संस्कार उत्पन्न होता, किन्तु प्रथम अहंकारसे पूर्व कोई अहंकारान्तर है नहीं। इसी प्रकार सकल वस्तुओंका प्रथम अध्यासका हेतु संस्कार है यह भी नहीं कह सकते।

इस आक्षेपका समाधान—

यह आक्षेप वेदान्तका सिद्धान्त न जाननेके कारण ही किया गया है। सिद्धान्त यह है—

> **जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।**
> **अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥**

(१) जीव, (२) ईश, (३) ब्रह्म, (४) जीव-ईशका परस्पर भेद, (५) अविद्या और (६) अविद्या एवं चैतन्यका परस्पर सम्बन्ध (यही कहीं काल शब्दसे कहा गया है) इन षट् वस्तुओंको स्वरूपसे अनादि मानते हैं। "उत्पत्तिशून्यत्वं स्वरूपतोऽनादित्वम्" उत्पत्ति-रहित वस्तु अनादि कही जाती है। अथवा अहंकारादिकी श्रुतिमें उत्पत्ति सुनी जाती है, अतः स्वरूपसे अनादि न होनेपर भी वे प्रवाहरूपसे अनादि हैं—यह जानना चाहिये।

[(१) अविद्याका भी अधिष्ठान ब्रह्म है, अतः अविद्यासे ब्रह्मकी उत्पत्ति नहीं होती। ब्रह्मके बिना जीव और ईश्वरकी सिद्धि नहीं। इन तीनोंसे भी ब्रह्मकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः ब्रह्म अनादि है।

(२) ब्रह्मके निर्विकार होनेसे ब्रह्मसे भी अविद्याकी उत्पत्ति नहीं होती। अविद्याके अधीन ईश्वरादि चारकी सिद्धि होती है, अतः इनसे भी अविद्याकी उत्पत्ति नहीं होती।

(३-४) केवल ब्रह्म या केवल मायासे ईश्वर-जीवकी उत्पत्ति नहीं होती। अथवा परस्पर जीवसे ईश्वर या ईश्वरसे जीवकी उत्पत्ति नहीं होती। स्वसिद्धि—जीव-ईशसिद्धिके अधीन भी ईश्वर-जीवकी उत्पत्ति नहीं होती। अविद्या और चित्के सम्बन्धाधीन ही जीव-ईश्वरकी सिद्धि है। यह अविद्या स्वयं अनादि है, अनादि अविद्या और चित्के सम्बन्धाधीन होनेसे जीव-ईश्वर भी अनादि हैं।

(५) ब्रह्म एवं चित् अनादि होनेसे इनका तादात्म्यरूप-सम्बन्ध भी अनादि है, ब्रह्म तथा अविद्यासे भी सम्बन्धकी उत्पत्ति नहीं होती। ईश्वरादि तीनकी सिद्धि तो चित् अविद्याके अधीन है, इसलिये इनसे भी सम्बन्धकी उत्पत्ति नहीं कह सकते। अतः सम्बन्ध भी अनादि है।

(६) इन पाँचोंका परस्पर भेद भी अनादि है; क्योंकि इनकी उत्पत्ति नहीं होती है। स्वरूपसे यह छः अनादि हैं। इनमें ब्रह्म कालत्रय अबाध्य होनेसे अनादि अनन्त कूटस्थ नित्य है और ज्ञानसे

बाधित होनेके कारण इतर पाँच अनादि सान्त हैं यह जानना चाहिये ।]

इस प्रकार सभी वस्तुओंका अनादित्व सिद्ध होता है। घटादि वस्तु नहीं है, इस व्यवहारके योग्य कोई काल नहीं है, अतः घटादि-का प्रवाह अनादि है। इन युक्तियोंसे आत्मासे अतिरिक्त सर्व पदार्थ-का प्रवाह भी अनादि ही है। सुषुप्तिके समान प्रलयकालमें भी सकल जगत् संस्काररूपसे अपने कारणमें रहता ही है। अतः प्रपञ्च प्रवाहका अनादित्व सिद्ध हो जाता है।

[यहाँ एक आक्षेप यह भी होता है, कि अनादि चिरकाल-स्थायी होनेसे प्रपञ्च सत्य है। इसका उत्तर यह है कि सर्व-साधारणको रज्जुमें सर्पभ्रम एवं स्वप्नभ्रम होता है। वह अनियत है, एक घटी या अनेक यामस्थायी होता है, पूर्वसिद्ध एवं अनादि सिद्ध-सा प्रतीत होता है। तथापि रज्जु-तत्त्व-साक्षात्कार होनेपर तथा जागनेपर उनका त्रिकालिक बाध निश्चय हो जाता है। इसी प्रकार प्रपञ्चाध्यास भी भ्रम-दशामें अनादि और सत्यके समान ही भान होता है। तत्त्वबोध होनेपर यह त्रिकालमें भी नहीं है, यह निश्चय होता है। अतः प्रपञ्च मिथ्या है।]

इस प्रकार ज्ञानशून्य व्यक्तिको ही प्रथमाध्यासका हेतुभूत संस्कार नहीं है—यह शङ्का उत्पन्न होती है। वेदान्त-सिद्धान्तमें कोई भी अध्यास नहीं है, यही प्रथमाध्यास है, यह कह सकते हैं। किन्तु सभी उत्तरोत्तराध्यास अपने पूर्व-पूर्व अध्यासका कार्य ही है। अतः यह शङ्का ही युक्त नहीं है। पूर्वोक्त रीतिसे सजातीय वस्तुका पूर्वानुभवजन्य संस्कारसे अहंकारादिका बन्धाध्यास सम्भव होता है।

प्रमेयदोषका खण्डन—अध्यासमें सादृश्यदोषकी आवश्य-कता नहीं है—

पूर्वपक्षीने कहा कि अध्यासके हेतुभूत जो-जो दोष हैं, बन्धा-

ध्यासके हेतुओंमें एक भी हेतु उपलब्ध नहीं होता, अतः बन्ध सत्य है। यह कहना ठीक नहीं है, जैसे तुरी-तन्तु-वेम आदिके अभावमें पट उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार दोषके अभावमें यदि अध्यास नहीं उत्पन्न होता तब तो दोष अध्यासका हेतु होता, किन्तु ऐसी बात नहीं है। सादृश्यके अभावमें भी आत्मामें जातिका अध्यास होता है। ब्राह्मणादि जाति स्थूल देहका धर्म है न आत्माका, न सूक्ष्म शरीरका। क्योंकि पूर्व शरीरमें स्थित आत्मा और सूक्ष्म शरीर शरीरान्तरमें रहता है, लेकिन पूर्व शरीरस्थ जाति शरीरान्तरमें नहीं जाती। जातिमें भेद हो जाता है। पूर्व शरीरस्थ जाति शरीरान्तरमें जाती है यह नियम नहीं है। आत्मा या सूक्ष्म शरीरका धर्म जाति मानो तो शरीरान्तरमें विलक्षण जाति नहीं होनी चाहिये। अतः जन्मान्तरमें जात्यन्तरविशिष्ट शरीर उपलब्ध होनेसे जाति न आत्माका धर्म है न सूक्ष्मशरीरका ही धर्म है किन्तु स्थूल शरीरका ही धर्म है। तथापि 'अहं द्विजः' यह अहमर्थमें ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व वैश्यत्वादि जाति प्रतीत होती है। अतः आत्मामें ब्राह्मणत्वादि जातिका अध्यास अङ्गीकार है ही। जैसे रज्जुमें परमार्थतः त्रिकालमें भी अविद्यमान सर्पकी प्रतीति अन्यथासिद्ध नहीं होती अतः अध्यास मानना ही होगा। उसी प्रकार आत्मामें परमार्थतः त्रिकालमें अविद्य-मान ही ब्राह्मणत्वादि जातिकी प्रतीतिसे सादृश्य बिना भी अध्यास है ही। जाति और आत्मामें कुछ भी सादृश्य नहीं है। आत्मा व्यापक, प्रत्यक्, विषयी और चिद्रूप है। जाति परिच्छिन्न, पराक् विषयात्मक और जड है। तथापि आत्मामें आत्मासे विलक्षण जातिका अध्यास होता है। जैसे सादृश्यके बिना आत्मामें जातिका अध्यास सम्भव होता है, उसी प्रकार सादृश्य बिना ही अहंकारादिका भी बन्धाध्यास आत्मामें सम्भव ही है। अतः सादृश्यदोष अध्यासमें हेतु नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि अध्यासमें सादृश्य हेतु मानें तो शङ्खमें पीतिमाका अध्यास एवं गुडमें तिक्तताका अध्यास

७२ : वेदान्त-तत्त्व-विचार

नहीं होना चाहिये। क्योंकि इनमें सादृश्य नहीं है। प्रत्युत श्वेतता एवं पीतिमा, माधुर्य और तिक्ततामें विरुद्धाध्यासका अनुभव होता है। इसलिये अधिष्ठानमें मिथ्यावस्तुका सादृश्यरूप दोष अध्यासमें हेतु नहीं होता है।

प्रमातृदोष भी अध्यासमें हेतु नहीं है—

प्रमाता (जीव) के लोभ, भय आदि दोष भी अध्यासमें हेतु नहीं होते। लोभशून्य विरक्तको भी शुक्तिकामें रजताध्यास देखा जाता है। वादीके मतमें तो दोषरूप हेतुका अभाव होनेसे अध्यास नहीं होना चाहिये। अतः प्रमातृदोष भी अध्यासमें कारण (हेतु) नहीं है।

प्रमाणदोषरूप हेतु भी अध्यासमें आवश्यक नहीं है—

प्रमाणदोष भी अध्यासमें हेतु नहीं है। नीरूप आकाशमें सबको नैल्य-इन्द्रनील-कटाहाकार भान होता है। आकाशमें सभीको नैल्यादिका अध्यास होता है, अतः सबको प्रमाणस्वरूप नेत्रेन्द्रियमें पित्तादि दोषकी कल्पना करनी पड़ेगी, किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं होगा। अतः प्रमाणदोष भी अध्यासमें हेतु नहीं होता। आकाशमें नैल्यादि अध्यासमें न केवल प्रमाणदोषका अभाव है प्रत्युत सर्व प्रकारके दोषका अभाव है। सादृश्याभाव और प्रमातृदोषाभाव तो सिद्ध ही है। जैसे सकल दोषके अभावमें भी आकाशमें नैल्यादिका अध्यास होता है, उसी प्रकार आत्मामें भी दोषाभावके विना ही बन्धाध्यास उत्पन्न हो जाता है। अतः दोषके अभावमें बन्धाध्यास नहीं होता, यह शङ्का युक्तियुक्त नहीं है।

इस प्रकार दोष अध्यासमें हेतु नहीं है यह कहा गया, अतः बन्धाध्यासमें दोषकी अपेक्षा नहीं है। किन्तु संक्षेपशारीरकमें बन्धाध्यास प्रकरणमें दोष भी कारण है यह कहा गया है। विस्तारभयसे यहाँ उसका निरूपण नहीं किया गया है। यदि अध्यासका हेतु दोष होता तो विशेष वर्णन किया जाता, किन्तु दोष हेतु नहीं है, अतः निरूपण नहीं किया गया है।

[यहाँ यह विशेषरूपसे जानना चाहिये कि सर्वदोषरहित ही अध्यास होता है यह नियम नहीं है, बल्कि कुछ दोष होनेपर ही अध्यास होता है यह कहना चाहिये। यद्यपि आकाशमें नैल्यादि अध्यासमें कोई दोष नहीं दीखता यह कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि जिस अध्यासमें सादृश्यादि कोई विशेष दोषरूप हेतु नहीं देखा जाता, वहाँ भी अविद्यारूप दोष तो होता ही है। सर्वथा दोषके अभावमें तो अध्यास सम्भव ही नहीं होता, आकाशमें दोषत्रयकी अपेक्षा न होनेपर अविद्यारूप दोष तो है ही। जिस किसी भी दोपलेशके अभावमें अध्यास सम्भव ही नहीं होता। इसपर अद्वैतसिद्धिमें श्रीमधुसूदनसरस्वतीजीने "दोषजन्यत्वं भ्रमस्य लक्षणम्" यह कहा है। जो यह कहा कि दोषके विना अध्यास होता है, वह केवल प्रौढिवादसे कहा गया है। प्रौढ्यर्थ—अपनी विद्याके अतिशय ख्यापनार्थ वादका नाम प्रौढिवाद है।]

कारणाध्यासका निरूपण

स्वयंप्रकाश ब्रह्ममें भी अज्ञानोपपत्ति—

विशेषरूपसे अज्ञात वस्तुमें अध्यास होता है। स्वयंप्रकाशरूप ब्रह्ममें तो अज्ञान सम्भव ही नहीं है। इन दोनोंमें तम एवं प्रकाशके समान विरोध है। जैसे अत्यन्त प्रकाशमें रज्जुमें सर्पाध्यास नहीं होता है, इसी प्रकार सदा स्वयप्रकाशस्वरूप आत्मामें भी अध्यास नहीं हो सकता, यह पूर्वपक्षीका आक्षेप ठीक नहीं है।

चित् सामान्य प्रकाशतैं, नहीं नसै अज्ञान।
लहै प्रकाश सुषुप्तिमैं, चेतनतैं अज्ञान॥

यद्यपि आत्मा अलुप्त स्वयंप्रकाशरूप है, तथापि उसका स्वरूप-प्रकाश अज्ञानका विरोधी नहीं है। यदि स्वप्रकाश आत्मा अज्ञानका विरोधी होता तो सुषुप्तिमें स्वयंप्रकाश आत्मामें अज्ञान उपलब्ध नहीं होता। किन्तु गाढ सुषुप्तिसे उठकर "सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिद-वेदिषम्" यह सुषुप्तिमें स्वानुभवसिद्ध अज्ञानका स्मरण करता है। सुषुप्तिमें अनुभवका विषय सुख और अज्ञान हैं। सुषुप्तिसे उठनेपर जाग्रत् दशामें होनेवाला यह सुख और अज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। अपरोक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। जाग्रत् अवस्थामें सौषुप्त सुख और अज्ञान यह दोनों जाग्रत्कालीन ज्ञान न होनेसे प्रत्यक्ष नहीं हैं, किन्तु स्मृतिज्ञान हैं। वह स्मृति अननुभूतविषयिणी नहीं है। अतः सुषुप्तिमें सुख और अज्ञान अपरोक्ष—प्रत्यक्ष है यह स्वीकार करना पड़ेगा। सुषुप्तिविषयक ज्ञान न अन्तःकरणसे, न इन्द्रियोंसे ही होता है, क्योंकि अन्तःकरण और इन्द्रियाँ अपने कारणमें लीन होनेसे हैं ही नहीं। अतः सुषुप्तिमें सुख और अज्ञानका अवभासक स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मचैतन्य ही है। प्रकाश, ज्ञान और चैतन्यका एक ही अर्थ है।

इस प्रकार सुषुप्तिमें स्वयंप्रकाश स्वरूपसे अवभासमान आत्मा-में ही स्वस्वरूप सुख और अज्ञान प्रतीत होता है। यदि आत्माका स्वरूपप्रकाश ही साक्षात् अज्ञानका विरोधी होता तो सुषुप्तिमें अज्ञानका अनुभव ही नहीं होता। सुषुप्तिमें स्वयंप्रकाशरूप ही आत्मा है, तथापि स्वप्रकाशरूप भी आत्मा अज्ञानका विरोधी नहीं होता है। प्रत्युत प्रकाशस्वरूप आत्मा सर्वाधिष्ठान होनेसे अज्ञानकी सत्ता-स्फूर्तिद्वारा साधक ही है, बाधक नहीं।

इसी अभिप्रायसे वेदान्तमें कहा गया है कि सामान्य स्वरूपसे चैतन्य अज्ञानका विरोधी नहीं है, किन्तु उपाधिसे अभिव्यक्त विशेषात्मक चैतन्य अज्ञानका विरोधी होता है। सर्वत्र व्याप्त होकर

वर्तमान अखण्ड चैतन्यका नाम सामान्य चैतन्य है। अन्तःकरणमें वृत्त्यारूढ चैतन्य विशेषात्मक चैतन्य है। जैसे अरण्यमें व्यापक रूपसे वर्तमान अग्नि अनभिव्यक्त होनेसे अन्धकारका विरोधी नहीं होता। वही काष्ठोंके परस्पर संघर्षसे अभिव्यक्त होकर दीपवत्तीके द्वारा प्रकाशरूप विशेषात्म होकर अन्धकारका विरोधी बन जाता है। इसी प्रकार व्यापक सामान्य चैतन्य अज्ञानका विरोधी नहीं है। वही चैतन्य वेदान्त-विचारसे प्रमाणजनित साक्षात्कारात्मक अखण्ड ब्रह्माकाराकारित अन्तःकरणवृत्तिमें आरूढ होकर अज्ञानका नाशक होनेसे विरोधी हो जाता है। इस रीतिसे केवल चैतन्य अज्ञानका विरोधी नहीं होता, किन्तु वृत्त्यारूढ—वृत्तिसहित चैतन्य अज्ञानका विरोधी होता है। अथवा चैतन्यविशिष्ट वृत्ति अज्ञानकी विरोधी होती है। आद्य पक्षमें अज्ञानके नाशमें हेतु चैतन्य है, वृत्ति सहायक है। द्वितीय पक्षमें वृत्ति हेतु है और चैतन्य सहायक है। यह अवच्छेदवादकी रीतिसे कहा गया है।

आभासवादमें तो सामान्य चैतन्यवत् विशेष चैतन्य भी अज्ञान-का विरोधी नहीं है, किन्तु वृत्तिसहित आभास अथवा आभाससहित वृत्ति अज्ञानकी विरोधी कही गयी है।

इस प्रकार शुद्ध स्वप्रकाश स्वरूपचैतन्य अज्ञानका विरोधी नहीं है। अतः अज्ञान स्वरूपचैतन्यके आश्रित ही रहता है। इसी कारण अज्ञानसे आवृत आत्मामें अध्यास युक्त ही है।

आत्मा सामान्यरूपसे ज्ञात है, विशेषरूपसे अज्ञात है।

पूर्वपक्षीने कहा कि सामान्यतो ज्ञात एवं विशेषतो अज्ञात वस्तुमें ही अध्यास होता है और आत्मामें सामान्य-विशेष धर्म है नहीं, अतः अध्यास सम्भव नहीं। इस शङ्काका निरास किया जाता है। "अयमहमस्मि" यह आत्माका अनुभव सर्वलोकप्रसिद्ध है। आत्माका अर्थ स्वस्वरूप है। मैं नहीं हूँ—यह प्रतीति किसीको भी

नहीं है, किन्तु 'अहमस्मि' मैं हूँ यह प्रतीति सबको है। अतः सामान्यतया सद्रूपसे आत्माको सभी जानते हैं। परन्तु प्रज्ञानघन अखण्ड आनन्दस्वरूप व्यापक नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त मैं हूँ इस विशेषरूप आत्माको कोई भी नहीं जानता है। अतः चिदानन्दादि लक्षणसे लक्षित विशेषरूपसे आत्मा ज्ञात नहीं है, किन्तु सामान्यतः सद्रूपसे सबको ज्ञात है। यह सबका अनुभव प्रसिद्ध है। इसका केवल युक्तिसे अपलाप नहीं कर सकते हैं।

पामरादि सर्वसाधारणसे ज्ञात सद्रूप आत्माका सामान्य स्वरूप कहा जाता है। केवल ब्रह्मानुभवसिद्ध सच्चिदानन्दादि स्वरूपको विशेषरूप कहते हैं। अधिक देश-कालवर्तीको सामान्य तथा न्यून देश-कालवर्तीको विशेष कहते हैं—यह लोकमें सामान्य-विशेषका विवेक है। यद्यपि चिद् और आनन्द भी आत्माका स्वरूप ही है, अतः सत्‌के समान चिदानन्द भी व्यापक है, सत्‌की अपेक्षासे चिदानन्दको न्यून देश-कालमें और चिदानन्दकी अपेक्षासे सत्‌को अधिक देश-कालव्यापक कहना नहीं बनता, तथापि सत्तारूपसे आत्माकी प्रतीति सर्वसाधारणको अविद्या दशामें भी होती है, और अविद्या दशामें भी चिदानन्द स्वरूप है, किन्तु प्रतीति नहीं होती है। केवल चिन्मात्रनिष्ठ ज्ञानियोंको ही सदा सर्वांशकी प्रतीति होती है। यद्यपि अविद्या दशामें भी चिदानन्द स्वरूप है ही, तथापि अविद्यासे प्रतीति नहीं होती। अतः प्रतीति और अप्रतीतिके उद्देश्यसे सामान्य-विशेष कहा गया है। परमार्थतः सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मामें सामान्य-विशेषभाव नहीं है। अज्ञानियोंकी प्रतीतिके अनुसार कल्पना की गयी है। इस कल्पनासे "आत्मा निर्विशेषः" आत्मा निर्विशेष है, इसमें कोई विरोध नहीं होता है। यदि आत्मामें सामान्य-विशेष भावकी कल्पना परमार्थतः की जाय तब तो "आत्मा निर्विशेषः" इस वेदान्त-सिद्धान्तका ही बाध हो जायगा। अतः यह परमार्थतः स्वीकार नहीं है। अविद्यासे सामान्य-विशेषके

जैसा प्रतीत होता है। अज्ञजनोंके बोधार्थ सामन्य-विशेष व्यवहारकी कल्पना है। इस रीतिसे सत्तासामान्यरूपसे विदित और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त अखण्ड चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मात्मस्वरूपसे अविदित आत्मामें बन्ध-अध्यास सम्भव होता ही है और आध्यासिक बन्धकी ज्ञानसे निवृत्ति भी होती है। अतः ग्रन्थका प्रयोजन सिद्ध ही हो जाता है।

कर्मसे मोक्ष नहीं हो सकता

पूर्वपक्षसंग्रह—पूर्वपक्षीने कहा कि—

निषिद्ध और काम्य कर्मको छोड़कर नित्य-नैमित्तिक कर्म और प्रायश्चित्त कर्म मुमुक्षुको अवश्य करना चाहिये। निषिद्ध कर्मके अभावमें हीन लोक प्राप्त नहीं होगा और काम्य कर्मके अभावमें उत्तम लोक भी प्राप्त नहीं होगा एवं नित्य कर्म तथा नैमित्तिक कर्म न करनेसे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यवाय (पाप) उनके अनुष्ठान करनेसे नहीं होगा। तथा इस जन्म और जन्मान्तरमें किया हुआ सब पाप साधारण एवं असाधारण प्रायश्चित्त करनेसे विनष्ट हो जाता है। नित्य-नैमित्तिक कर्मानुष्ठानजन्य क्लेशसे सञ्चित सभी निषिद्ध कर्मोंके फल (पाप)का विनाश हो जाता है। इच्छारहित होनेसे मुमुक्षुको सभी काम्य कर्म भी अपने फल नहीं देंगे। अतः मुमुक्षुको अनायास ज्ञानके विना ही जन्माभावरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके फलमें स्वर्ग प्राप्त होता ही है

ज्ञानके विना कर्मसे ही मोक्ष होता है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके फल भी अवश्य होते हैं, जगह-जगह भाष्यमें युक्ति और प्रमाणसे सम्यक् प्रकारसे निरूपण किया गया है। यथा-"**वर्णाः आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपआयुश्रुतवृत्तवित्त-**

सुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते" (ब्र० सू० ३।१।८) अतः नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे भी उत्तम-उत्तम लोक प्राप्त होते ही हैं, जन्माभाव सिद्ध नहीं होता। नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके फल स्वीकार न करें तो उनका बोधक वेद निष्फल हो जायगा। यदि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके न करनेसे पाप होता है, तब उनके अनुष्ठानसे पापानुत्पत्ति फल इष्ट ही है। और भी एक बात है। कि नित्य-नैमित्तिक कर्म न करनेसे पाप होता है यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। कर्मोंको न करना यह अभाव है और पाप भावरूप है, अतः अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं होगी। इसलिये नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके न करनेसे पापोत्पत्ति होती है यह कहना असंगत है। नित्य-नैमित्तिक कर्मके न करनेसे पाप होता है, यह स्वीकार करनेपर **"कथमसतः सज्जायेत" "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"** इत्यादि श्रुति-स्मृतिका विरोध होगा। इस प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मके अनुष्ठानके अभावसे पापोत्पत्ति अनुपपन्न है। इसलिये नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके प्रत्यवायकी अनुत्पत्ति ही फल है यह वचन ही असंगत है। अतः नित्य-नैमित्तिक कर्मके विना भी पाप उत्पन्न नहीं होगा। और भी बात है कि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके फल स्वर्गादि न स्वीकार करें तो कर्म ही निष्फल हो जायँगे तथा कर्मके विधान करनेवाले शास्त्र भी विफल होंगे। अतः नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके फल स्वर्गादिको अवश्य स्वीकार करना चाहिये—यह बात सिद्ध हो गयी।

प्रायश्चित्तसे अखिल संचित पापोंका क्षय भी सम्भव नहीं

वादीने कहा कि साधारण एवं असाधारण प्रायश्चित्तसे समस्त अशुभ कर्म क्षय होता है। यह भी सम्भव नहीं है। अनेक कल्पोंके अनुष्ठित विचित्र अशुभ कर्मोंका क्षय एक जन्ममें एक साथ प्रायश्चित्त-से नहीं हो सकता। सकल पापका नाशक गङ्गा-स्नान तथा ईश्वर-

नामोच्चारणादि साधारण प्रायश्चित्त भी चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिका हेतु है, अतः गौणी वृत्तिसे पापनाशक है, साक्षात् नहीं। समस्त पापोंका एक साथ नाशक तो ब्रह्मज्ञान ही है। **"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।" "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।"** इत्यादि श्रुति-स्मृति इसमें प्रमाण है।

अज्ञानीको संचित काम्य कर्म अवश्य फल देनेवाला होगा

वादीने कहा कि मुमुक्षुको इस समय फलकी इच्छा नहीं होनेसे जन्मान्तरके संचित काम्य कर्म भी फल नहीं देंगे सो भी असंगत है। कर्मरूप बीजसे दो अङ्कुर उत्पन्न होते हैं—अदृष्ट और वासना। धर्माधर्मका नाम अदृष्ट है। शुभ कर्मके शुभ वासना एवं धर्मरूप अङ्कुर उत्पन्न होते हैं। शुभ वासनासे शुभ कर्ममें प्रवृत्ति होती है, तथा शुभ कर्मजन्य धर्मरूप अदृष्टसे सुखोपभोग होता है और अशुभ कर्मसे अशुभ वासना एवं अधर्मरूप अदृष्ट अङ्कुर होता है। अशुभ वासनासे पुनः अशुभ कर्ममें प्रवृत्ति तथा अधर्मसे दुःखोपभोग होता है। इस प्रकार कर्मरूप बीजसे वासना और अदृष्ट दो अङ्कुर उत्पन्न होते हैं। उनमें वासनारूप अङ्कुर तो उपायसे नष्ट हो जाता है। किन्तु अदृष्टरूप अङ्कुर विना फल भोगे नष्ट नहीं होता है। यह शास्त्रका सिद्धान्त है। अशुभ कर्मसे उत्पन्न अशुभ वासनारूप अङ्कुर सत्सङ्गादि उपायसे विनष्ट हो जाता है। शुभ कर्मसे उत्पन्न वासनाका भी दुःसंगादिसे नाश हो जाता है। शास्त्रीय पुरुषार्थ साधनोंसे स्वाभाविक प्रवृत्तिकी हेतुभूत वासना ही नष्ट हो जाती है। अतः पुरुषार्थ साधनानुष्ठान भी सफल हो जाता है। किन्तु भोगका हेतु जो अदृष्ट है वह भोगके विना नष्ट नहीं होता है। अतः **"स्वं फलमदत्त्वा नैव कर्म क्षीयते"** इस शास्त्रोक्तिमें विरोध भी नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानियोंके कर्मफल भोगके विना निवृत्त नहीं होते।

ज्ञानीका फलभोगके विना भी निःशेष समूल कर्म नष्ट हो जाता है। क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टिमें कर्ता, कर्म और फल परमार्थं नहीं है। किन्तु अविद्यासे स्वप्नवत् कल्पित है। इस अविद्याका ज्ञान विरोधी है। अतः अविद्यासे कल्पित कर्मादि ज्ञानसे नष्ट होते हैं। जैसे निद्रासे कल्पित स्वप्नमें उपलब्ध पदार्थ जाग्रत्में निद्राक्षय होनेपर उपलब्ध नहीं होते। उसी प्रकार अविद्यारूप निद्रासे प्रतीयमान कर्म, कर्ता और फल तीनों ज्ञानात्मक जाग्रद्दशामें अविद्याके निवृत्त होनेसे निवृत्त हो जाते हैं। ज्ञानके विना इन तीनों—कर्म, फल और कर्ताका निःशेष विनाश कभी सम्भव नहीं होता।

और भी बात है कि यदि भोक्ताकी इच्छाके अभावमात्रसे संचित कर्मोंके फलभोग नहीं होंगे तब तो ईश्वरका संकल्प मिथ्या हो जायगा। **"फलोपभोगमन्तराऽज्ञानां कर्म न नश्यति।"** यह ईश्वरका संकल्प है। भोक्ताकी इच्छाके अभावमात्रसे कर्मफलका नाश होगा, यह स्वीकार करनेपर ईश्वर-संकल्प मिथ्या ही होगा। ईश्वर **"सत्यसंकल्पः सत्यकामः"** सत्यसंकल्प है इसमें श्रुति प्रमाण है। अतः इच्छाके अभावमात्रसे सञ्चित काम्य कर्म फल नहीं देगा यह कहना अत्यन्त असंगत है।

दूसरी बात यह कि यदि इच्छाके अभावमात्रसे सञ्चित काम्य कर्मका फल नहीं होगा, यह कल्पना करें तब तो अशुभ कर्मोंके फल भी किसीको नहीं होंगे, क्योंकि अशुभ कर्मके फल दुःखकी इच्छा किसीको भी नहीं होती है। अतः ज्ञानके विना किसी भी उपायसे कर्मफलका विनाश नहीं होगा। किये हुए कर्म अपना फल अवश्य देंगे।

ज्ञानके विना कर्मफलका नाश नहीं होता—

जैसे वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि निष्काम पुरुषके कर्मानुष्ठानकालमें इच्छाका अभाव होनेसे कर्म फल नहीं देता, उसी प्रकार

ऐकभविकके मतमें भी कर्मानुष्ठानके अनन्तर भी जिस पुरुषको संचित कर्मकी फलेच्छा निवृत्त हो जाती है, उसको कर्मफल नहीं होता। यह कहना भी वेदान्त-सिद्धान्तकी अनभिज्ञताके कारण ही है। फलाभिसन्धि या फलानभिसन्धि दोनों प्रकारसे किया गया कर्म फल अवश्य देता है। निष्कामभावसे किया हुआ कर्म मुमुक्षुको चित्त-शुद्धिमात्र फल उत्पन्न करता है। सकामभावसे किया गया कर्म भोगरूप ही फल देता है, चित्तशुद्धि नहीं करता। निष्कामभावसे अनुष्ठित कर्म मुमुक्षुको सत्त्वशुद्धि एवं श्रवणादि अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है, काम्य फल नहीं देता है। निष्कामभावसे किया हुआ कर्म भी श्रवणादिके अभावसे अथवा अन्य किसी कारणसे यदि ज्ञान नहीं होता तो इच्छा नहीं रहनेपर भी भोगरूप फल—ब्रह्मलोकादि प्राप्त कराता ही है; यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अतः ज्ञानके अभावमें भोगके विना कर्म नष्ट नहीं होता है।

नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठानसे होनेवाला क्लेश ही सञ्चित पापका फल है—

नित्य-नैमित्तिक कर्मानुष्ठानसे उत्पन्न क्लेश ही पूर्व सञ्चित निषिद्ध कर्मोंके फल हैं, अतः उनका पृथक् फल नहीं होता, यह कहना भी ठीक नहीं है। सञ्चित निषिद्ध कर्म अनेक प्रकारके हैं, उनका फल दुःख भी भिन्न-भिन्न अनेकविध होता है; अतः केवल कर्मानुष्ठानजनित क्लेश ही उनका फल है यह नहीं कह सकते हैं।

समस्त सञ्चित काम्य कर्मका फल एक शरीरसे अनुभव नहीं कर सकते—

प्रतिपक्षीने कहा कि सकल संचित काम्यकर्मका फलभोग एक साथ ही एक शरीरसे ही हो जायगा। यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। संचित नाना काम्य कर्मोंके अनेक प्रकारके विरुद्ध फल होनेसे एक शरीरसे भोगना शक्य नहीं हो सकता है और एक ही जन्ममें

एक साथ अनेक शरीरोंसे समस्त भोगोंका अनुभव होता है, यह तो सिद्ध योगियोंमें घट सकता है, इतर लोगोंमें नहीं घटता। सिद्ध योगियोंके अणिमादि अष्टैश्वर्यका सामर्थ्य होनेपर भी ज्ञानके विना मोक्ष प्राप्त नहीं होता; यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

निष्कर्ष यह है कि जो अज्ञ काम्य कर्म एवं निषिद्ध कर्म त्यागकर नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करता है, उसको तत्तत् नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके फल और जन्मान्तरमें अर्जित अनेक प्रकारके शुभाशुभ कर्मोंके फलका अनुभव करनेके लिये अनेक शरीर प्राप्त होते हैं, मोक्ष नहीं होता। अतः ज्ञानद्वारा बन्धनिवृत्ति ही इस ग्रन्थका प्रयोजन है—यह युक्त ही कहा गया है। जैसे स्वप्नमें उपलब्ध मिथ्या वस्तु जागे विना निवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार अविद्यादशामें उपलभ्यमान मिथ्या प्रपञ्च भी ज्ञानरूप जागरणके विना निवृत्त नहीं होता है।

सम्बन्धविषयक आक्षेप और समाधान

आक्षेप—अधिकारी असिद्ध होनेसे सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता; क्योंकि (१) विषयकी असिद्धिसे ग्रन्थका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव-सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता। (२) अधिकारी और फलके अभावमें प्राप्य-प्रापकभावरूप सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता। (३) अधिकारीकी असिद्धिसे अधिकारी एवं विचारका कर्तृ-कर्तव्यभावरूप सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं होता है। (४) ज्ञान निष्फल होनेसे ग्रन्थ और ज्ञानका जन्य-जनकभावरूप सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं होता। सफल वस्तु उत्पन्न होती है, निष्फल नहीं। पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञान सफल नहीं है। (५) तथा ज्ञानका स्वरूप असिद्ध होनेसे ग्रन्थ और ज्ञानका सम्बन्ध भी नहीं घटता है। सिद्धान्तमें जीव और ब्रह्मका अभेद-निश्चय ही ज्ञान कहा गया है। जीव-ब्रह्मका अभेद सम्भव न होनेसे निश्चय भी मिथ्या है—यह जो पूर्व विषय-प्रस्तावके प्रकरणमें

आक्षेप किया गया है उस रीतिसे अभेद-निश्चयरूप ज्ञान सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्धचतुष्टयके अभावमें ग्रन्थारम्भ निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

समाधान—पूर्वोक्त प्रकारसे ग्रन्थके अधिकारी, विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध श्रुति, युक्ति तथा अनुभवसे सिद्ध हैं, अतः इनका सम्बन्ध भी सिद्ध ही है—इन चारोंके सिद्ध होनेसे ग्रन्थारम्भ भी युक्त्या ठीक ही है।

श्री :

तृतीय अंश

(गुरु-शिष्य-स्वरूप-निरूपण)

ग्रन्थारम्भ-प्रतिज्ञा—जो साधक अनुबन्धचतुष्टयको सम्यक् प्रकारसे जानकर, वेदान्त-विज्ञानके सुनिश्चितार्थज्ञाता स्थित-प्रज्ञ वरिष्ठ श्रोत्रिय गुरुको प्राप्तकर उनके प्रसादसे वेदान्त-ग्रन्थ पढ़ता है तथा आदरपूर्वक श्रद्धा और भक्तिसे श्रवण करता है, वही मोक्षके साधन ज्ञानको प्राप्त करता है।

गुरु-शिष्यके संवादसे वस्तु-निरूपण करनेपर श्रोताको सुखपूर्वक बोध होता है, अतः गुरु-शिष्यके प्रश्न-प्रतिवचनरूपसे ग्रन्थ रचा जाता है।

गुरुके लक्षण

जो अङ्गोंके सहित वेदाध्यायी हो। तदर्थज्ञ एवं जीव-ब्रह्मैक्य विषयके दृढ़ निश्चयमें परिनिष्ठित हो और जिसको आत्मसाक्षात्कार हो वही गुरु होता है। आत्मज्ञानरहित वेदाध्ययनमात्रसे गुरु नहीं हो सकता तथा वेदाध्ययनशून्य आत्मज्ञ भी स्वयं मुक्त होनेपर भी परोपदेशके अयोग्य होनेसे गुरु नहीं हो सकता। क्योंकि वेदाध्ययनरहितको जिज्ञासु शिष्यके हृदयगत संदेह-निवृत्तिकी युक्तियोंका प्रतिभान नहीं होता है। संदेहशून्य उत्तमसंस्कारवान् अन्तिम जन्मके जिज्ञासुको उपदेश करनेमें समर्थ होते हुए भी यह ज्ञानी साधारण सब मुमुक्षुओंको उपदेश करने योग्य न होनेसे गुरु नहीं हो सकता। अतः वेदाध्ययन-सम्पन्न और आत्मज्ञ ही गुरु होता है। "श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"—वही शिष्योंके बुद्धिगत पञ्चविध भेदोंको नाना युक्तियोंसे दूर करनेमें समर्थ होता है। वह भेद यह हैं—

(१) ईश्वर-जीवमें भेद (२) जीव-जीवमें भेद (३) जीव-जडमें भेद (४) ईश्वर-जडमें भेद (५) जड-जडमें भेद। इन सब भेदोंको खण्डन करनेमें वही समर्थ होते हैं।

[**भेद-खण्डन-युक्तियाँ**—

(१) अविद्या एवं मायासे जनित घटाकाश और मठाकाशके समान जीव और ईश्वरमें भेद है।

(२) आभाससहित अन्तःकरणरूप उपाधि-जनित नाना घटाकाशके सदृश जीव-जीवमें परस्पर भेद है।

(३) साभासान्तःकरण और निराभास नाम-रूपमय उपाधि-जनित जड और जीवका भेद है।

(४) साभास मायाकृत नाम-रूप-उपाधिजनित ईश्वर और जडका भेद है।

(५) नाम-रूपमय उपाधिजनित रज्जुमें सर्प, दण्ड, धारा और मालाके भेदके समान जड-जडमें परस्पर भेद है।]

भेद ही भयका हेतु होता है। **"उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति"** (तै० ब्र० ७) **"द्वितीयाद्वै भयं भवति"** (बृ १।४।२) इत्यादि। अतः भेदका खण्डन अवश्य करना चाहिये। उक्त लक्षणोंवाला आचार्य ही अपने शिष्यको अविद्यादि सर्वमलशून्य अद्वितीय **'ब्रह्मैवाहमस्मि'** यह साक्षादपरोक्षानुभव करानेमें समर्थ होता है। चिन्मात्र मुझमें अपने स्वरूपके अज्ञानसे समस्त दृश्य प्रपञ्चरूप संसार स्वप्नके समान मिथ्या होते हुए भी सत्वत् प्रतीत हो रहा है यह संशय-विपर्ययरहित जानना चाहिये। इस प्रकारके अद्‌भुत दुर्दर्श स्वात्मतत्त्वका उपदेष्टा ही आचार्य होता है। संसाररूप महा-

ग्राहसे ग्रस्त शिष्यको जीव-ब्रह्मका अभेदोपदेश करके जो छुड़ाता है वही गुरु होता है।

बहवो गुरवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि शिष्यहृत्तापहारकः॥

वेदअर्थकूं भलै पिछानै। आतम ब्रह्मरूप इक जानै॥
भेद पंचकी बुद्धि नसावै। अद्वय अमल ब्रह्म दरसावै॥
भव मिथ्या मृगतृषा समाना। अनुलव इम भाखत नहीं आना॥
सो गुरु दे अद्भुत उपदेसा। छेदक सिखा न लुंचित केसा॥
करत मोच्छ भव ग्राहतैं, दे असि निज उपदेस।
सो दैसिक बुधजन कहत, नहिं कृत गैरिक वेस॥

शिष्यके लक्षण

वेदान्त-ग्रन्थमें जो अधिकारी प्रतिपादन किया गया है, वही साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी ही शिष्य कहलाता है।

गुरुभक्ति—ईश्वरकी अपेक्षा गुरुमें अधिक श्रद्धा-भक्ति करना चाहिये। क्योंकि अखिल शास्त्रमें व्युत्पन्न व्यक्ति भी गुरुके उपदेश विना आत्मतत्त्व नहीं जान सकता है। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया" "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" "आचार्यवान् पुरुषो वेद" "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' इत्यादि श्रुति इस विषयमें प्रमाण है। इसी विषयको वक्ष्यमाण दृष्टान्तसे स्पष्ट करेंगे।

यथा—गुरुके उपदेशाभावमें वेदरूप समुद्र क्षार है, क्षारसागरमें पतित प्राणी उस जलको पीकर दुःख ही अनुभव करता है। तथा शास्त्रान्तरकुशल भी गुरुपरम्पराके विना जो स्वतन्त्र वेदार्थका विचार करता है, वह अपनी बुद्धिके अनुसार भेदरूप क्षार जलको ही आस्वादनकर जन्म-मरणरूप प्रवाहमें निरन्तर दुःख ही पाता रहता है, मुक्तिरूप नित्य-निरतिशयानन्द नहीं प्राप्त करता है।

वही जब ब्रह्मात्मविद् सद्गुरुके मुखसे जो वेदान्त-विचार करता है, वह परमामृत निरतिशयानन्दस्वरूपका अनुभव करता है। जैसे स्वभावतः क्षारसमुद्रका जल अपने पात्रमें ग्रहणकर जो पीता है, वह क्षार जल ही पीता है, वही क्षार जल जब मेघके द्वारा बरसता है, तब अमृत (मधुर) होता है। उसी प्रकार गुरुमुखसे वेदान्तविचार भी अमृत हो जाता है। अतः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे ही वेदान्त-विचार करना चाहिये।

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरिष्यति।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥
आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते॥
गुकारो ह्यन्धकारः स्यात् रुकारस्तन्निवर्तकः।
ब्रह्मान्धकारनाशित्वाद् गुरुरित्युच्यते बुधैः॥

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इत्यादि।

गुरु-सेवा

गुरु-कृपासे ही आत्मा साक्षात् होता है। अतः ईश्वर-सेवासे भी गुरु-सेवा अधिक कही गयी है। ईश्वर-सेवा अदृष्टमात्रफलकी कारण होती है और गुरु-सेवा दृष्टादृष्ट दोनोंको देनेवाली होती है। धर्माधर्मके द्वारा जो फलका हेतु होता है, उसका नाम अदृष्ट हेतु है और धर्माधर्मोत्पत्ति विना जो साक्षात् फलका हेतु होता है उसका नाम दृष्ट हेतु है। ईश्वर-सेवा धर्मोत्पत्तिद्वारा अन्तःकरणशुद्धिरूप फल देती है। अतएव ईश्वर-सेवा अदृष्ट फलकी हेतु है, एवं सद्गुरु-सेवा

धर्मनिरपेक्ष प्रसादमात्रसे उपदेशात्मक फलकी हेतु होती है; अतः गुरु-सेवा दृष्ट फलकी हेतु होती है तथा धर्मोत्पत्तिद्वारा अन्तःकरण-शुद्धिरूप फल भी देती है; अतः अदृष्ट फलकी हेतु होती है। इसीलिये गुरु-सेवा ईश्वर-सेवासे अधिक मानी गयी है। अतः मुमुक्षु-को ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी सेवा अवश्य करनी चाहिये।

गुरु-सेवाका क्रम

गुरुके दर्शन होनेपर साष्टाङ्ग नमस्कार करके उनके चरणरजको अपने मस्तकपर धारण करे। तदनन्तर उनके प्रसादसे बन्धनिवृत्ति-की इच्छासे गुरुके समीप ब्रह्मचर्यसे वास करे। एवं शरीर, मन वाणी और धनादि सब उनको अर्पण कर दे।

शरीरका अर्पण—गुरुके अभिमत सेवा करता हुआ किञ्चित्-मात्र भी उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करे। इस प्रकार गुरु-कुलमें वास करना शरीरार्पण कहलाता है।

मनका अर्पण—ब्रह्मा, विष्णु और शिवस्वरूप ही गुरु हैं ऐसा निश्चय करके जिस प्रकार उनकी कृपा प्राप्त हो वैसी भक्ति करता रहे। स्वप्नमें भी दोषदृष्टि न करे—इस प्रकारकी सेवाका नाम मनका अर्पण है।

वाणीका अर्पण—प्रारब्ध कर्मानुसार वर्तते हुए गुरुके शरीर-गत गुणगणोंका ही वर्णन-चिन्तन करे, दोपका कभी उच्चारण भी न करे।

सर्वपरिग्रहत्यागपूर्वक स्वार्पण ही धनार्पण है। यदि गुरु गृहस्थ हो तो यथाशक्ति धन-वस्त्रादि भी उनको दे "इमे विदेहा अयमहमस्मि" इस प्रकार सर्वार्पण कर दे। सदा ईश्वरस्वरूप ही गुरुको जाने।

आदौ ज्ञानाप्तये पश्चात् कृतघ्नत्वनिवृत्तये।
यावज्जीवं त्रयो वन्द्याः वेदान्तो गुरुरीश्वरः॥

गुरु प्रसन्न हों तो अपनी जिज्ञासा निवेदन करे।

स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो
कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या
ऋज्व्याऽतिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या॥

गुरवे यो मनोवाचौ कायार्थादि समर्प्य तम्।
सेवते भवति ब्रह्म प्रसादातिशयाद् गुरोः॥

जो साधक मन-वाक्-काय और धनादि गुरुको समर्पण कर नित्य सेवा करता है वह गुरुप्रसादसे ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

श्री :

चतुर्थ अंश

(उत्तम अधिकारीके लिये उपदेश)

एक आख्यायिका

प्रथम गुरु-शिष्य-संवादात्मक एक ऐसी अपूर्व आख्यायिका लिखी जाती है, जिसको सुनकर ही जिज्ञासुकी आत्म-विचारमें शीघ्र प्रवृत्ति हो जाय।

एक शुभसन्तति नामक राजा था, उसके तीन पुत्र थे—तत्त्व-दृष्टि, अदृष्टि और तर्कदृष्टि। वह शुभसन्तति तीनों लोकोंका शासन करता था। उसके तीनों पुत्र चतुर और शास्त्रमें प्रवीण थे। इन्हीं तीनोंका इस ग्रन्थके चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ अंशमें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अधिकारीके रूपमें वर्णन किया जायगा। महाराज शुभसन्तति अपनी बाल्यावस्थाको क्रीडामें, युवावस्थाको स्त्री-सम्भोगमें लगाते हुए भी अपने भुज-बलसे तीनों लोकोंका न्याय-पूर्वक पालन करता था।

पुत्रोंको राज्य समर्पणकर शुभसन्ततिका संन्यास

महाराज शुभसन्ततिको किसी कालमें अपने जन्मान्तरके पुण्य-पुञ्जसे "आत्मा अजो नित्यो निरतिशयानन्दस्वरूपश्च, ततोऽन्यत् सर्वं दुःखात्मकम्" यह बुद्धि उदय हुई। तब उन्होंने विचार किया कि मैं आत्म-विचारमें लग जाऊँ तो मेरा कल्याण हो जाय और ये मेरे तीनों पुत्र तीनों लोकोंका पालन करें। यह विचारकर अपने मन्त्रियोंके द्वारा पुत्रोंको बुलवाकर अपना भोगमें विराग एवं

एकान्तमें रतिका विचार सुनाया। एवं राज्यभार उनको देकर एक-एक लोक तीनोंको विभागकर दे दिया। विभाजन करके राज्य न देनेसे पुत्रोंमें परस्पर कलह होगा तथा कलहके कारण प्रजाओंको भी दुःख होगा, यह विचारकर राजाने स्वयं ही अपने राज्यको विभाजनकर पुत्रोंको दे दिया और स्वयं, जहाँ मरनेपर परमेश्वरसे तारक मन्त्र लाभकर अनायास प्राणी मुक्त हो जाता है एवं सर्वा-न्तर्यामी भगवान् विश्वनाथ सदा वास करते हैं और अतिगभीरा उत्तरवाहिनी भगवती गङ्गाका विस्तृत प्रवाह चलता रहता है, ऐसी काशीनगरीमें वास करने लगा। काशीवास करते हुए उसने एक बार अपने पुत्रोंको बुलाकर कहा—'यह अपार संसार दुःखरूप है। पामर जीव दुःखको ही सुख मानकर सांसारिक भोगके लिये धनोपार्जनमें ही लगे रहते हैं, आत्म-विचार नहीं करते। इस प्रकारके पामरजनोंका सङ्ग त्यागकर मैं एकान्तमें आत्म-सुख-प्राप्ति-के लिये यत्न करूँगा।'

पुत्रोंको भी राज्य-त्यागकी इच्छा

इस प्रकार अपने पिताके वाक्य सुनकर सद्बुद्धिसे युक्त तीनों पुत्रोंने एकान्तमें एकत्रित होकर विचार किया। पिताजी हमलोगों-को इस संसार-सागरमें, जिसका फल उत्तरोत्तर दुःखरूप है गिरा-कर स्वयं ब्रह्मानन्द-प्राप्तिमें लगे हैं। उन्होंने आत्मविचारमें आसक्त होकर, अपार दुःखरूप होनेके कारण अखण्ड शत्रुविहीन राज्यका भी त्याग कर दिया। अब हमलोग भी अत्यन्त दुःखरूप राज्य त्याग कर आत्मविचारमें लग जायँ तो श्रेयस्कर होगा। यह विचारकर तीनों घरसे निकल गये।

अपने घरसे निकलकर गुरुके समीप जाना

इस प्रकार निर्णयकर मुमुक्षु होकर तीनों पुत्र अपने पिताके शुभसन्तति इस नामको चरितार्थ करते हुए, सद्गुरुका अन्वेषण

करनेके लिये अपने राजमहलसे निकल पड़े। अनेक देशोंमें भ्रमण करते हुए अन्तमें गङ्गातटपर आये। वहाँ एकान्तदेशमें अतिउन्नत विस्तृत शाखा-स्कन्ध एवं पत्र-फलोंसे पूर्ण घने वृक्षोंके वनमें एक वटवृक्षके मूलमें चिन्मुद्रा (अङ्गुष्ठ-तर्जनीयोगको चिन्मुद्रा कहते हैं, भद्रामुद्रा, लोपामुद्रा, तर्कमुद्रा और ज्ञानमुद्रा भी इसीको कहते हैं) से अपने शिष्योंको जीवब्रह्मकी एकताका उपदेश करते हुए गुणातीत सद्गुरुको देखा। कैलाशमें महाभाण्डीर वटके मूलमें सनकादि महर्षियोंको तत्त्वोपदेश करते हुए परमशिव श्रीदक्षिणामूर्तिके समान उनको जानकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और मोक्षकी इच्छासे यथा-विधि शरणमें प्राप्त होकर छः मासतक ब्रह्मचर्यसे रहे। तदनन्तर प्रसन्न होकर गुरुने पूछा—किसलिये आपलोग आये हैं ? आपलोग कौन हैं ? कहाँसे आये हैं ? उत्तरमें अञ्जलि बाँधकर अपने भाइयों सहित अपना परिचय देते हुए नम्रतापूर्वक तत्त्वदृष्टि बोला—

तत्त्वदृष्टिकी गुरुसे अनुमतिके लिये प्रार्थना

हे भगवन् ! हम तीनों भाई महाराज शुभसन्ततिके पुत्र हैं, अज्ञ और अत्यन्त शोच्य हैं, स्वस्वरूप जाननेकी इच्छासे आपकी शरणमें आये हैं। आप कृपाके समुद्र हैं। कल्पतरु, चिन्तामणि एवं कामधेनुके समान शोभित हो रहे हैं। हम दुःखी हैं। यदि आज्ञा हो तो मैं अपना अभिप्राय निवेदन करूँ। इस प्रकार तत्त्वदृष्टिके प्रार्थना करनेपर गुरु बोले, 'हे शिष्य ! मेरी बात सुनो, उसको सुननेसे ही तुम्हारी हृदय-ग्रन्थिका एवं संशयका समूल उन्मूलन हो जायगा और तुम परमानन्दको प्राप्त करोगे।'

मुमुक्षाभिव्यञ्जक तत्त्वदृष्टिका प्रश्न

गुरुकी दयालुताको जानकर हृदयानन्दसे परिपूर्ण तत्त्वदृष्टिने 'हमारा अभिलषित कार्य पूर्ण होगा' यह निश्चय करके नम्रता-पूर्वक पूछा—'हे भगवन् ! आप कृपाके समुद्र हैं, साक्षात् सदाशिव

दक्षिणामूर्तिके समान सर्वज्ञ हैं। हमलोग अज्ञ हैं, जन्म-मरणादि दुःखरूप संसारसे भयभीत हैं, इस भयकी निवृत्ति तथा परमानन्द-प्राप्तिके उपायका कथन करें। नाना प्रकारके कर्म और उपासनाका अनुष्ठान किया, किन्तु हमारे अभिलषित अर्थकी सिद्धि नहीं हुई, उलटे संसारात्मक बन्ध ही दृढ़ हुआ। जिस किसी उपायसे हम कृतार्थ हों वह उपाय हमलोगोंको बतायें।'

शिष्यकी मोक्षकी इच्छाको जानकर भ्रान्तिजन्यता उपपादनपूर्वक महावाक्यका उपदेश

आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिका नाम मोक्ष है। शिष्यकी मोक्षकी इच्छाको जानकर गुरु उसका उपायभूत एक-मात्र वेदान्तसे ही जानने योग्य ज्ञानका उपदेश करते हैं। यद्यपि ज्ञानका स्वरूप अनेक प्रकारसे अनेक शास्त्रोंमें कहा गया है, तथापि जीव-ब्रह्मका भेदनिवर्तक ज्ञान ही मोक्षका साधन वेदान्तमें प्रति-पादन किया गया है, उसी ज्ञानका उपदेश करते हैं—'हे शिष्य !

परमानन्द मिलाप तू, जो सिप चहै सुजान।
जन्मादिक दुःख नास पुनि, भ्रान्ति जन्य तिहिं मान॥
परमानन्द स्वरूप तू, नहिं तोमें दुखलेस।
अज अविनासी, ब्रह्मचित्, जिन आनै हिय क्लेस॥

परमानन्दकी प्राप्ति और जनन-मरणादि दुःखरूप संसार-निवृत्ति-की जो इच्छा हुई है, यह इच्छा भ्रान्तिजन्य ही है। क्योंकि तुम स्वभावसे ही निरतिशयानन्दस्वरूप हो। अतः परमानन्दस्वरूप होते हुए भी पुनः परमानन्दप्राप्तिकी इच्छा होना योग्य नहीं है। जो वस्तु प्राप्त नहीं है। उसकी प्राप्तिकी इच्छा तो हो सकती है, किन्तु तुम्हारा स्वरूप तुमको नित्य प्राप्त ही है, उसकी प्राप्तिकी इच्छा भ्रान्तिके सिवाय और क्या कहा जा सकता है।

'दूसरी बात यह कि जननमरणादिरूप संसार यदि तुममें कभी होता तब तो उसकी निवृत्तिकी इच्छा होना ठीक होता। वस्तुतः त्रिकालमें भी तुममें किञ्चित् मात्र भी संसार नहीं है। तीनों कालोंमें अविद्यमान संसारदुःखनिवृत्तिकी इच्छा भ्रमके विना नहीं हो सकती है। हे शिष्य ! तुम जनन-मरण-शून्य चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही हो। अतः जन्म-मरणादि दुःखरूप संसारका कभी स्मरण मत करो।'

आत्मा आनन्दस्वरूप होता तो विषयसम्बन्धसे आनन्दका भान नहीं होता—आक्षेप—

'हे गुरो ! आत्मा यदि आनन्दरूप है तो विषयेन्द्रियसम्बन्धसे आनन्दानुभव नहीं होता, किन्तु विषयेन्द्रियसंयोगसे आनन्दानुभव होता है। अतः आत्मा आनन्दानुभवरूप नहीं है। किन्तु विषयोंके सम्बन्धसे आत्मामें आनन्द उत्पन्न होता है।'

> **विषयसंग क्यूं भान है, जो मैं आनँदरूप।**
> **अब उत्तर याको कहौ, श्रीगुरु मुनिवरभूप॥**

समाधान—विषयमें प्रवृत्त अज्ञको अन्तर्मुख वृत्तिमें आनन्द भान होता है, विषयमें आनन्द नहीं है।

हे शिष्य ! आत्मस्वरूपसे विमुख बुद्धिमें ही विषयोंकी इच्छा होती है। भोगके साधन स्त्री, धन, पुत्र आदि सभीको विषय शब्दसे कहा गया है। विषयकी इच्छावालोंकी बुद्धि चञ्चला होती है। चञ्चल बुद्धिमें आत्मस्वरूपानन्दका प्रतिबिम्ब भान नहीं होता है।

[आत्मा स्वभावतः आनन्दस्वरूप है। जैसे मन व्याकुल होनेपर सन्निहित वस्तु भी नेत्रसे नहीं दीख पड़ती, उसी प्रकार जबतक रजोगुणसे बुद्धि चञ्चला रहती है, उस चञ्चला बुद्धिमें आत्माके आनन्दांशका प्रतिबिम्ब भान नहीं होता। जैसे दर्पण चलायमान

होनेपर मुखादिका प्रतिबिम्ब स्पष्ट भान नहीं होता, उसी प्रकार रजोगुणके संपर्कसे चञ्चला बुद्धिमें आत्माके सच्चिदंशका प्रतिबिम्ब भान होते हुए भी आनन्दांशका भान नहीं होता। इष्ट वस्तुके लाभ होनेपर तद्विषयक इच्छा निवृत्त होनेसे रजोगुण भी निवृत्त होता है, उस समय कुछ क्षण बुद्धि शान्त हो जाती है, उस शान्त बुद्धिमें चैतन्यस्वरूपानन्दका भान होता है।]

अभिलषित वस्तुके लाभ होनेसे क्षणमात्र बुद्धि स्थिर हो जाती है। तब स्थिर अन्तर्मुख बुद्धिवृत्तिमें आत्माका आनन्दस्वरूप प्रतिफलित होता है। उस कालमें आत्मस्वरूप आनन्दका प्रतिबिम्ब अनुभव करते हुए मनुष्यको 'विषयोंसे मुझे आनन्द होता है' यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है, वस्तुतः जडस्वरूप विषयमें आनन्दका लेशमात्र भी नहीं है।

> **आतमविमुख बुद्धि जन जोई। इच्छा ताहि विषयकी होई॥**
> **तासूं चंचल बुद्धि बखानी। सुख आभास होइ तहँ हानी॥**
> **जब अभिलषित पदारथ पावै। तब मति छन विच्छेप नसावै॥**
> **तामैं है अनंदप्रतिबिंबा। पुनि छनमैं बहु चाह विडंबा॥**

और भी बात है कि यदि विषयमें ही आनन्द मानो तो एक विषयजन्य आनन्दका अनुभव करता हुआ मनुष्य जब विषयान्तरका अनुभव करता है, उस कालमें भी प्रथम अनुभूत विषयजन्य सुखका अनुभव होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता है। मेरे मतमें तो विषयान्तरमें आसक्त होनेसे पुनः बुद्धि चञ्चला हो जाती है, अतः चञ्चला बुद्धिमें स्वरूपानन्दका प्रतिबिम्ब भान नहीं होता है।

दूसरी बात यह कि यदि विषयमें ही आनन्द है, तब प्रवाससे आये हुए पुत्रके दर्शनसे जो प्राप्त हुआ आनन्द है उसको सदा रहना चाहिये। क्योंकि आनन्दका हेतु पुत्र पिताके सन्निहित है ही, किन्तु

ऐसा होता नहीं है। मेरे सिद्धान्तमें तो तत्तद्विषयलाभ-क्षणमें बुद्धि स्थिर होती है, उस निश्चला बुद्धि-वृत्तिमें आत्माका आनन्दस्वरूप प्रतिविम्बित होता है। वही आनन्दका अनुभव कराता है। वही बुद्धिमें जव विषयान्तरकी इच्छा होती है तव पुनः चञ्चला हो जाती है। चञ्चला बुद्धिमें स्वरूपानन्दके प्रतिविम्वका विच्छेद हो जाता है, समीपमें रहते हुए भी प्राचीन विषयमें आनन्दानुभव नहीं होता है। अतः विषयमें आनन्द नहीं है यही सिद्ध हुआ।

और भी वात है कि यदि विषयमें ही आनन्द है यह नियम मान लें तव समाधिमें योगानन्द नहीं प्राप्त होगा। तथा सुषुप्तिमें भी आनन्दका भान नहीं होना चाहिये, क्योंकि सुषुप्ति और समाधिमें दृश्यरूप सव प्रकारके विषयका अभाव है। इससे जाना जाता है कि विषयमें आनन्द नहीं है। किन्तु आत्मस्वरूपानन्द ही सर्वात्मरूपसे सर्वत्र भान होता है। **"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"** (तै० ब्र० ७) **एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"** (बृ० ४।३।३२) इत्यादि श्रुतिप्रमाण भी है।

हे शिष्य! निरतिशयानन्दस्वरूप आत्मा ही है, विषयके सम्वन्धसे वही आनन्द अभिव्यक्त होता है। जैसे अदृश्य भी राहु चन्द्रमाके सम्वन्धसे दृश्य होता है, उसी प्रकार अनुभवस्वरूप आत्मा दृश्य शरीरादिके द्वारा अनुभव होता है।

अदृश्यो दृश्यते राहुर्गृहीतेन यथेन्दुना।
तथानुभवमात्रात्मा दृश्येनात्माऽवलोक्यते॥

यही समीचीन सिद्धान्त है। यदि इसमें तुमको संशय है तो पक्षपातरहित होकर पूछो, पुनः स्पष्टरूपसे वोध कराऊँगा।

ज्ञानियोंको विषयोंमें इच्छा और विषय-सम्बन्धसे आत्मानन्दका आभास होता है कि नहीं?

प्रश्न—हे गुरो! विषयके सम्वन्धसे आत्मानन्दकी प्रतीति

अज्ञानियोंको होती है ज्ञानीको नहीं—यह आपने कहा। क्योंकि जिसकी बुद्धि आत्मासे विमुख है, उसीको अधिकारी कहा, ऐसा (आत्मविमुख) अज्ञानी ही होता है, ज्ञानीकी बुद्धि आत्मविमुख नहीं होती। अतः ज्ञानियोंको भी विषयमें इच्छा एवं विषय-सम्बन्धसे आत्मानन्दकी अभिव्यक्ति होती है कि नहीं? यह मुझको समझाइये।

व्यवहारकालमें ज्ञानी भी आत्मविमुख होता है, किन्तु ज्ञानी विषयानन्दको भी स्वरूपानन्दसे अभिन्न ही मानता है।

उत्तर—हे शिष्य! सावधान होकर सुनो। पहिले कहा कि आत्मस्वरूपसे विमुखता ही विषयमें इच्छाका कारण है, वह केवल अज्ञानियोंको ही नहीं किन्तु ज्ञानीको भी सामान्य ही है। ज्ञानी जिस कालमें व्यवहारमें प्रवृत्त होता है तो तत्त्वविस्मरणपूर्वक ही प्रवृत्त होता है। विषयप्रवृत्तिकालमें ज्ञानी भी अज्ञानीके समान ही होता है। ज्ञानीका चित्त यदि सदैव आत्माकार वना रहे तो उनके जीवनका निमित्त भोजनादि व्यवहार भी सिद्ध नहीं होगा। अतः व्यवहारकालमें आत्मविमुख बुद्धि दोनोंको समान ही रहती है। विशेषता यह है कि अज्ञानीकी बुद्धि सदा विषयासक्त ही रहती है और ज्ञानीकी बुद्धि जब आत्मविमुख होती है तब विषयेच्छा एवं तत्सम्पर्कसे आत्मस्वरूपानन्दकी अभिव्यक्ति अज्ञके समान होती है। तो भी इस आनन्दको स्वरूपानन्दसे पृथक् नहीं मानता है, उसी (ब्रह्मानन्द) का आभास मानता है। अतः विषयभोगमें भी ज्ञानीको समाधि ही रहती है अज्ञानी इस आनन्दको स्वरूपानन्द नहीं जानता है। यथार्थमें तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको स्वरूपानन्द ही है, उसीको अज्ञानी विषयानन्द कहता है। इसीलिये अज्ञानी भ्रान्त है।

दुःखविषयक प्रश्न-प्रत्युक्तियाँ

प्रश्न—हे भगवन्! आपने पहिले कहा कि तुम परमानन्द-

स्वरूप हो, यह मैं जानता हूँ। जनन-मरणादि संसार महादुःख तीन कालमें भी तुममें नहीं है, अतः उसकी निवृत्तिकी इच्छा अत्यन्त असंगत है, इस आपको उक्तिमें कुछ संशय होता है। जो यह अनुभूयमान जनन-मरण-दुःख मुझमें नहीं है तो किसके आश्रय है? यह कृपा करके बतलायें। संसारदुःखके आश्रयान्तरको जाने विना मुझमें नहीं है यह दृढ़ प्रतीति नहीं होती।

किसीको भी संसार नहीं है

उत्तर—हे शिष्य! मेरी बात सुनो उससे तुम्हारा संशय निवृत्त हो जायगा। यह जनन-मरणादि दुःख कहीं भी नहीं है। अनुभूयमान यह दृश्य जगत् तीन कालमें भी तुममें, मुझमें या अन्यत्र किसीमें अणुमात्र भी नहीं है। अतः इसका अत्यन्त नाश कभी भी सम्भव नहीं है।

अत्यन्त असत् संसारकी प्रतीति कैसे?

प्रश्न—हे भगवन्! जन्म-मरणादि संसारदुःख मुझमें या अन्यत्र कहीं भी नहीं है, तब प्रत्यक्ष कैसे होता है? अत्यन्त असत् कभी किसीको दीख नहीं पड़ता है। वन्ध्यापुत्र, गगनारविन्दादि असत् वस्तुवत् संसार भी अत्यन्त असत् है तो उपलब्ध नहीं होना चाहिये, किन्तु उपलब्ध होता है। अतः जन्म-मरणादि दुःखरूप संसार नहीं है, यह कहना युक्त प्रतीत नहीं होता।

संसार-प्रतीति मिथ्या है

उत्तर—जनन-मरणादि प्रवाहरूप असत् संसार परमार्थतः तीन कालमें न होनेपर भी प्रत्यगात्माको ब्रह्मरूपसे न जाननेके कारण मिथ्या ही प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नमें अनुभूयमान पदार्थ एवं आकाशमें नैल्य, रज्जुमें सर्पादि त्रिकालमें भी परमार्थतः नहीं है,

किन्तु प्रतीत होता है, उसी प्रकार परमार्थतः असत् भी जगत् मिथ्यारूपसे भान होता है।

[जैसे रज्जुमें कल्पित सर्पकी व्यावहारिक सत्ताका अत्यन्ताभाव है, वैसे ही ब्रह्ममें कल्पित जगत्‌की परमार्थसत्ताका अत्यन्त अभाव है। यह ज्ञान होना ही जगत्‌की अत्यन्त निवृत्ति कहा जाता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥
अविद्यमानोऽप्यवभासते द्वयो—
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत्कर्मसंकल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥]

रज्जुमें सर्प-प्रतीति कैसे होती है?

प्रश्न—आपने कहा कि जैसे रज्जुमें प्रतीयमान सर्पादि मिथ्या है, उसी प्रकार प्रत्यगात्मामें प्रतीयमान संसारदुःख मिथ्या है। इसमें दृष्टान्तज्ञानके विना दार्ष्टान्तिक ज्ञान होता नहीं; अतः रज्जुमें सर्प कैसे भान होता है? पहिले इसीको मुझे समझानेकी कृपा करें। दृष्टान्तके विषयमें प्रश्न है।

शिष्य अपने प्रश्नका आशय कहता है—

चार प्रकारसे ख्याति—भ्रम होता है। रज्जुमें सर्प, शुक्तिकामें रजत आदि भ्रममें चार मत हैं—(१) शून्यवादी बौद्धके मतमें असत्-ख्याति, (२) क्षणिक विज्ञानवादीके मतमें आत्मख्याति, (३) नैयायिक एवं वैशेषिकके मतमें अन्यथाख्याति, (४) सांख्य तथा प्रभाकरके सिद्धान्तमें अख्याति।

१. **असत्ख्याति** स्वीकार करनेवाले शून्यवादीका कहना है कि रज्जुमें सर्प असत् है। अन्यत्र (वल्मीक आदिमें भी) अत्यन्त असत् सर्पकी ही रज्जुमें प्रतीति होती है। इसीको शून्यवादी असत्ख्याति

कहता है। "अत्यन्तासतः सर्पस्य ख्यातिः—स्फुरणमभिवदनं चासत्-ख्यातिरिति।"

२. **आत्मख्याति**—विज्ञानवादीका अभिप्राय यह है कि रज्जुमें एवं अन्यत्र कहीं भी बुद्धिसे बाहर सर्प नहीं है। जैसे समस्त दृश्य एवं श्रुत पदार्थ भी बुद्धिसे बाहर नहीं है। किन्तु बुद्धि ही सकल पदार्थका आकार धारण कर लेती है और वह बुद्धि क्षणिक तथा विज्ञानस्वरूप है, प्रतिक्षण उत्पत्ति एवं विनाशशील है एवं विज्ञान ही सर्पात्मना भान होता है। इसीका नाम आत्मख्याति है। "आत्मा क्षणिकविज्ञानरूपा बुद्धिः तस्याः ख्यातिः—स्फुरणमभिवदनं च आत्मख्यातिरिति।"

३. **अन्यथाख्याति**—नैयायिक और वैशेषिक मत है कि वल्मीकादिमें पारमार्थिक सर्प है। व्यवधान होते हुए भी चक्षुसे ग्रहण होता है। चक्षुमें दोषके कारण व्यवहित भी सर्प चक्षुके सन्निकृष्ट भान होता है। पारमार्थिक सर्प और चक्षुके मध्यमें कुड्यादिरूपका व्यवधान होनेपर भी चक्षुमें दोषके कारण व्यवहित सर्पका ग्रहण होता है। "इत्थं च वल्मीकादिप्रदेशान्तरे स्थितसर्पस्य अन्यथा—प्रकारान्तरेण पुरोऽवस्थितरज्जुदेशे ख्यातिः—स्फुरणमभिवदनञ्चान्यथाख्यातिरिति कथ्यते।"

नव्य नैयायिक चिन्तामणिकारके मतमें—दोषसहित चक्षुसे वल्मीकमें स्थित सर्प यदि दीखता है, तब तो मध्यमें अन्य पदार्थ भी अवश्य दिखायी देना चाहिये किन्तु व्यवहित वस्तु नेत्रसे नहीं जानी जाती है। दोषयुक्त नेत्रसे ही रज्जु स्वस्वरूपसे भान न होकर सर्पादिरूपसे भान होता है। अतः "रज्जोः अन्यथा—प्रकारान्तरेण सर्पाद्याकारेण ख्यातिः—स्फुरणमभिवदनञ्चान्यथाख्यातिरिति।"

अख्यातिमत एवं पूर्वोक्त तीनों मतोंका खण्डन

अख्यातिवादियोंका कहना है कि यदि असत्ख्याति मतसे असत् वस्तुकी प्रतीति होती है, तब तो वन्ध्यापुत्र और शशशृङ्गादिकी प्रतीति भी होनी चाहिये। किन्तु प्रतीति नहीं होती, अतः असत्-ख्यातिवाद असंगत है।

क्षणिक विज्ञानवादीके मतमें बुद्धि प्रतिक्षण अन्यथा होती है, एवं वही बुद्धि सर्पादि आकारमें प्राप्त हो जाती है, तब तो प्रतिक्षण बदलनेवाली होनेसे एक क्षणके बाद सर्पकी प्रतीति नहीं होगी। किन्तु व्यवहारमें जबतक भ्रम रहता है तबतक प्रतीति होती है। इसलिये आत्मख्यातिका मत भी अग्राह्य है।

अन्यथाख्यातिके प्रथम प्रकारके मतका तो चिन्तामणिकारके मतसे ही खण्डन हो जाता है। चिन्तामणिकारका प्रदर्शित अन्यथा-ख्यातिमत भी असंगत है। "ज्ञेयाधीनं ज्ञानम्" ज्ञेयके अधीन ज्ञान होता है यह लोकमें प्रसिद्धि है। यहाँ ज्ञेय रज्जु है और ज्ञान होता है सर्पका, यह अत्यन्त विरुद्ध है। अतः चिन्तामणिकारका अभिमत अन्यथाख्याति आदरणीय नहीं हो सकता है।

अख्यातिमत—रज्जुमें सर्पादि भ्रम-दशामें नेत्र अपनी वृत्तिके द्वारा रज्जुसंयुक्त होकर (अयम्) 'यह'—इस प्रकार रज्जुका सामान्य ज्ञान उत्पन्न करता है। उसी कालमें सर्पका स्मरण भी होता है। तदनन्तर "अयं सर्पः" यह सर्प है यह ज्ञान होता है। इसमें ग्रहण और स्मरणात्मक दो ज्ञान है। रज्जुका 'अयम्' यह सामान्यांशका प्रत्यक्ष ज्ञान है। 'सर्पः' सर्पका ज्ञान पूर्वानुभूत स्मरण-ज्ञान विशेष है। इस प्रकार 'अयं सर्पः' यह सर्प है—इसमें दो ज्ञान है। यह प्रत्यक्ष एवं पूर्वानुभूत स्मरण दो ज्ञान यथार्थ है, तथापि भय रूप प्रमातृदोषसे एवं तिमिररूप प्रमाण (नेत्र) दोषसे मुझे दो ज्ञान है, यह विवेक पुरुषको नहीं उत्पन्न होता। यह ज्ञानद्वयका अविवेक ही भ्रम है—यह सांख्य और प्रभाकर कहते हैं। भ्रम-उत्पत्तिस्थल-में सर्वत्र ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार रज्जु आदि सर्प-भ्रमो-

त्पत्तिमें मतचतुष्टय सुना जाता है। इनमें जो मत आपको अभीष्ट है, उसीका उपदेश मुझे दीजिये—यह तत्त्वदृष्टिका प्रश्न है ?

[पूर्वोक्त चार मतसे अन्य पाँचवाँ एक सत्ख्यातिमत भी पूर्व-पक्षीका है। इसका अभिप्राय यह है कि शुक्तिमें शुक्त्यवयवके साथ रजतावयव (चाकचिक्य) भी सदा रहता है। शुक्त्यवयवके तुल्य रजतावयव भी सत्य है। जैसे शुक्तिमें नेत्रदोषसे सिद्धान्तमें अविद्याके कारण तत्काल अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इस मतमें दुष्ट नेत्रके संयोगसे रजतावयवसे शुक्तिमें सत् रजतका ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। सिद्धान्तमें अधिष्ठानके साक्षात् होनेपर अनिर्वचनीय रजत निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार इस मतमें भी शुक्तिका ज्ञान होनेपर रजतावयव अपने अवयवमें लीन हो जाता है। किन्तु यह मत भी त्याज्य ही है। क्योंकि शुक्तिका-रजत-दृष्टान्त-से ही प्रपञ्चका मिथ्यात्व अनुमान होता है। सत्ख्यातिमतमें शुक्तिका और रजत सत् होनेपर इससे प्रपञ्चका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा। अतः इस मतके खण्डनमें अन्य युक्ति नहीं लिखी गयी है।]

अख्यातिमत-खण्डनप्रकार

भय-पलायनादि सिद्ध नहीं होता, अतः रज्जुमें सर्पानुभव कहना चाहिये।

हे सौम्य! भ्रमस्थलमें असत्ख्याति, आत्मख्याति, अन्यथाख्याति और अख्याति—यह चारों मत युक्तिरहित हैं। पूर्वोक्त चारों मतोंसे विलक्षण अनिर्वचनीय ख्याति नामका एक पाँचवाँ मत है। वही ग्रहण करने योग्य है। पूर्वोक्त असत्ख्याति आदि तीन मत ग्राह्य नहीं हैं यह अख्यातिवादीने दिखाया। अख्यातिमत भी ग्राह्य नहीं है यह दिखाते हैं।

अख्यातिमतमें 'अयं सर्पः' इस ज्ञानमें 'अयम्' यह रज्ज्वात्मक अधिष्ठानके सामान्यांशका प्रत्यक्ष ज्ञान है। 'सर्पः' यह अन्यत्र पूर्व-

दृष्टका स्मरणात्मक ज्ञान है—यह उनका मत है। इसमें पूर्वदृष्ट सर्पको स्मरणात्मक ज्ञान ही मानते हैं, प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं, पुरोवर्ती रज्जुमें प्रत्यक्ष सर्पज्ञान स्वीकार किये विना रज्जुको देखकर मनुष्यको भय और पलायन नहीं बन सकता है। पुरोऽवस्थित रज्जुमें प्रत्यक्ष सर्प देखकर ही भय-पलायन हो सकता है, पूर्वदृष्ट सर्पके स्मरणसे नहीं। इसलिये प्रत्यक्ष रज्जुमें ही सर्पकी प्रतीति होती है; पूर्वदृष्ट सर्पकी स्मृति नहीं।

बाधज्ञानके बलसे भी रज्जुमें सर्पका अनुभव ही कहना चाहिये

रज्जुका याथात्म्य ज्ञान होनेपर 'मुझको मिथ्या ही सर्पकी भ्रान्ति हुई' यह कहता है, इस बाधरूप अनुभवके बलसे भी रज्जुमें स्वरूपतः प्रत्यक्ष ही सर्पकी प्रतीति माननी चाहिये। पूर्वानुभूत स्मरण नहीं कहना चाहिये। और भी बात है—'अयं सर्पः' इसमें होनेवाला ज्ञान एक ही है, दो ज्ञान नहीं है। क्योंकि एक कालमें स्मरणात्मक और अनुभवात्मक दो ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः अख्यातिमत भी असंगत होनेसे अग्राह्य ही है। पूर्वोक्त चारों मतोंके लक्षण तथा खण्डन विवरण और स्वाराज्यसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें विस्तारसे वर्णित हैं। उन मतोंका स्वरूपमात्र जिज्ञासुओंको सुलभतासे ज्ञान करानेके लिये यहाँ संक्षेपसे कहा गया है।

सिद्धान्तमें अनिर्वचनीय ख्यातिका निरूपण

अनिर्वचनीय ख्यातिका लक्षण—अन्तःकरणकी वृत्ति चक्षुरादि करणोंके द्वारा बाहर निकलकर विषयके समानाकार होती है। उस वृत्तिसे विषयका आवरण भङ्ग होनेसे विषय उपलब्ध होता है। सौरालोक भी वृत्तिका साधक होता है। आलोकके विना पदार्थ प्रकाशित नहीं होता, अतः आलोक सहकारी होता है; यह क्रम है।

रज्ज्वादिमें जहाँ सर्पका भ्रम होता है, वहाँ भी अन्तःकरणवृत्ति

अधिष्ठानके सामान्यांशका प्रत्यक्ष ज्ञान है। 'सर्पः' यह अन्यत्र पूर्व-

रज्ज्वादिमें जहाँ सर्पका भ्रम होता है, वहाँ भी अन्तःकरणवृत्ति

बाह्य होकर रज्जुसे संयुक्त होती है। तो भी तम आदि दोषसे प्रति-बद्ध होनेसे रज्जुके समानाकार नहीं होती है।

[तमसे मन्दान्धकारका ग्रहण होता है। स्पष्ट प्रकाशमें रज्ज्वादि अधिष्ठानका विशेषांश (रज्जु) का अज्ञान नहीं होता है, तथा गाढ़ तममें अधिष्ठानका सामान्यांश 'अयम्'का ज्ञान भी नहीं होता है। अधिष्ठानके सामान्यांशका ज्ञान और विशेषांशका अज्ञान हुए विना अध्यास होता ही नहीं, यह वात द्वितीय अंशमें कही गयी है। मन्दान्धकारमें अधिष्ठानके सामान्यांशका ज्ञान तथा विशेषांशका अज्ञान सम्भव होता है, अतः तमशब्दसे मन्दान्धकार ही ग्रहण करना चाहिये।]

इसीलिये रज्जुका आवरण भङ्ग नहीं होता है। इस प्रकार आव-रणके नाशक वृत्तिसंसर्ग होनेपर भी यदि दोषसे रज्जुका आवरण भङ्ग नहीं होता तो अधिष्ठानस्वरूप रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अविद्यामें क्षोभ होता है, क्षोभ होनेसे वह अविद्या सर्पाकारमें परिणत हो जाती है। अविद्याका कार्यभूत वह सर्प यदि सत् हो तब तो रज्जुके साक्षात् ज्ञान होनेसे भी उसकी निवृत्ति नहीं होगी। किन्तु, रज्जुका ज्ञान होने-पर सर्प निवृत्त हो जाता है। अतः सर्प सत् नहीं है। यदि वह सर्प अत्यन्त असत् हो तो वन्ध्यापुत्रादिके समान उपलब्ध नहीं होता; परन्तु उपलब्ध होता है, अतः असत् नहीं है। किन्तु सदसत्से विलक्षण अनिर्वचनीय ही है। इसी प्रकार शुक्त्यादि अधिकरणोंमें आरोपित रजतादि भी तात्कालिक अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होकर भान होने लगते हैं। "अस्य अनिर्वचनीयस्य सर्पादेः ख्यातिः—प्रसिद्धिः—प्रतीतिः—स्फुरणमभिवदनञ्च अनिर्वचनीयख्यातिः।"

भ्रमस्थलमें सर्पज्ञान भी अविद्याका परिणाम है, सर्प और सर्पका ज्ञान इन दोनोंका एक साथ ही उत्पत्ति एवं विनाश हो जाता है और सर्प साक्षिभास्य है।

जैसे सर्पादि अविद्याके परिणाम हैं, उसी प्रकार सर्पका ज्ञानरूप

वृत्ति भी अविद्याका ही परिणाम है। अन्तःकरणका परिणाम नहीं है। इसीलिये अधिष्ठानस्वरूप रज्ज्वादिका साक्षात्कार होनेपर आरोपित सर्पादिके समान आरोपित सर्पज्ञानका भी बाध हो जाता है। यदि अन्तःकरणका परिणाम होता तो बाधित नहीं होता। बाधित होनेसे आरोपित सर्पादिके तुल्य उनका ज्ञान भी अविद्याका कार्य होनेसे सदसत्से विलक्षण अनिर्वचनीय ही होता है। किन्तु विशेषता यह है कि प्रातिभासिक सर्पादि रज्ज्वादिसे उपहित अधिष्ठान चेतनमें स्थित तमोगुणप्रधान अविद्यांशका परिणाम है। और तद्विषयक वृत्तिज्ञान इदमाकार वृत्तिका प्रकाशक साक्षी चैतन्यस्थ सत्त्वगुणप्रधान अविद्यांशका परिणाम है। यह जानना चाहिये। जब रज्ज्वादिउपहित चैतन्यस्थ अविद्या सर्पादिके आकारमें परिणत होती है, उसी कालमें तद्वृत्त्युपहित साक्षिचैतन्यस्थ अविद्या भी सर्पादि ज्ञानाकारमें परिणत हो जाती है। जिस कारणसे रज्जु आदिमें उपहित चैतन्यमें स्थित अविद्यामें क्षोभ ('उपादानस्य कार्याभिमुखत्वं क्षोभः'—उपादानके कार्याभिमुख होनेका नाम क्षोभ है) होता है, उसी कारणसे साक्षिचेतनमें स्थित अविद्यामें भी क्षोभ होता है। इसीलिये भ्रमस्थलमें सर्पादि विषय एवं उनका ज्ञान एक साथ ही उत्पन्न होता है। रज्जु आदि अधिष्ठानके साक्षात्-कारसे एक साथ ही लय हो जाता है। इस प्रकार भ्रमस्थलमें बाह्य चैतन्यमें स्थित अविद्यांश सर्पादि विषयोंका उपादानकारण होता है। और अन्तःसाक्षी चैतन्यस्थ अविद्यांश सर्पादिविषयक ज्ञानरूप वृत्तिका उपादानकारण होता है। तथा स्वप्नमें अन्तःसाक्षीके आश्रय अविद्यागत तमोगुणांश विषयाकारमें परिणत होता है, उसी प्रकार अविद्यागत सत्त्वगुणांश उनके ज्ञानाकारमें परिणत हो जाता है। अतएव स्वप्नमें अन्तःस्थ अविद्या ही विषय एवं ज्ञान दोनोंका उपा-दानकारण होता है। इसी कारणसे बाह्य रज्जुसर्पादि तथा अन्तर स्वाप्निक पदार्थ यह दोनों साक्षिभास्य कहे जाते हैं। अविद्यावृत्ति-

द्वारा जो-जो वस्तु साक्षीसे प्रकाशित होती है वह-वह वस्तु साक्षि-भास्य कहलाती है।

रज्जुमें सर्प एवं सर्पज्ञान अविद्याका परिणाम और चेतनका विवर्त है

अनिर्वचनीय रज्जु-सर्पादि और इनके ज्ञानको भ्रम या अध्यास कहते हैं। यह भ्रम अविद्याका परिणाम तथा चैतन्यका विवर्त होता है। **"उपादानकारणसमस्वभावकोऽन्यथाभावः परिणामः"** उपादानकारणके समान स्वभाववाले अन्यथास्वरूपको परिणाम कहते हैं। "अधिष्ठानविषमस्वभावकोऽन्यथाभावो विवर्तः" अधिष्ठानके विषम (विपरीत) स्वभाववाले अन्यथास्वरूपको विवर्त कहते हैं। उपादान कारण है अविद्या, वह अविद्या अनिर्वचनीय है। उसी प्रकार अविद्याके कार्य रज्जु-सर्पादि एवं इनका ज्ञान भी अनिर्वचनीय ही है। अतः रज्जु-सर्पादि और इनका ज्ञान अविद्याके स्वभाववाला अन्यथास्वरूप अर्थात् अविद्यासे भिन्न आकार—भावरूप होनेसे परिणाम है। तथा रज्ज्वाद्यवच्छिन्न अधिष्ठान चेतनका सत् स्वरूप है। रज्जु-सर्पादि एवं इनका ज्ञान सत्से विलक्षण है। इसलिये रज्जु-सर्पादि और इनका ज्ञान स्वाधिष्ठान-चैतन्यसे विपरीत स्वभाववाला अन्यथा-स्वरूप—चेतनसे भिन्न आकारवाला होनेसे विवर्त है। अतः रज्जु-सर्पादि एवं इनका ज्ञान अविद्याका परिणाम और चैतन्यका विवर्त है, यह सिद्ध हो गया।

रज्जु-सर्प और इनका ज्ञान क्रमसे रज्जुसे उपहित चैतन्य एवं अन्तःकरणोपहित चैतन्य अधिष्ठान है। अतः रज्जुका तत्त्वज्ञान इन दोनोंका निवर्तक है

मिथ्याभूत सर्पादिका अधिष्ठान रज्ज्वादि-उपहित चैतन्य ही है, अचेतन रज्जु नहीं है, क्योंकि रज्जु आदि भी सर्पादिके समान कल्पित हैं। एक कल्पित वस्तु कल्पित वस्त्वन्तरका अधिष्ठान नहीं

होता। अतः रज्ज्वादि-उपहित चैतन्य सर्पादिका अधिष्ठान है, अचेतन रज्जु आदि नहीं। रज्जुविशिष्ट चैतन्यको अधिष्ठान स्वीकार करें तो रज्जु और चैतन्य दोनों अधिष्ठान होगा। परन्तु रज्जुमें अधिष्ठानत्व बाधित है। अतः रज्जुसे उपहित चैतन्य ही अधिष्ठान है, रज्जुविशिष्ट चैतन्य नहीं। तथा सर्पादिके ज्ञानका भी साक्षी चैतन्य ही अधिष्ठान है। इस प्रकार सर्वत्र भ्रमस्थलमें विषय एवं विषयज्ञानके उपाधिभेदसे अधिष्ठानका भी भेद है, एक अधिष्ठान नहीं है। विशेषरूपसे रज्जुका अज्ञान जैसे अविद्यामें क्षोभोत्पादन-द्वारा सर्पादि एवं उनके ज्ञानका कारण होता है, उसी प्रकार विशेष-रूपसे रज्जु एवं रज्जुज्ञान दोनोंकी निवृत्तिका कारण होता है।

आक्षेप एवं समाधान

आक्षेप—रज्जुके ज्ञानसे सर्प निवृत्त नहीं होगा।

रज्ज्वादि ज्ञानसे सर्पकी निवृत्ति नहीं होगी। मिथ्या वस्तुका जो अधिष्ठान है, उस अधिष्ठानके ज्ञानसे मिथ्या वस्तुकी निवृत्ति होती है; यह अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त है। पहिले कहा गया कि मिथ्याभूत सर्पादिका रज्ज्वादिसे उपहित चैतन्य ही अधिष्ठान है, रज्जु अधिष्ठान नहीं है। अतः रज्ज्वादिके ज्ञानसे सर्पकी निवृत्ति नहीं होगी।

रज्जुका ज्ञान ही सर्पादिके अधिष्ठानका ज्ञान है

उत्तर—रज्ज्वादि जडपदार्थविषयक ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ही है। वृत्तिका प्रयोजन आवरण भङ्ग करना है। यह आवरण अज्ञानकी शक्ति है। अतः आवरणका आश्रय जड नहीं है, किन्तु जड रज्जुका अधिष्ठान चेतन है, चेतन अधिष्ठानके आश्रित अज्ञानकी शक्तिरूप आवरण रहता है। इसलिये रज्ज्वादि विषया-काराकारित अन्तःकरणकी वृत्तिसे रज्ज्वादि-अवच्छिन्न चेतनका

कल्पित है। एक कल्पित वस्तु कल्पित वस्त्वन्तरका अधिष्ठान नहीं

कारकारित अन्तःकरणकी वृत्तिसे रज्ज्वादि-अवच्छिन्न चेतनका

ही आवरण भङ्ग होता है। वृत्तिमें स्थित चिदाभास तो रज्जुमात्रका प्रकाशक होता है। चैतन्यको स्वयंप्रकाश होनेसे उसके प्रकाशके लिये आभासकी आवश्यकता नहीं है। इस विषयका वर्णन विस्तारसे अन्यत्र इसी अंशमें करेंगे। इस प्रकार चिदाभास-विशिष्ट अन्तःकरणकी वृत्तिरूप जो ज्ञान है, उसमें वृत्तिरूप अंशसे चैतन्यनिष्ठ आवरण भङ्ग होता है, और चिदाभासरूपांशसे रज्जुका प्रकाश होता है, यह दो प्रयोजन सिद्ध होता है। अतः वृत्तिज्ञान केवल जडात्मक रज्जुको ही विषय नहीं करता है, किन्तु अधिष्ठान चैतन्यसहित रज्जु, चिदाभाससहित वृत्तिका विषय होता है। इसीलिये सिद्धान्त-ग्रन्थमें कहा है कि—'अन्तःकरणजन्य वृत्तिज्ञान अखण्ड ब्रह्मका विषय करता है।' इस प्रकार रज्जुके ज्ञानसे आवरणभङ्ग होकर सर्पादिके अधिष्ठान रज्ज्वादिसे अवच्छिन्न चैतन्य स्वयं प्रकाशित होता है, इसीसे रज्जुका ज्ञान ही सर्पादिके अधिष्ठानका ज्ञान है। अतः रज्जुके ज्ञानसे सर्प निवृत्त हो जाता है, यह बात ठीक ही कही है।

रज्जुके ज्ञानसे सर्पका ज्ञान निवृत्त नहीं होगा—पुनः आक्षेप

आक्षेप—ऊपर कहे हुए प्रकारसे रज्जुज्ञान होनेपर सर्प निवृत्त हो जायगा, तथापि सर्पका ज्ञान निवृत्त नहीं होगा। सर्पका अधिष्ठान रज्ज्ववच्छिन्न चेतन है, एवं सर्पज्ञानका अधिष्ठान साक्षि-चैतन्य है। उक्त रीतिसे रज्जुके साक्षात्कारसे रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्यका ही भान होगा; साक्षिचैतन्यका भान नहीं होगा। अतः रज्जुका ज्ञान उत्पन्न होनेपर भी सर्पज्ञानके अधिष्ठान साक्षिचैतन्यका ज्ञान नहीं होगा। अधिष्ठानके अज्ञानसे उसमें आरोपित वस्तुकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु अधिष्ठानज्ञानसे आरोपित वस्तुकी निवृत्ति होती है। अतः रज्जुके ज्ञानसे सर्पकी निवृत्ति नहीं होगी।

समाधान—सर्पके अभावमें सर्पज्ञानका भी अभाव होता है। कारणके लय होनेपर सर्पज्ञान निवृत्त हो जाता है। "सर्पाभावात् सर्पज्ञानाभावः" इस विषयमें कहना यह है कि विषयके अधीन ही ज्ञान होता है। उक्त रीतिसे रज्जुके साक्षात्कार होनेसे रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्यमें आरोपित सर्परूप विषयकी निवृत्तिसे अपने विषयके अभावमें ज्ञान भी निवृत्त हो जाता है।

साक्षिज्ञानके विना सर्पज्ञान नहीं निवृत्त होगा—यह आक्षेप

आक्षेप—अधिष्ठानज्ञानके विना उसमें आरोपित भ्रम कैसे निवृत्त होगा। क्योंकि सर्पज्ञान भी कल्पित ही है। उसका अधिष्ठान साक्षिचैतन्य है। साक्षिचैतन्य-ज्ञानके विना उसमें कल्पित सर्पज्ञान निवृत्त नहीं होगा।

समाधान—साक्षिज्ञानके विना भी सर्पज्ञान निवृत्त होता है—निवृत्ति दो प्रकारकी होती है। (१) आत्यन्तिक निवृत्ति (२) कारणात्मना अवस्थितिरूप निवृत्ति (कारणमें लयरूप निवृत्ति)। जैसे पटके उपादानभूत तन्तुके सहित दाह हो जानेका नाम आत्यन्तिक निवृत्ति है। और घटके ध्वंससे मृद्भावापत्ति होनेपर लयरूप निवृत्ति है। अर्थात् अपने कारणके साथ ही कार्यकी निवृत्ति आत्यन्तिकी निवृत्ति है। समस्त कल्पित वस्तुओंका कारण उनके अधिष्ठान चैतन्यके आश्रित आवरक अज्ञान ही है। अतः अधिष्ठान चैतन्यके अपरोक्ष ज्ञानसे ही अज्ञान और अज्ञानसे आरोपित समस्त कार्य निवृत्त हो जाता है। कार्यकी कारणमें लयरूप निवृत्ति तो अधिष्ठान ज्ञानके विना भी होती है। सुषुप्ति तथा प्रलयमें अधिष्ठान ज्ञानके विना ही समस्त पदार्थोंका लय अपने अज्ञानरूप कारणमें हो जाता है। तब सकल दृश्य पदार्थके लयका हेतु तत्तत् भोगप्रद कर्मोंका उपराम ही हो जाना है। इस प्रकार अधिष्ठान साक्षीके ज्ञान विना भी सर्पज्ञान निवृत्त हो जाता है। उक्त प्रकारसे रज्जुके ज्ञानसे सर्प-

की निवृत्ति होती है, तदनन्तर सर्पज्ञानका विषयीभूत सर्पाभाव ही सर्पज्ञानकी लयरूप निवृत्तिमें कारण होता है।

रज्जुज्ञानके समय सर्पज्ञानाधिष्ठानभूत साक्षीका भी भान होता है

अथवा सर्प और सर्पज्ञान दोनों रज्जुके ज्ञानसे निवृत्त होते हैं। तथाहि रज्जुके साक्षात्के समय अन्तःकरण नेत्रके द्वारा बाहर निकलकर रज्जुदेशमें प्राप्त होकर तत्समानाकार होता है। अतः रज्जु-साक्षात्-कालमें वृत्त्युपहित चैतन्य एवं रज्जु-उपहित चैतन्य दोनों एक हो जाता है। इनमें भेद नहीं होता। इसका कारण यह है कि स्वरूपसे चैतन्यमें कहीं भेद है नहीं, किन्तु भेद उपाधिके कारण होता है। वृत्त्युपहित चैतन्य तथा रज्जु-उपहित चैतन्य इनमें भेदका कारण वृत्ति और रज्जुरूप उपाधि ही है। जब वृत्ति एवं रज्जु यह दोनों भिन्न-भिन्न देशमें हों तब तो तदुपहित चैतन्यमें भेद सिद्ध होता है। यदि उपाधि एक देशमें हो तो चैतन्यमें भेद नहीं होता। वेदान्त-परिभाषादि ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है कि विभिन्न देशस्थ उपाधिसे ही उपहित चैतन्यमें कल्पित भेद होता है। दोनों उपाधि एक देशमें होनेसे उपहित चैतन्य भी एक ही रहता है। उक्त रीतिसे रज्जु-साक्षात्कारदशामें रज्जु-उपहित चैतन्य और वत्त्युपहित चैतन्य यह दोनों एक होते हैं। उसमें साक्षिचैतन्य ही वृत्त्युपहित चैतन्य कहलाता है। वही साक्षिचैतन्य अन्तःकरणमें एवं तद्वृत्तिमें स्थित होकर भी असंग रूपसे दोनोंका भासक है। इसीलिये इसका नाम साक्षी है। इस प्रकार रज्जु-साक्षात्कारके समय साक्षिचैतन्य तथा रज्जु-उपहित चैतन्यमें अभेद सिद्ध होता है। अतः रज्जुके ज्ञानसे रज्जूपहित चैतन्यका भी भान होता है। उक्त रीतिसे रज्जु-साक्षात्कारके समय सर्पज्ञानके अधिष्ठानभूत साक्षीके भानसे उसमें कल्पित सर्पज्ञान भी निवृत्त हो जाता है।

त्रिपुटीभानके समय साक्षीका भान अवश्य होता है

अथवा, कूटस्थदीपमें विद्यारण्यस्वामीने कहा है कि चिदाभाससहित अन्तःकरणकी वृत्ति चक्षु आदि करणोंसे निकलकर घटादि विषयोंको प्रकाशित करता है। यहाँ घटादि विषय, चिदाभाससहित वृत्तिरूप ज्ञान तथा चिदाभाससहित अन्तःकरणरूप ज्ञाता इन तीनोंको साक्षी प्रकाशित करता है।

इसका अर्थ यह है कि 'अयं घटः' इस ज्ञानमें आभाससहित अन्तःकरणकी वृत्तिसे घटमात्रका प्रकाश होता है। 'घटमहं जानामि' इस ज्ञानमें 'अहं' शब्दका अर्थ है ज्ञाता, घट है ज्ञेय और 'जानामि' यह घटविषयक ज्ञान है। इन तीनों त्रिपुटीको साक्षी प्रकाशित करता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनोंका नाम त्रिपुटी है। उक्त रीतिसे सर्वत्र त्रिपुटीका प्रकाशक साक्षी ही होता है। यदि साक्षी स्वयं अज्ञात हो, तो साक्षीसे त्रिपुटीका ज्ञान कैसे होगा। अतः त्रिपुटीके ज्ञानसे साक्षीका ज्ञान भी अवश्य होता है। इस साक्षीके ज्ञानसे सर्पज्ञान निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार सर्पादि मिथ्या विषय एवं उनके ज्ञान और भिन्न-भिन्न अधिष्ठानमें इतना ही शङ्का-समाधान है।

मिथ्या सर्पादि एवं उनके ज्ञानका अधिष्ठान साक्षी ही है

मिथ्या सर्प और सर्पके ज्ञानका पृथक् अधिष्ठान नहीं है। दोनोंका अधिष्ठान एक ही है। सर्प एवं उसके ज्ञानका अधिष्ठान बाह्य रज्ज्ववच्छिन्न चेतन है, यह नहीं कह सकते हैं; क्योंकि जितने ज्ञान होते हैं, वह सभी प्रमाता अथवा साक्षीके आश्रित ही होते हैं यह नियम है। अतः बाह्य रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य सर्पज्ञानका आश्रय नहीं हो सकता है। सर्प एवं तद्विषयक भ्रमरूप ज्ञानका अधिष्ठान अन्तःकरणोपहित साक्षिचैतन्य है यह स्वीकार करें तब तो शरीरके भीतर

अन्तःकरणदेशमें ही सर्पोपलब्धि माननी पड़ेगी, बाह्य रज्जुदेशमें सर्पोपलब्धि नहीं होगी। यदि अन्तर ही उत्पन्न सर्प मायाके बलसे बाहर प्रतीत होता है, यह मानें तब विज्ञानवादियोंका आत्मख्याति सिद्ध होगा। किन्तु इसका खण्डन पहिले ही कर दिया गया है। इस प्रकार रज्जु-उपहित चैतन्यको सर्पज्ञानका अधिष्ठानत्व सम्भव नहीं है। तथा अन्तःकरणोपहित चैतन्यका भी सर्पाधिष्ठानत्व सम्भव नहीं, मिथ्या सर्प एवं तत्-ज्ञान दोनोंका एकाधिष्ठानत्वपक्ष असंगत प्रतीत होता है, तथापि वक्ष्यमाण रीतिसे अन्तःकरण वृत्त्युपहित चैतन्यको दोनोंका अधिष्ठानत्व सम्भव होनेमें कोई दोष नहीं है।

चक्षुद्वारा रज्जुदेशमें प्राप्त अन्तःकरणका इदमाकार वृत्त्युपहित चैतन्यके आश्रित जो अविद्या है, वह सर्पाकार एवं सर्पज्ञानाकारमें परिणत होती है। वृत्त्युपहित चैतन्यमें स्थित अविद्याका तमोगुणांश सर्पका उपादान कारण है, तथा उसीका सत्त्वांश सर्पज्ञानका उपादान करण है। इस रीतिसे सर्प और सर्पज्ञान दोनोंका वृत्त्युपहित चैतन्य अधिष्ठान है। अन्तःकरणकी वृत्तिके बाह्यरज्जुदेशमें होनेसे तद्वृत्त्युपहित चैतन्य भी बाह्य ही है। अतः वही सर्पका आश्रय है। जितना अन्तःकरणका स्वरूप है, उतना ही साक्षीका स्वरूप है। शरीरके अन्तरमें स्थित जो अन्तःकरण है, वही वृत्तिरूपसे परिणत है। अतः वृत्तिसे उपहित चैतन्य ही साक्षी है। साक्षी सर्पज्ञानका आश्रय है। रज्जुके प्रत्यक्ष कालमें रज्जूपहित चैतन्य तथा वृत्त्युपहित चैतन्य एक होनेसे रज्जुके ज्ञानसे ही मिथ्या सर्प और सर्पज्ञान दोनों निवृत्त हो जाते हैं।

एक ही रज्जुमें नाना पुरुषोंको भिन्न-भिन्न भ्रम होता है इसलिये भी भ्रमका अधिष्ठान साक्षिचैतन्य ही है

एक ही रज्जुमें अनेक पुरुषोंको भिन्न-भिन्न भ्रम होता है—जैसे किसीको सर्प, किसीको दण्ड, माला, भूछिद्र आदि, अथवा सबको सर्पका ही भ्रम होता है। इनमें जिस व्यक्तिको रज्जु-साक्षात्कार होता है, उसीको वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें कल्पित अध्यासनिवृत्ति होती है। और जिसको रज्जुका साक्षात्कार नहीं होता उसका अध्यास निवृत्त नहीं होता है। अतः वृत्त्यवच्छिन्न चेतन ही समस्त कल्पित वस्तुका अधिष्ठान है। रज्ज्वादि विषयोपहित चैतन्य अधिष्ठान नहीं है।

रज्जु-उपहित चैतन्यको सर्प, दण्डादिका अधिष्ठान मानें तो भिन्न-भिन्न व्यक्तिको भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीति है वह सब एक व्यक्तिको प्रतीत होना चाहिये, किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है। अतः मिथ्या सर्पका अधिष्ठान वृत्त्युपहित चैतन्य है, इस मतमें यह दोष नहीं होता है। जिस पुरुषकी वृत्त्युपहित चैतन्यमें जो वस्तु कल्पित है वह वस्तु उसको प्रतीत होती है, अन्यकी कल्पित अन्यको प्रतीत होती है यह नहीं कह सकते।

इस प्रकार बाह्य भ्रमका विषय सर्पादि और सर्पादि ज्ञानका वृत्त्युपहित साक्षिचैतन्य ही अधिष्ठान है। तथा स्वप्नमें उपलब्ध पदार्थ एवं उनके ज्ञानका अन्तःकरणोपहित साक्षिचैतन्य अधिष्ठान है।

इस प्रकार "सदसद्विलक्षणानिर्वचनीयाविद्यायाः परिणामभूतानिर्वचनीयसर्पादीनां ख्यातिः—प्रतीतिः—प्रसिद्धिः—स्फुरणमभिवदनश्चानिर्वचनीयख्यातिरित्युच्यते"।

मिथ्या जगत्के आधार-अधिष्ठान-विषयमें—

प्रश्न—हे स्वामिन् ! प्रतीयमान अपार मिथ्याभूत जगत्का आधार तथा अधिष्ठान क्या हैं? कृपया कहें। यह तत्त्वदृष्टिका प्रश्न है।

मिथ्या जगत्का आत्मा ही आधार और अधिष्ठान है

उत्तर—हे शिष्य ! तुम्हारे अपने स्वरूपके अज्ञान (आत्माको ब्रह्मस्वरूप न जानने) से तुमको यह मिथ्या जगत् प्रतीत हो रहा है। अतः तुम्हीं इस जगत्के आधार और अधिष्ठान हो। रज्जुके अज्ञानसे मिथ्याभूत सर्प प्रतीत होता है। वहाँ मिथ्याभूत सर्पादिका रज्जु ही आधार और अधिष्ठान होता है। यद्यपि मुख्य सिद्धान्त द्वितीय पक्षमें मिथ्या सर्पादिका अधिष्ठान वृत्त्युपहित चैतन्य है, तथा प्रथम पक्षमें रज्जूपहित चैतन्य अधिष्ठान कहा गया है। इन दोनों पक्षोंमेंसे किसीमें जड रज्जुको अधिष्ठान नहीं कहा गया है, तथापि प्रथम पक्षमें चैतन्यनिष्ठ अधिष्ठान होनेसे रज्जु उपाधि है, अतः स्थूल दृष्टिसे रज्जु अधिष्ठान कहा गया है। जैसे मिथ्याभूत सर्पादिका आधार और अधिष्ठान रज्जु है, उसी प्रकार मिथ्या जगत्का आधार एवं अधिष्ठान आत्मा ही है।

आत्माका सामान्य रूप आधार और विशेष रूप अधिष्ठान है। यहाँ यह दृष्टान्त है—

जैसे रज्जुके दो रूप हैं—एक सामान्य, दूसरा विशेष। इनमें 'इयम्' यह सामान्य रूप है, 'रज्जु' यह विशेष रूप है। 'अयं सर्पः' इस भ्रान्तिदशामें मिथ्याभूत सर्पसे तादात्म्यापन्न रूपसे भान होनेवाला 'अयम्' यह सामान्य रूप है। एवं भ्रान्ति-दशामें जो रूप प्रतीत नहीं होता है, और जिस स्वरूपके साक्षात्कारमात्रसे भ्रम निवृत्त हो जाता है वह रज्जु विशेष रूप है।

इसी प्रकार आत्माके भी दो रूप हैं—एक सामान्य, दूसरा विशेष। इनमें सद्रूप सामान्य रूप है और असंगत्व, कूटस्थत्व, नित्यत्व, शुद्धत्व और मुक्तत्वादि विशेष रूप है। जैसे "स्थूलसूक्ष्मशरीरसंघातोऽस्ति" यह कार्य-कारणसंघात भ्रान्तिदशामें भी मिथ्या संघातसे अभिन्नतया सद्रूप प्रकाशित होता है। अतः सद्रूप आत्माका सामान्य रूप कहा जाता है। स्थूल-सूक्ष्म-कार्य-कारणके संघातरूपकी भ्रान्तिके समय आत्माके नित्यत्व, असंगत्व, कूटस्थत्व आदि स्वरूपका भान नहीं होता है। आत्माके असंगत्वादि रूपके भान होनेपर तो शरीरादि संघातका भ्रम अत्यन्त निवृत्त हो जाता है। अतः असंगत्व, कूटस्थत्व, नित्यत्व, शुद्धत्व, अद्वितीयत्व, व्यापकत्वादि आत्माका विशेष रूप है।

समस्त भ्रान्तिमें सामान्य रूप आधार है, एवं विशेष रूप अधिष्ठान है, यह कहा जाता है। जैसे सर्पके आश्रय रज्जुका 'इयम्' यह सामान्य रूप आधार है। तथा रज्जु यह विशेष रूप अधिष्ठान है। उसी प्रकार मिथ्या प्रपञ्चके आश्रयभूत आत्माका सामान्यात्मक सद्रूप प्रपञ्चका आधार है, तथा असंगत्वादि विशेष रूप अधिष्ठान है। यह आधार-अधिष्ठानका विभाग श्रीमत् शंकर भगवत्-पादाचार्यके प्रशिष्य सर्वज्ञात्म मुनिने संक्षेपशारीरकमें प्रदर्शित किया है।

मिथ्या जगत्का द्रष्टा आत्मासे अन्य होना चाहिये—यह प्रश्न है।

प्रश्न—हे स्वामिन् ! मिथ्याभूत इस जगत्का द्रष्टा कौन है ?—आधाराधिष्ठानोभयात्मक आत्मा ही इसका द्रष्टा नहीं हो

संसारनिवृत्तिका उपाय : ११७

रूप है।

है ?—आधाराधिष्ठानोभयात्मक आत्मा ही इसका द्रष्टा नहीं हो

सकता है। क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता है। समस्त जगत्के आधाराधिष्ठानरूपसे स्थित आत्मासे भिन्न कोई अन्य ही इसका द्रष्टा होना चाहिये। जैसे सर्पादिके आधाराधिष्ठानभूत रज्ज्वादि-का द्रष्टा कोई अन्य ही होता है, उसी प्रकार इसका भी द्रष्टा अन्य होना चाहिये, प्रत्यगात्मासे अन्य द्रष्टा कौन है ? यह वतलानेकी कृपा करें।

समाधान—लोकमें जो मिथ्या वस्तु होती है वह सब अपने अधिष्ठानमें कल्पित होती है। अधिष्ठान दो प्रकारका होता है, एक चेतनात्मक, दूसरा जडात्मक। जिसका अधिष्ठान जड होता है उसका द्रष्टा अधिष्ठानसे अन्य होता है। और जिसका अधिष्ठान चेतन होता है, वह चेतन अधिष्ठान अपनेमें आरोपित वस्तुका स्वयं द्रष्टा होता है, अन्य नहीं। जैसे स्वप्न-प्रपञ्चका अधिष्ठान साक्षिचैतन्य है वही उसका द्रष्टा भी है। इसी प्रकार इस जाग्रत् (स्थूल) जगत्का आत्मा ही अधिष्ठान है एवं वही उसका द्रष्टा भी है। स्थूल दृष्टिसे रज्ज्वादिको सर्पादिका अधिष्ठान स्वीकार करके मन्दाधिकारियोंके समाधानके लिये यह शङ्का-समाधान किया गया है। परमार्थतः अद्वैत-सिद्धान्तमें सर्पादि अध्यासका अधिष्ठान साक्षिचैतन्य ही है, तथा वही द्रष्टा है। अतः कल्पित समस्त दृश्य प्रपञ्चरूप कोटि ब्रह्माण्डका द्रष्टा अधिष्ठानभूत आत्मा ही है। इस पक्षमें कोई शङ्का-समाधानका प्रसंग ही नहीं होता है।

मिथ्या संसारकी निवृत्तिकी इच्छा होना उचित नहीं

हे सोम्य ! इस प्रकारका मिथ्याभूत संसार-दुःख तुममें भ्रान्तिसे प्रतीत हो रहा है।

अतः मिथ्या संसार-दुःखकी निवृत्तिकी इच्छा करना युक्त नहीं है। इसमें एक दृष्टान्त सुनो। यदि कोई मान्त्रिक—जादूगर अपने मन्त्रके वलसे किसीको मिथ्या शत्रु दिखावे तो उस शत्रुके विनाशके लिये कोई प्रयत्न नहीं करता, उसी प्रकार मिथ्याभूत संसारकी निवृत्तिको इच्छा करना भी युक्त नहीं है। भगवान् गौडपादने अपने माण्डूक्यकारिका-ग्रन्थमें कहा भी है कि—

> प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
> मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥

तथा वाराहोपनिषद्में भी कहा है—

> अज्ञानमेव न कुतो जगतः प्रसङ्गो
> जीवेशदेशिकविकल्पकथातिदूरे।
> एकान्तनिर्मलचिदेकरसस्वरूपं
> ब्रह्मैव केवलमहं परिपूर्णमस्मि॥

मिथ्या संसार भी दुःखका हेतु है, अतः इसकी निवृत्तिका उपाय होना चाहिये—यह प्रश्न है।

प्रश्न—हे स्वामिन् ! आपने कहा कि स्वप्नवत् मिथ्या ही संसार तुममें प्रतीत होता है, परमार्थमें सद्रूप नहीं है, यह वात सत्य है। तथापि मिथ्या अथवा रूपान्तरसे जनन-मरणादि-रूप संसारका मुझमें भान न हो, ऐसे उपायका कृपया उपदेश करें। आपने यह भी कहा कि मिथ्याभूत संसारकी निवृत्तिके साधनका तुमको अन्वेषण नहीं करना चाहिये। यह बात आपने सत्य कही। तथापि मिथ्या पदार्थ यदि दुःखका हेतु है, तो साधनोंसे उसको अवश्य दूर करना चाहिये। जैसे किसीको प्रतिदिन दुःस्वप्न होता हो तो, वह दुःस्वप्न मिथ्या होनेपर भी जप, पाद-प्रक्षालन, रुद्राभिषेक आदि उपायोंद्वारा उसकी

निवृत्ति की जाती है। वैसे ही मिथ्याभूत भी यह संसार जन्म-मरणादि अनन्त दुःखका हेतु है, अतः इसकी निवृत्तिका उपाय कृपया अवश्य बतायें।

उत्तर—हे शिष्य ! दुःखरूप जगत्की अत्यन्त निवृत्तिके लिये पूछा हुआ उपाय तो पहिले ही कह दिया था। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उसमें दृढ़ निश्चय करो। निश्चय होनेपर दुःखरूप जगत् अणुमात्र भी तुममें नहीं दीखेगा। हे सोम्य ! अद्वितीय असंग चिन्मात्रस्वरूप आत्माके अपरिज्ञानसे ही दुःखरूप जगत् तुमको भान हो रहा है। यह दुःखरूप जगत् तुम्हारे आत्म-स्वरूपके ज्ञानसे ही निवृत्त होगा। जो वस्तु जिसके अज्ञानसे भान होती है वह वस्तु उसके ज्ञानसे ही निवृत्त होती है यह नियम है। जैसे रज्जुके अज्ञानसे प्रतीत होनेवाला सर्प 'रज्जु-रेवेयम्' 'यह रज्जु ही है' इस ज्ञानमात्रसे ही निवृत्त होता है। वैसे ही आत्माके अज्ञानसे प्रतीयमान जगत् भी आत्मतत्त्व-साक्षात्कारमात्रसे ही निवृत्त होता है।

ज्ञान ही अज्ञानका विनाशक होता है कर्म-उपासना नहीं

हे सोम्य ! इस जगत्का उपादान कारण अज्ञान है। इस अज्ञानका विनाश होनेपर अज्ञानका कार्य समस्त दृश्य जगत् स्वयं नष्ट हो जाता है। उपादानका नाश होनेपर उसका कार्य नहीं रह सकता है। इस उपादान अज्ञानका नाश तो ज्ञानसे ही होता है, अन्य कर्मोपासनादिसे नाश नहीं होता। जैसे—गृहान्तरवर्ती अन्धकार केवल प्रकाशमात्रसे निवृत्त होता है, अन्य व्यापारसे दूर नहीं होता, वैसे ही अज्ञानरूप घना अन्धकार ज्ञानरूप प्रचण्ड प्रकाशसे ही निवृत्त होता है, अन्य किसी

साधनसे निवृत्त नहीं होता। हे सोम्य ! द्वैतरूप जगत् जिससे निःशेष निवृत्त होता है, वह उपाय (साधन) हमने उपदेश कर दिया। इसको मनमें धारण करके पुनः-पुनः युक्तियोंसे विचार करो। फिर भी यदि कुछ संशय हो तो यथेच्छ प्रश्न करो।

पूर्वोपदिष्ट विषयमें आक्षेप-समाधान

जीव-ब्रह्ममें अभेद-निरूपण

जीव-ब्रह्मके अभेदमें तत्त्वदृष्टिका प्रश्न—गुरूपदिष्ट विषयका संक्षेपसे अनुवाद करके अपनी शङ्का-कथन—

हे स्वामिन् ! आपने कहा कि जगत्का कारण अज्ञान है। अज्ञानसे उत्पन्न जगत्का ज्ञानसे ही नाश होता है, यह उपदेश सत्य है। परन्तु जगत् मिथ्या है, जीव आनन्दरूप है, अतः जीवसे ब्रह्म भिन्न नहीं है, इस आपके उपदिष्ट विषयमें 'जग-न्मिथ्या और जीव आनन्दरूप है' यह तो समझ रहा हूँ, किन्तु जीव ब्रह्मसे अभिन्न है यह अंश मुझे निश्चय नहीं होता है; इन दोनोंका भेद ही मेरे मनमें प्रतीत होता है, यह तत्त्वदृष्टिका प्रश्न है।

श्रुतिमें अनेक प्रकारके कर्म और उपासनाका वर्णन है, इस कर्म-उपासनाके बलसे जीव-ब्रह्मके भेदकी शङ्का—

हे स्वामिन् ! मुझे अन्य भी शङ्का होती है। श्रुतिमें ही जीव-ब्रह्मका भेद प्रतिपादन किया गया है। यथा—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥"
(मु० ३।१।१)

यह श्रुति है। इसका अर्थ यह है कि बुद्धिरूप एक वृक्षमें दो पक्षी रहते हैं। उन दोनोंका समान स्वभाव है। उनमें एक कर्मफलका भोक्ता है, दूसरा शुद्ध भोगरहित असंग होता हुआ भी कर्मफल-भोक्ताको प्रकाशित करता है। इस श्रुतिमें भोक्ता जीव एवं दूसरा प्रकाशक परमात्मा प्रतीत होता है। इस श्रुतिसे जीव तथा ब्रह्ममें भेद प्रतिपादन किया गया है, अतः दोनोंमें ऐक्य नहीं बन सकता है।

दूसरी बात यह कि वेदमें नाना प्रकारके कर्म एवं उपासनाका जगह-जगह वर्णन है। यदि जीव और ब्रह्मका एकत्व स्वीकार करें तो सब निरर्थक हो जाते हैं। और भी बात है कि जीव और ब्रह्मके एकत्व-स्वीकारमें क्या ब्रह्ममें जीवका अन्तर्भाव होता है, किंवा जीवमें ब्रह्मस्वरूपका अन्तर्भाव होता है। यह दोनों बातें सम्भव नहीं होतीं। यदि ब्रह्ममें जीवस्वरूपका अन्तर्भाव मानें तो जीवको ब्रह्मरूप होनेसे कर्म और उपासनामें अधिकारके अभावका प्रसंग होगा, अतः कर्मोपासनादि निरर्थक सिद्ध होंगे। और यदि जीवमें ब्रह्मस्वरूपका अन्तर्भाव स्वीकार करें तो जीवभावापन्न होनेसे ब्रह्ममें उपास्यत्वका अभाव होगा। इस प्रकार उपासनावाक्य निष्फल ही सिद्ध होंगे। और कर्मफल देनेवाले ईश्वरके अभावमें कर्मानुष्ठान भी व्यर्थ ही होगा। "कर्मातिरिक्त ईश्वरो नास्ति, स्वतन्त्रं कर्मैव फलं ददाति" 'कर्मसे अतिरिक्त ईश्वर नहीं है, कर्म ही स्वतन्त्र फल देता है', यह मीमांसकोंकी उक्ति भी ठीक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि कर्म स्वयं जड है। जड कर्ममें फलदातृत्व-सामर्थ्य ही नहीं है। अतः सर्वज्ञ ईश्वरसे ही कर्मफलकी सिद्धि होती है यही कहना चाहिये। इसीलिये जीवात्मा और परमात्मामें ऐक्य नहीं बन सकता। यह प्रमाणगत संशय है।

'स्वरूपभेदसे जीव-ब्रह्ममें ऐक्य असंगत है'—

उक्त शङ्काका समाधान—

आकाशके समान चैतन्यमें भी चार भेद हैं—हे सौम्य! तुम्हारे संदेहका निवर्तक विचाररूप उपदेश सुनो—जैसे एक आकाशका घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश और महाकाश—यह चार भेद है। वैसे ही एक चैतन्यका भी चार भेद है। कूटस्थ, जीव, ईश्वर और ब्रह्म। विचारपूर्वक इन चारोंके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान होनेसे तुम्हारा संदेह स्वतः नष्ट हो जायगा। अतः मेरेद्वारा कहा हुआ इन चारोंका स्वरूप निश्चय करो। इसके जानसे निःसंशय ज्ञानोदयद्वारा तुम्हारा जन्मादि निःशेष दुःख निवृत्त हो जायगा।

चतुर्विध आकाशका वर्णन

घटाकाश—जलपूरित घटमें जितना आकाश जलको अवकाश देता है उतने आकाशका नाम घटाकाश है।

जलपूरित घट कूं जु दे, जितनो नभ अवकास।
युक्तिनिपुन पंडित कहैं, ताकूं घट आकास॥

जलाकाश—जलपूर्ण घटमें नक्षत्रादिसहित आकाशका प्रतिबिम्ब, तत्प्रतिबिम्बसहित घटाकाश—मिले-जुले दोनों आकाशका नाम जलाकाश है।

जलपूरित घट में जु पुनि, है नभको आभास।
घटाकासयुत विज्ञजन, भाखत जलआकास॥

इसमें कोई प्रश्न करे कि आकाशका प्रतिविम्ब नहीं होता, किन्तु केवल नक्षत्रादिका ही प्रतिविम्ब है, क्योंकि अरूप आकाशका प्रतिविम्ब होना सम्भव नहीं है, रूपवान्का ही प्रतिविम्ब होता है अतः आकाशका प्रतिविम्ब नहीं है, तो यह प्रश्न ठीक नहीं है। यदि जलमें आकाशका प्रतिविम्ब स्वीकार न करें तो गोष्पदपरिमाण जलमें महागजादिपरिमाण-गम्भीरताकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। किन्तु गम्भीरताकी प्रतीति होती है, अतः आकाशका प्रतिविम्ब स्वीकार करना चाहिये। नीरूपका प्रतिविम्ब होता ही नहीं यह भी नहीं कहना चाहिये। नीरूप शव्दकी भी प्रतिध्वनि देखी ही जाती है। ध्वनि शव्दका प्रतिविम्ब ही है। अतः नीरूप आकाशका भी प्रतिविम्ब कहना ठीक ही है।

[अथवा, गुण गुणके आश्रित नहीं टिकता किन्तु द्रव्यमें ही गुण होता है, यह नियम है। अतः गुणभूत नील-पीतादि वर्ण नीरूप ही हैं तथापि स्वच्छ दर्पणमें प्रतिविम्ब देखा ही जाता है। एवं नीरूप आकाश और चैतन्यका भी प्रतिविम्व कहा गया है।]

मेघाकाश—मेघ—वादलको अवकाश देनेवाला जितना आकाश और मेघस्थ जलमें प्रतिविम्बित आकाश मिले हुए दोनों आकाशका नाम मेघाकाश है। इसमें कोई शङ्का करे कि मेघ तो आकाशमें है। उस मेघके जलमें आकाशका प्रतिविम्ब है, इसमें क्या प्रमाण है? उत्तर—यद्यपि मेघके जलमें आकाशका प्रतिविम्ब प्रत्यक्ष नहीं दीखता है, तथापि अनुमानसे प्रतीत होता है। जैसे मेघसे जल वरसता है, यह देखकर मेघमें जल है यह अनुमान होता है, तथा मेघस्थ जल आकाशका प्रतिविम्ब-विशिष्ट है "स्वच्छद्रव्यत्वात्, दर्पणादिवत्" इस अनुमानसे मेघस्थ जलमें आकाशका प्रतिविम्बानुमान सिद्ध होता है। यदि जल है तो जल आकाशके प्रतिविम्बके विना नहीं होता यह नियम है। इस प्रकार मेघस्थ जलमें आकाशका प्रतिबिम्ब है यह सिद्ध हो जाता है।

जो मेघहि अवकास दे, पुनि तामैं आभास।
तिन दोनूं कूं कहत हैं, बुधजन मेघाकास॥

महाकाश—ब्रह्माण्डके वाहर एवं भीतर व्याप्त एकरूपसे वर्तमान आकाशको विद्वान् लोग महाकाश कहते हैं।

चैतन्यके चार प्रकारोंका वर्णन

हे सोम्य! चतुर्विध आकाशका लक्षण कहा। अव, चतुर्विध चैतन्यका लक्षण सुनो। जिसके श्रवणमात्रसे विचारका महाफल ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है।

[किसी-किसी अद्वैत-ग्रन्थमें जीव, ईश और ब्रह्म यह चित्की तीन प्रकारकी प्रक्रिया स्वीकार की गयी है। अनादि-पदार्थषट्कनिरूपणमें तीन प्रकारका ही चैतन्य कहा है। कूटस्थ न स्वीकार करनेसे कोई दोष नहीं आता है। कूटस्थ और ब्रह्ममें नाममात्रसे अन्य भेद नहीं है। विद्यारण्यमुनिकृत दृग्दृश्यविवेक नामक ग्रन्थमें कूटस्थको पारमार्थिक जीव कहा है। एवं जाग्रत्कालिक अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बको व्यावहारिक जीव और स्वप्नद्रष्टाको प्रातिभासिक जीव निरूपण किया है। इस प्रकार कूटस्थको जीव कोटिमें अन्तर्भावित किया है।]

कूटस्थका वर्णन—बुद्धि अथवा व्यष्टि अज्ञानके अधिष्ठान-भूत चैतन्यका नाम कूटस्थ है। जिनके मतमें बुद्धिविशिष्ट चेतन जीव है, उनके मतमें बुद्धिके अधिष्ठानको कूटस्थ कहते हैं। और जिनके मतमें व्यष्टि-अज्ञानविशिष्ट चेतन जीव है, उनके मतमें व्यष्टि-अज्ञानका अधिष्ठान कूटस्थ है।

यहाँ यह सिद्धान्त है कि जीवबोधक जो विशेषण है उसके अधिष्ठानका नाम कूटस्थ है। यह कूटस्थ उत्पत्त्यादिसे रहित है। इसका यह अभिप्राय है कि ब्रह्मसे भिन्न जैसे आभास उत्पन्न होता है, वैसे कूटस्थ उत्पन्न नहीं होता, किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही है। जैसे घटाकाश महाकाशसे भिन्न नहीं है किन्तु महाकाश ही है। यह कूटस्थ आत्मा शब्दका लक्ष्यार्थ है। कूटस्थको ही प्रत्यग्, निजस्वरूप तथा जीव, साक्षी इन शब्दोंसे व्यपदेश किया गया है। कूटस्थ ही घटाकाशस्थानीय है।

जीवका स्वरूप-वर्णन

बुद्धिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। जीवका स्वरूप—अनन्तकोटि काम-कर्मकी वासनासे वासित बुद्धिमें प्रतिफलित चैतन्यके प्रतिबिम्बको विद्वान् लोग जीव कहते हैं। केवल प्रतिबिम्बमात्रको जीव नहीं कहते हैं। किन्तु जैसे घटाकाश-सहित आकाशके प्रतिबिम्बको जलाकाश कहते हैं, इसी प्रकार कूटस्थसहित चिदाभासको जीव कहते हैं। अतः बुद्धिस्थ चिदा-भास और बुद्धिका अधिष्ठान चैतन्य यह दोनों मिलकर जीव कहा जाता है।

[यहाँ चिदाभास शब्दसे बुद्धिसहित चिदाभास ग्रहण करना चाहिये। तथा अन्तःकरण अथवा अविद्या एवं अविद्यामें स्थित चिदाभास और दोनोंका अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य यह तीनों मिलकर ही जीव कहा जाता है।

(१) केवल अन्तःकरणको जीव कहें तो घटादि जडको भी जीव कहना पड़ेगा। यदि कहें कि घटादि अस्वच्छ है अतः जीव नहीं कह सकते, तो स्वच्छ दर्पणादिको जीवत्व प्राप्त होगा। यदि कहें, दर्पणादि बाह्य है अतः जीव नहीं कह सकते तो अन्तः-इन्द्रियोंको जीवापत्ति होगी; इन्द्रियोंकी अपेक्षा आन्तरत्वात् अन्तःकरणको ही जीव कहना न्याय है कहें तो उससे भी आन्तर अज्ञानको तदापत्ति—जीवापत्ति होगी। और भी बात है, जीवके चेतन होनेसे अन्तःकरणको जीवत्व नहीं हो सकता है। (२) केवल प्रतिबिम्बको भी जीवत्व सम्भव नहीं होता, क्योंकि अन्तःकरण उपाधिके विना प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। (३) अधिष्ठान चेतनको जीवत्वोक्ति संगत नहीं होती, क्योंकि निर्विकारको विकारात्म जीव कहना युक्त नहीं है। अतः अन्तःकरण एवं अन्तःकरणमें प्रतिफलित चैतन्याभास और इन दोनोंका अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य यह तीनों मिलकर ही जीव कहे जाते हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

इसमें कूटस्थको संसार सम्भव नहीं, अतः जीव ही संसारी है यह जानना चाहिये।

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥]

आभासस्वरूपका विवेचन

पहिले बिम्बरूप कूटस्थसहित चिदाभास जीव कहा गया है। यहाँ यह प्रतीत होता है कि बुद्धिमें प्रतिफलित जो बिम्ब है वह कूटस्थका ही है बाह्य ब्रह्म चैतन्यका नहीं है। जिसका प्रतिबिम्ब अन्यत्र प्रतीत होता है वह बिम्ब कहा जाता है। प्रकरणमें कूटस्थको बिम्ब अङ्गीकार किया है, अतः कूटस्थका ही प्रतिबिम्ब जीव है यह प्रतीत होता है। जैसे अत्यन्त रक्त जवाकुसुमादि उपाधिके ऊपर रखे हुए स्वच्छ स्फटिकमें जो रक्तिमा प्रतीत होती है वह रक्तिमा उस पुष्पकी ही है जिसके ऊपर वह स्फटिक रखा हुआ है। इसी प्रकार कूटस्थके आश्रित बुद्धिमें कूटस्थका ही प्रकाश प्रतिफलित है। वह प्रतिफलित प्रकाश ही चिदाभास शब्दसे कहा गया है। अत्यन्त स्वच्छ स्फटिकके समान बुद्धि भी 'सत्त्व' गुणका कार्य होनेसे अत्यन्त निर्मल ही है। उसमें प्रतिफलित कूटस्थके प्रकाशका ही नाम प्रतिबिम्ब है। कूटस्थमें अधिष्ठित होनेसे बुद्धिमें कूटस्थका ही प्रतिबिम्ब जीव है। यह एक पक्ष दिखाया गया।

अथवा—बुद्धिमें ब्रह्म चैतन्यका प्रतिबिम्ब भी सम्भव है। जैसे घटान्तःस्थ जलमें बाह्य महाकाशका ही प्रतिबिम्ब होता है। घटके भीतर आकाशका प्रतिबिम्ब नहीं होता। क्योंकि घटस्थ जलमें जितना विस्तार उपलब्ध होता है उतना विस्तार घटके भीतरी आकाशमें नहीं है। अतः घटस्थ जलमें उपलभ्य-मान विस्तार बाह्य महाकाशका ही प्रतिबिम्ब कहना चाहिये। इस प्रकार बुद्धिमें व्यापक ब्रह्म चैतन्यका ही प्रतिबिम्ब हो सकता है।

व्यापक ब्रह्म चैतन्यका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता—इस शङ्काका निराकरण आकाशके दृष्टान्तसे ही हो गया। जैसे व्यापक आकाशका प्रतिबिम्ब सम्भव होता है, उसी प्रकार व्यापक ब्रह्मका भी प्रतिबिम्ब सम्भव है। रूपवान् पदार्थका रूपविशिष्ट पदार्थान्तरमें ही प्रतिबिम्ब होता है यह नियम भी नहीं है। नीरूप शब्दका नीरूप आकाशमें प्रतिबिम्ब देखा ही जाता है, यह बात पहिले ही कही गयी है। अतः व्यापक ब्रह्म चैतन्यका भी प्रतिबिम्ब सम्भव ही है।

इस प्रकार बुद्धिमें स्थित चिदाभास और बुद्धिका अधिष्ठान चेतन यह दोनों मिलकर जीव कहा जाता है। यह जीव 'त्वम्' पदका वाच्यार्थ है। जीव अर्थात् चिदाभासको छोड़कर शेष केवल कूटस्थ 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ होता है। एवं 'अहम्' शब्दका वाच्यार्थ जीव है तथा लक्ष्यार्थ कूटस्थ है।

चिदाभास ही पुण्य-पापका आश्रय है, कूटस्थ नहीं

कूटस्थ एवं चिदाभास दोनों मिलकर जीव नामसे प्रसिद्ध हैं, तथापि व्यवहारमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सब धर्म चिदाभासके ही आश्रित रहते हैं। पुण्य-पाप एवं इनके फलभूत सुख-दुःखादिका अनुभव, लोकान्तर-गमनागमन यह सब व्यवहार चिदाभासविशिष्ट बुद्धि ही करती है, कूटस्थ नहीं। कूट नाम अयोघनविशेष (लोहारके अहरन) का है, उसके समान निर्विकार जो स्थित रहे उसका नाम कूटस्थ है। अथवा मिथ्या-भूत बुद्धि एवं चिदाभासका नाम कूट है। इनमें असंगरूपसे चेतन स्थित है, अतः शुद्ध चेतनका नाम कूटस्थ है। इसीलिये

सकता है।
चेतन स्थित है, अतः शुद्ध चेतनका नाम कूटस्थ है। इसीलिये

कूटस्थमें कर्तृत्वादि नहीं है। किन्तु भ्रान्तिसे चिदाभासका धर्म कूटस्थमें प्रतीत होता है।

एकदेशी विचार करनेपर तो पुण्य-पाप, सुख-दुःख, लोकान्तर-गमनागमनादि सब बुद्धिमें ही हैं, चिदाभासमें नहीं हैं। बुद्धिमें तादात्म्य होनेसे आभासमें प्रतीत होते हैं। जैसे जलपूर्ण घटमें ऋजु-वक्र, आना-जाना आदि क्रिया घटके सम्बन्धसे आकाशमें प्रतीत होती है। स्वतः आकाशमें कोई क्रिया नहीं होती है। इसी प्रकार काम-कर्मात्मक जलसे पूरित बुद्धिरूप घट पुण्य-पापादि समस्त क्रियाके आश्रय होता है। उसके सम्बन्धसे चिदाभास भी क्रियाके आश्रय प्रतीत होता है। कूटस्थ तो सर्वविक्रियाशून्य ही है। जैसे घटाकाश जलपूर्ण घटमें रहनेपर भी सर्वविकाररहित ही है उसी प्रकार कूटस्थ भी असंग ही है। अतः जीवमें प्रयुक्त समस्त धर्म चिदाभास और कूटस्थमें अज्ञानसे प्रतीत होता है। इसी कारण कूटस्थ, बुद्धि एवं बुद्धिस्थ चिदाभासके समुदायका नाम जीव है।

[(१) जलगत शैत्य जलमें प्रतिविम्बित आदित्यादिको जैसे स्पर्श नहीं करता, वैसे ही अन्तःकरणगत विकार भी अन्तःकरणमें प्रतिविम्बित चिदाभासको किसी प्रकार स्पर्श नहीं करता है। यदि अन्तःकरणका विकार चिदाभासको ही स्पर्श नहीं करता है, तव अन्तःकरणके अधिष्ठानभूत कूटस्थको स्पर्श नहीं करता इसमें क्या कहना है। जैसे पृथिवीमें एवं पृथिवीके विकारमें जो विक्रिया है, वह पृथिवी आदिके अधिष्ठानभूत आकाशको स्पर्श नहीं करती उसी प्रकार अनात्मभूत अज्ञान एवं तत्कार्य समस्त प्रपञ्च अपने अधिष्ठानभूत चिद्रूप प्रत्यगात्माको

स्पर्श नहीं करते हैं। अज्ञानसे अनात्माके धर्म कूटस्थमें प्रतीत होते हैं—यही भ्रान्ति है।

(२) वस्तुतस्तु सुख-दुःखादि संसार बुद्धिमें भी सम्भव नहीं है। इस बातको भाष्यकारने गुहाधिकरणभाष्यमें स्पष्ट कहा है। "इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते। परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि सम्भवति; अचेतनत्वात् सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य। अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न सम्भवति।" (बृ० सू० १।२।१२) तथा च श्रुतिः—"यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्।" (बृ० ४।३।३१) इत्यादि श्रुतियोंसे स्वप्नदृष्ट हस्ति आदि व्यवहारके समान अविद्याका विषय ही कर्तृत्वादि व्यवहार दिखाया गया है। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्।" (बृ० ४।५।१५) इत्यादि श्रुतिसे विवेकीके कर्तृत्वादि व्यवहारका अभाव ही दिखाया गया है।

(३) जैसे चन्द्रमा स्वतोनिर्विकार ही है, तथापि तिथि एवं पक्षोंसे उसकी कलाओंमें वृद्धि और ह्रास होता है। तथा जैसे वृक्षके सदा एकरूप रहनेपर भी फलोंके जन्मादि विकार होते रहते हैं। उसी प्रकार स्वयं निर्विकार भी कूटस्थ चिन्मात्र प्रत्यगात्मामें, कल्पित देहादिके ही जन्मादि षड् विकाररूप परिणाम होते रहते हैं। यदि कूटस्थ भी परिणामी हो तब तो वह जड हो जायगा। परिणाम—विकार—प्रकृतिके अन्यथा भावको कहते हैं। इसलिये कूटस्थको किसी प्रकारका विकार नहीं होता है।]

अज्ञानमें प्रतिबिम्बित चैतन्यका नाम जीव है—

यदि पहिले कहे हुए जीवका स्वरूप स्वीकार करें तो प्राज्ञकी हानि होगी। जैसे सुषुप्तिके अभिमानीका नाम प्राज्ञ है। सुषुप्तिमें बुद्धिका अभाव होनेसे बुद्धिस्थ चिदाभास भी सिद्ध नहीं होगा। इस स्थितिमें प्राज्ञके स्वरूपप्रतिपादक शास्त्र निर्विषय होंगे। अतः प्रकारान्तरसे जीवस्वरूप निरूपण करते हैं। अज्ञानके एकदेशका नाम व्यष्टि अज्ञान है तथा सम्पूर्ण अज्ञानका नाम समष्टि अज्ञान है। इसमें अज्ञानके एकदेशमें प्रतिबिम्बित चिदाभास है, उस अज्ञानांशका अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य है—इन दोनों मिले-जुलेका नाम जीव है। इस प्रकार जीवका स्वरूप-निरूपण करनेसे प्राज्ञका अभाव नहीं होता, क्योंकि सुषुप्तिमें अज्ञान रहता ही है। सुषुप्तिमें प्रतिबिम्बविशिष्ट चैतन्य एवं अज्ञानांश है वह बुद्धिरूपसे परिणामी होता है। बुद्धिमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब है ही। इसी चिदाभासयुक्त बुद्धिमें पुण्य-पापरूप संसार प्रतीत होता है। इसी अभिप्रायसे कहीं-कहीं बुद्धि जीवकी उपाधि कही गयी है। विचार करनेपर जीवकी भी उपाधि अज्ञान ही है।

ईश्वरस्वरूपका वर्णन

मायामें प्रतिबिम्बित चिदाभास और मायाका अधिष्ठान चैतन्य—यह दोनों मिलकर ईश्वर कहे जाते हैं। यह ईश्वर मेघाकाशके तुल्य है। यही अन्तर्यामी भी है। सबके अन्तर स्थित होकर नियन्ता—प्रेरक होनेसे अन्तर्यामी कहलाता है। यह ईश्वर नित्य मुक्त है, स्वस्वरूपका आवरक अज्ञान इनको

नहीं है। इसीलिये जन्म-मरणादि बन्ध भी नहीं रहता, इसीसे ईश्वर नित्य मुक्त कहे जाते हैं। शुद्धसत्त्वप्रधान मायाकी उपाधि होनेसे सर्वज्ञ भी हैं। अपने प्रतिबन्धकीभूत रज एवं तमको दबाकर स्वयं उनसे अनभिभूत जो सत्त्व है उसका नाम शुद्ध सत्त्व है। सत्त्वगुणसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः सत्त्वगुण प्रकाश स्वभाववाला है। एवंभूत सत्त्वगुणप्रधान मायामें प्रतिफलित चैतन्याभासरूप ईश्वरको स्व—अपने विषयमें या विषयान्तर-में आवरण नहीं होता है। अतः ईश्वर नित्य मुक्त एवं सर्वज्ञ होता है।

[ईश्वरके स्वरूपको बहुत लोग अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं। (१) योगमतवाले कहते हैं कि चैतन्यके समीप प्रकृतिका प्रेरक जीवसे विलक्षण पुरुष ईश्वर है।

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

वह ईश्वर क्लेश, कर्म, तत्फलादिसे असंस्पृष्ट एवं जीवके समान असंग चिन्मात्र है। जीवको भी क्लेशादिका अभाव ही है, किन्तु अविवेकसे क्लेशादि प्रतीत होता है। 'जीवानामप्य-संगत्वात् क्लेशादि न ह्यथापि वा' इत्यादि। यही जीव और ईश्वरमें भेद है।

(२) न्यायमतानुसारी योगमतपर आक्षेप करके कहते हैं कि असंग ईश्वरका नियामकत्व सम्भव नहीं होता, अतः ईश्वरके ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, धर्माधर्मादि गुण नित्य हैं, इसलिये जीवसे विलक्षण और भिन्न ही ईश्वर है।

(३) हिरण्यगर्भोपासक कहते हैं कि यदि ईश्वरमें ज्ञानादि नित्य मानें तो सृष्टिकालमें ईश्वरमें ज्ञानादिकी उत्पत्ति-

यह ईश्वर नित्य मुक्त है, स्वस्वरूपका आवरक अज्ञान इनको

ज्ञानादि नित्य मानें तो सृष्टिकालमें ईश्वरमें ज्ञानादिकी उत्पत्ति-

प्रतिपादक 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियोंका विरोध होगा एवं सदा सृष्टिका प्रसंग भी होगा। अतः न्यायमत असंगत है। हिरण्यगर्भ ही ईश्वर है। इनको लिङ्गशरीर रहनेपर भी अविद्या, काम, कर्मका अभाव ही है। अतः जीवसे विलक्षण है।

(४) विराट्के उपासक कहते हैं कि स्थूल देहके विना केवल सूक्ष्ममात्र शरीर कहीं अनुभूत नहीं होता, अतः विराट् पुरुष ही ईश्वर है।

(५) प्रजापतिके उपासकोंका कहना है कि प्रजा-कामनावाला पाणिपादादियुक्त प्राकृत शरीरी स्वीकार करनेपर तो कृमि-कीट आदिको भी ईश्वरत्वप्राप्तिका प्रसंग होगा। अतः हिरण्यगर्भोपासक तथा विराट्-उपासकका मत असंगत है। किन्तु चतुर्मुख ब्रह्मा ही ईश्वर है।

(६) वैष्णवोंका कहना है कि विष्णुके नाभिकमलसे उत्पन्न होनेवाला ब्रह्माका भी कारणभूत विष्णु ईश्वर है ब्रह्मा ईश्वर नहीं है।

(७) शैवोंका कहना है कि शिवपादान्वेषणमें अशक्त विष्णु ईश्वर नहीं किन्तु शिव ईश्वर है।

(८) गणपतिके उपासकोंका कहना है कि त्रिपुरासुरपर विजयप्राप्तिके लिये शिवने भी गणपतिका आराधन किया है, अतः गणपति ईश्वर है शिव नहीं।

(९) भैरव-मैरालादिके उपासकोंका कथन है कि मारण-मोहन-वशीकरण-स्तम्भनादि सिद्धिके हेतु साक्षात् भैरवादि देव ही ईश्वर हैं, अन्य नहीं।

इस प्रकार अनेक मत अपनी-अपनी मतिके अनुसार परस्पर विलक्षण अन्योन्यविरुद्ध उपलब्ध होते हैं। किन्तु समस्त मतोंके अविरुद्ध श्रुतिप्रतिपादित, **"मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं च महेश्वरम्"** ही इस ग्रन्थका अभिमत ईश्वर है।]

जीव एवं ईश्वरका अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्य है। वह चैतन्य सकल बन्ध-मोक्षादि भेदशून्य है, सदा एकरस स्वभाववान् है। बन्ध-मोक्षादि आभासांशमें ही है। आभासकी भ्रान्तिसे अधिष्ठानमें प्रतीत होता है। अतः केवल आभासमें ही बन्ध-मोक्षादि व्यवहार है यह जानना चाहिये।

उनमें भी इतना भेद है कि जिस आभासमें स्वरूपका आवरण है, उसीमें बन्ध है। जिसमें स्वरूपका आवरण नहीं है वह मुक्त है। जीवमें आवरण है अतः बन्ध है। जिस अविद्याके अंशमें प्रतिबिम्बित चिदाभासको जीवत्व होता है, उस अविद्यामें आवरकत्व स्वभाव है। यद्यपि एक ही वस्तुका माया, अविद्या, अज्ञानादि नाम है, तथापि शुद्ध सत्त्वप्रधान होनेसे माया, एवं मलिन सत्त्वगुणप्रधान होनेसे अविद्या, अज्ञान इत्यादि व्यवहार होते हैं। रज-तमसे अभिभूत सत्त्वगुणको मलिन सत्त्व कहते हैं। रजोगुण एवं तमोगुणका आधिक्य होनेसे अविद्या अपनेमें प्रतिबिम्बित जीवस्वरूप चिदाभासांशको आवरण करती है। अतएव जीव बद्ध है, ईश्वर बद्ध नहीं है। सर्वाधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्यके सहित मायामें प्रतिबिम्बित चिदाभासरूप ईश्वर तत्पदका वाच्यार्थ है। केवल अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्य तत्पदका लक्ष्यार्थ है। ईश्वर जगत्की उत्पत्ति, पालन तथा संहार करता

है। इस शास्त्रोक्तिका अभिप्राय यह है कि अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्य आकाशवत् असंग है। मायामें प्रतिबिम्बित चिदाभासांश जगत्की उत्पत्त्यादि करता है। सर्वज्ञत्वादि गुणसम्पन्न भी वही है। तथा उसी चिदाभासांशको भक्तानुग्रहकर्तृत्वादिरूप अनन्त ऐश्वर्य भी है। चैतन्य स्वरूप तो एकरस सर्वत्र सम है। उसमें सत्तास्फूर्तिप्रदत्वके विना अन्य ऐश्वर्यादि नहीं है। "सत्तास्फूर्तिप्रदत्वम्—स्थितिभानप्रदत्वम्"।

ब्रह्मस्वरूपका वर्णन

अन्तर बाहिर एकरस जो चेतन भरपूर।
विभु नभसम सो ब्रह्म है, नहिं नेरे नहिं दूर ॥

ब्रह्माण्डके बाहर-भीतर आकाशवत् व्याप्त होकर वर्तमान अखण्ड परिपूर्ण चैतन्यका नाम ब्रह्म है। भाष्यमें कहा भी है— "ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्यात्मत्वाच्च, ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः।" 'बृह धातुके अर्थानुसार ब्रह्म शब्दकी व्युत्पत्तिसे नित्य शुद्धत्वादि अर्थोंकी प्रतीति होती है। और सबकी आत्मा होनेसे ब्रह्मका अस्तित्व भी प्रसिद्ध है।' रत्नप्रभामें भी इसी प्रकार व्याख्यान है—"स चार्थो महत्त्वरूप इति व्याकरणान्निश्चीयते, 'बृहि वृद्धौ' इति स्मरणात्। सा च वृद्धिर्निरवधिकमहत्त्वमिति, संकोचाभावात् श्रुतावनन्तपदेन सह प्रयोगाच्च ज्ञायते। अतो बृंहणाद् ब्रह्मेति व्युत्पत्त्या देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदाभावरूपं नित्यत्वं प्रतीयते।" इसका यह अर्थ है कि—

ब्रह्म शब्दका यह अर्थ महत्त्वरूप है, ऐसा व्याकरणसे निश्चय होता है। ब्रह्म शब्द 'बृहि वृद्धौ' धातुसे व्युत्पन्न होता है। यह वृद्धि अवधिरहित महत्त्वरूप है, क्योंकि संकोचका अभाव है, और श्रुतिमें अनन्त शब्दके साथ 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग है। 'बृंहणात् ब्रह्म' इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्ममें देश, काल और वस्तु आदिसे अपरिच्छिन्नतारूप नित्यता प्रतीत होती है। सूतसंहिताके व्याख्यानमें भी कहा गया है कि "ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयं बृहधात्वर्थस्यानुगमात्।" तथाहि—'बृह बृहि वृद्धौ' इति धातुर्वृद्धिमाचष्टे। ब्रह्म सत्य, ज्ञान, सुख और अद्वयस्वरूप है 'बृहि' धातुके अर्थानुसार। 'बृह बृहि' धातु वृद्धि कहता है। वह वृद्धि प्रतियोगिविशेष न होनेसे निरतिशय वृद्धि ही विवक्षित है। अन्य वस्तु होनेसे वस्तुकृत परिच्छेदसे वृद्धिका निरतिशयत्व भङ्ग होता है, वस्तुके अभावमें वस्त्वन्तरकृत परिच्छेदरहित ही ब्रह्म शब्दका अर्थ होता है। यदि कहें कि प्रपञ्चरूप वस्तु तो है ही, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि द्वैत-प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूपमें अध्यस्त होनेसे प्रतीतिमात्र है, वस्तुतस्तु ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्न ही है। इस प्रकार वस्तुपरिच्छेद-निराकरणसे देश-कालकृत परिच्छेद भी निरस्त हो गया, यह जानना चाहिये। देश-काल भी कल्पित होनेसे वस्तुतः ब्रह्मस्वरूपसे पृथक् नहीं हो सकता है। इस प्रकार समस्त दृश्य द्वैत-प्रपञ्चका अधिष्ठान होनेसे एवं ज्ञानसे सर्वप्रपञ्च बाधित होनेपर दिक्-काल-वस्तुरूप त्रिविध परिच्छेदशून्य जो अद्वितीय ब्रह्म है वही सत्य है, वही इष्ट है।

वह ब्रह्म न दूर है न समीप है। जो वस्तु अपनेसे भिन्न अनात्मभूत है, एवं दिक्-कालादिरूप उपाधिसे परिच्छिन्न होती

है वही दूर या समीप होती है। यह ब्रह्म तो प्रत्यगात्मासे भिन्न नहीं है, किन्तु सबका प्रत्यगात्मा है। देशादिरूप सर्वोपाधिशून्य है। इसी कारण दूर या समीप नहीं कहा जा सकता है।

ब्रह्म शब्दका वाच्यार्थ सोपाधिक है, व्यापकत्वधर्मविशिष्ट वस्तुका नाम ब्रह्म है। यह व्यापकता दो प्रकारकी है, एक सापेक्ष (सातिशय), दूसरी निरपेक्ष (निरतिशय)। जो वस्तु किसी पदार्थकी अपेक्षासे व्यापक और किसी पदार्थकी अपेक्षासे व्यापक न हो वह आपेक्षिक-(सातिशय) व्यापक कहलाती है। जैसे पृथिवी आदि अपने कार्यकी अपेक्षा माया व्यापक है, किन्तु चैतन्यकी अपेक्षा व्यापक नहीं है, पर व्याप्य है। अतः मायामें आपेक्षिक व्यापकत्व है। जो वस्तु सर्वापेक्षासे व्यापक होती है, उसमें जो व्यापकत्व है वह निरपेक्ष व्यापकत्व कहा जाता है। यह निरपेक्ष व्यापकत्व चैतन्यमें है। "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि चैतन्यके समान या उससे अधिक कोई वस्तु व्यापक नहीं देखी जाती है। चैतन्यमें ही सर्वापेक्षा व्यापकत्व सुना जाता है, अतः चैतन्य निरपेक्ष व्यापक कहा जाता है।

यह दोनों प्रकारके व्यापकत्वविशिष्ट ब्रह्म शब्दका वाच्यार्थ है। मायाशबलित चैतन्यमें उभय प्रकारका व्यापकत्व है। विशिष्टमें निष्ठ विशेषणीभूत जो मायांश है, उसमें आपेक्षिक व्यापकत्व है, विशेष्यभूत चैतन्यांशमें निरपेक्ष व्यापकत्व है। यद्यपि चैतन्यके एकदेशमें माया होनेसे मायाविशिष्ट चैतन्यकी अपेक्षासे शुद्ध चैतन्यमें निरपेक्ष व्यापकता है, मायाविशिष्टमें नहीं। तथापि जो मायाविशिष्ट चैतन्य है वह परमार्थ दृष्टिसे

शुद्ध चैतन्यसे भिन्न नहीं है किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही है। अतः मायाविशिष्ट चैतन्यांशमें भी निरपेक्ष ही व्यापकता है। इस प्रकार मायाविशिष्ट चैतन्य ही ब्रह्म शब्दका वाच्यार्थ कहा जाता है। और शुद्ध चैतन्य ब्रह्मका लक्ष्यार्थ है। इसी कारण ईश्वर और ब्रह्म दोनोंका एक ही अर्थ प्रतीत होता है, भिन्न अर्थ नहीं है। तथापि यह विशेषता है कि—ब्रह्म शब्द स्वभावतः प्रायः (बहुधा) लक्ष्यार्थका ही बोध कराता है। कहीं-कहीं वाच्यार्थका भी बोध कराता है। और ईश्वर शब्द स्वभावतः प्रायः वाच्यार्थका ही बोध कराता है, कदाचित् लक्ष्यार्थका भी बोध कराता है। इस प्रकारके भेद स्वीकार करके ही लक्ष्यार्थका अवलम्ब लेकर ब्रह्म शब्दका भिन्न अर्थ निरूपण किया गया है।

"द्वा सुपर्णा" इस श्रुतिसे जीव और ब्रह्मका भेद प्रतीत होता है, अन्यथा कर्मोपासनाकी विधि व्यर्थ होगी—इस शङ्काका समाधान—

चैतन्याभास भोक्ता है, कूटस्थ असंग एवं प्रकाशक है। चैतन्यके चार प्रकारके भेद कहे। इनमें जीवके स्वरूपान्तर्गत मिथ्याभूत चिदाभासांश ही पुण्य-पापका कर्ता और इनके फलोंका भोक्ता भी है कूटस्थ भोक्ता नहीं है। वह असंग होनेसे आनन्दस्वरूप ही प्रकाशित है। शिष्यने जो कहा कि—'बुद्धि-रूप वृक्षमें जीव और ईश्वर दो पक्षी रहते हैं, उनमें जीव कर्म-फलका भोक्ता है, ईश्वर केवल प्रकाशक है यह श्रुतिका अर्थ है।' इसपर कहना यह है कि इस श्रुतिमें जीव-ईश्वरका ग्रहण नहीं है, किन्तु आभास और कूटस्थका ग्रहण है। आभास कर्म-

फलभोक्ता है एवं कूटस्थ केवल प्रकाशक है, यह अर्थ जानना चाहिये ।

प्रथम शङ्काका समाधान

चैतन्याभास ही कर्म करता है और फलदाता भी वही है । शुद्ध चैतन्य असंग है । जीवस्वरूपान्तर्गत चिच्छायारूप आभासांश कर्मकर्ता है, कर्म करते हुए आभासांशको ईश्वर-स्वरूपान्तर्गत चिच्छायारूप आभासांश फल देता है । आभास ही कर्म करता है, आभास ही फल देता है । इसका अर्थ यह हुआ कि जीवाभासांश कर्मकर्ता और फलभोक्ता है और ईश्वरनिष्ठ आभासांश फलदाता है ।

दोनों आभासांशमें अनुगत चैतन्यांशमें कोई व्यापार (विक्रिया) नहीं होती है । जीवगत चैतन्यांशमें कर्मकर्तृत्व तत्फलभोक्तृत्वरूप सम्बन्ध नहीं है और ईश्वरगत चैतन्यांशमें भी कर्मफलदातृत्व नहीं है । जो उस चैतन्यमें कर्तृत्व और फलदातृत्व वर्णन करते हैं वे अज्ञ हैं । क्योंकि दोनोंमें चैतन्य असंग एकरूप है । चैतन्यमात्रमें भेदकी गन्ध भी नहीं है । जो जीवचैतन्यको ईश्वरचैतन्यसे तथा ईश्वरचैतन्यको जीवचैतन्यसे भिन्न मानता है, वह निन्दनीय होता है । तथा च श्रुतिः— "ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद ।" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति ।"

उपर्युक्त कथनसे जीव एवं ईश्वरका ऐक्य स्वीकार करनेमें अनुष्ठाताके अभावमें कर्मोपासनाका प्रतिपादक वेदभाग निरर्थक होगा—इस शङ्काका समाधान हो गया । जीव तथा ईश्वरमें

अनुगत चैतन्यभागमें अभेद है और आभासभागमें भेद है । दोनों प्रकारसे वेदभागोंका प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है ।

जीव-ब्रह्मके लक्ष्यार्थमें अभेद सम्भव है, अतः 'अहं ब्रह्म' यह जानो, यह गुरुका उपदेश है । हे शिष्य ! तुम्हारे किये हुए दो प्रश्नोंमें 'एक वृक्षमें दो पक्षी रहते हैं, उनमें एक भोक्ता है, दूसरा निरीह है, अतः जीव और ब्रह्ममें ऐक्य सम्भव नहीं है'— यह प्रथम प्रश्न है । उसका यह समाधान कहा कि एक वृक्षस्थ पक्षियोंमें एक कूटस्थ एवं दूसरा बुद्धिमें प्रतिफलित चिदाभास है, यह ग्रहण करना चाहिये, यहाँ जीव और परमात्माका ग्रहण नहीं है । कूटस्थ और बुद्धिमें प्रतिफलित चिदाभास दोनों आपसमें घटाकाश और आकाशकी छायाके समान भिन्न हैं ।

तुम्हारे किये हुए द्वितीय प्रश्नके अनुसार न जीव कर्म-उपासना करता है और न ईश्वर उनका फलदाता है । किन्तु दोनों चिदाभास ही हैं । जीवगत चिदाभासांश कर्म-उपासना करता है और ईश्वरगत चिदाभासांश फल देता है । जीव तथा ईश्वरानुगत चैतन्य तो घटाकाश और महाकाशके समान भेद-शून्य हैं । इस प्रकार जीव-ब्रह्मका ऐक्य सिद्ध होता है । अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' अपनेको जानो । इसमें 'अहं' शब्दका अर्थ कूटस्थ है, एवं 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ महाकाशके समान लक्ष्यार्थ-भूत शुद्ध चैतन्य है । 'अहं' शब्द और 'ब्रह्म' शब्दके वाच्यार्थमें ऐक्य सम्भव न होनेपर भी लक्ष्यार्थमें ऐक्य सिद्ध होता ही है । हे सोम्य ! जबतक 'अहं ब्रह्मास्मि' यह दृढ़तर अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता, तबतक तुम्हारे दुःख-दैन्य-भयादि नहीं छूट सकते ।

स्वस्वरूपसे भिन्न परमात्माका ज्ञान ही भयादिका कारण होता है। "उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' यही अपनेको जानो।

"अहं ब्रह्मास्मि" यह ज्ञान किसको होता है?

तत्त्वदृष्टिका प्रश्न—हे स्वामिन्! 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान किसको होता है? कृपया वर्णन करें। प्रश्नका तात्पर्य है कि 'अहं ब्रह्म' ज्ञान क्या कूटस्थको होता है या चिदाभासविशिष्ट बुद्धिको? यदि कहें कि कूटस्थको, तब कूटस्थ विकारी हो जायगा। यदि चिदाभासविशिष्ट बुद्धिको कहें, तब बुद्धिमें उत्पन्न "अहं ब्रह्मास्मि" यह ज्ञान भ्रमरूप होगा। आपने पहिले कहा कि कूटस्थ और ब्रह्म यह दोनों एक हैं। आभास कल्पित होनेसे ब्रह्मसे भिन्न है। अतः ब्रह्मसे भिन्न चिदाभासको ब्रह्म-स्वरूपका ज्ञान भ्रमरूप ही होगा। जैसे सर्पसे विलक्षण रज्जुमें उत्पन्न होनेवाला सर्पज्ञान भ्रान्तिरूप ही है, उसी प्रकार चिदा-भाससहित बुद्धिमें उत्पन्न होनेवाला 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, किन्तु भ्रमरूप ही होगा।

'अहं ब्रह्म' इस ज्ञानको भ्रमज्ञान स्वीकार करें, तो इससे मिथ्याभूत संसारकी निवृत्ति नहीं होगी। यथार्थ ज्ञानसे ही मिथ्याभ्रमकी निवृत्ति देखी जाती है, जैसे कि रज्जु-तत्त्वका ज्ञान होनेसे सर्पकी निवृत्ति होती है। अतः साभास बुद्धिमें 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान होता है कहना युक्त नहीं है।

आभासकी सात अवस्थाओंका वर्णन

उत्तर—'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान आभासको ही होता है।

हे सोम्य! मेरेद्वारा कही हुई चिदाभासकी सप्तावस्था सुनो। इन अवस्थाओंमें चेतन कूटस्थकी कोई अवस्था नहीं है। 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान भी इन्हीं सप्तावस्थाकी मध्यवर्ती पाँचवीं अवस्था-के अन्तर्गत होता है।

अवस्थाओंके नाम

अज्ञानमावृतिः सम्यग्विक्षेपश्च परोक्षधीः।
अपरोक्षमतिः शोकहतिस्तृप्तिर्निरङ्कुशा॥

१. अज्ञान, २. आवृति—आवरण, ३. विक्षेप—भ्रान्ति, ४. परोक्ष ज्ञान, ५. अपरोक्ष ज्ञान, ६. शोकनाश—अनर्थ-निवृत्ति, ७. निरङ्कुशा तृप्ति—अतिहर्ष, निरतिशयानन्दप्राप्ति।

अज्ञान और आवरणका स्वरूप

हे सोम्य! 'अहं ब्रह्म न जाने' इस व्यवहारका कारण 'अज्ञान' है। 'ब्रह्म नास्ति, न भाति' इस व्यवहारका कारण 'आवरण' है। आवरणसे दो प्रकारका व्यवहार होता है। क्योंकि अज्ञानकी दो शक्तियाँ हैं। उनमें एक शक्तिका नाम असत्त्वापादिका है एवं दूसरीका नाम अभानापादिका। इन दोनों शक्तियोंका साधारण नाम आवरण है। 'वस्तु नास्ति' इस प्रतीतिकी हेतु-भूता शक्तिका नाम असत्त्वापादिका है तथा 'वस्तु न भाति' इस प्रतीतिकी हेतुभूता शक्तिका नाम अभानापादिका है। इस प्रकार 'ब्रह्म नहीं है' इस व्यवहारकी कारण अज्ञानकी शक्ति असत्त्वा-पादिका ही है। 'ब्रह्म न भाति' इस व्यवहारकी कारण अज्ञानकी शक्ति अभानापादिका है। इन शक्तियोंका नाम आवरण है।

विक्षेपका स्वरूप

विक्षेप—भ्रान्तिका स्वरूप—कूटस्थमें भासमान जन्मादि

संसारको भ्रान्ति कहा गया है। इसी संसारको शोक शब्दसे भी कहा गया है।

"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥"
"तरति शोकमात्मवित्।"
"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥"
"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।"
"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।"
"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥"
"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥"

इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ आत्मैकत्व-ज्ञानमात्रसे संसारका निवर्त्यत्व कहती हुई संसारको भ्रममात्र बोधन कराती हैं। आत्मस्वरूपसे अन्य रूपप्रतीति ही 'विक्षेप' है।

जन्ममरन गमनागमन, पुन्य-पाप सुख-खेद।
निजस्वरूपमैं भान है, भ्रांति बखानी बेद ॥

[देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, अहंकारादिका एवं जन्मादि और इनके विकारोंका प्रत्यक् चैतन्य आत्मामें भान, तथा आत्माके धर्म सत्य-ज्ञानानन्दादिका अनात्मामें भान—इसका नाम अध्यास है। इसीको भ्रान्ति, विक्षेप और शोक भी कहा गया है।]

परोक्षापरोक्ष ज्ञानका स्वरूप

'ब्रह्म नास्ति' इस असत्त्वापादक आवरणांशका 'अस्ति ब्रह्म' यह वेदान्तवाक्यजनित परोक्ष ज्ञान नाश कर देता है। 'ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तस्वरूप है' इस ज्ञानको 'परोक्ष ज्ञान' कहते हैं।

[देश-काल-वस्तुसे जिसका अन्त (परिच्छेद) नहीं होता है, किन्तु सर्व देश-काल और सर्व वस्तुमें व्याप्यरूप रहता है उसको अनन्त, विभु एवं भूमा कहते हैं। यहाँ अनन्त ब्रह्म इस उक्तिसे 'आनन्दं ब्रह्म' यह अर्थ अर्थात् सिद्ध होता है। इसी अर्थको छान्दोग्यके सप्तमाध्यायमें महर्षि नारदके लिये भगवान् सनत्कुमारने उपदेश किया है। "यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति, भूमानं भगवो विजिज्ञासे इति ॥" "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यति, अन्यच्छृणोति, अन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।" "स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वम्।" यहाँ यह जानना चाहिये कि जो अनन्तरूप होता है वही भूमा होता है, और जो भूमा है वही आनन्दरूप कहा जाता है। अतः अनन्त होनेसे ही ब्रह्मका आनन्दरूपत्व सिद्ध होता है।]

यह परोक्ष ज्ञान 'नास्ति ब्रह्म' इस प्रतीतिका विरोधी है। और 'अहं ब्रह्मास्मि' यह संशयरहित 'अपरोक्ष ज्ञान' समस्त अविद्या एवं तत्कार्यका विरोधी है। अतएव यह अपरोक्ष ज्ञान (१) 'अहं ब्रह्म न वेद' इस अज्ञानका, (२) 'ब्रह्म नास्ति, न भाति' इस आवरणके दोनों अंशों—(असत्त्वापादक, अभानापादक) का, (३) 'नाहं ब्रह्म' किन्तु पुण्यपापादिका कर्ता और उनका फलभोक्ता मैं जीव हूँ—इस विक्षेप—भ्रान्तिरूप समस्त अविद्याके समूहका नाश कर देता है।

सत्यज्ञानानन्तस्वरूप है' इस ज्ञानको 'परोक्ष ज्ञान' कहते हैं ।

समस्त अविद्याके समूहका नाश कर देता है ।

विक्षेप—भ्रान्तिके नाशका स्वरूप

मुझमें जन्म-मरणादि भाव नहीं है एवं मुझमें सुख-दुःखका लेश भी नहीं है तथा संसारधर्मकी गन्ध भी मुझमें नहीं है, किन्तु जन्मादि विकारशून्य मैं कूटस्थ हूँ—इत्यादि आत्मामें सर्वानर्थोंका निषेध ही विक्षेप—भ्रान्तिके नाशका स्वरूप है। यही निश्चय करना चाहिये। यहाँ कूटस्थमें जन्मादि निषेधसे सर्वानर्थका ही निषेध जानना चाहिये। जन्म होनेपर ही इतर समस्त अस्ति, जायते, वर्धते, अपक्षीयते इत्यादि षड्विकार होता है। अतः जन्मादिके निषेधसे सबका निषेध हो जाता है। इसीका नाम विक्षेप—भ्रान्तिका नाश है तथा इसीको शोकनाश शब्दसे भी कहा गया है।

निरङ्कुशा तृप्ति—अतिहर्ष-निरतिशयानन्दका स्वरूप

'अद्वितीयब्रह्मैवाहस्मि' यह संशय-विपर्ययरहित स्वात्मस्वरूपका साक्षात् ज्ञान जब होगा तब तुमको निरतिशयानन्दानुभव भी अवश्य होगा ही। इस प्रकारके अनुभवका नाम निरङ्कुशा तृप्ति—अतिहर्ष, निरतिशयानन्द है।

['साङ्कुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरङ्कुशा ।'

विषयानन्द सातिशय होनेसे उत्तरोत्तर आनन्दकी इच्छा उत्पन्न करता है। इसी कारण इसको सातिशय—साङ्कुशा तृप्ति कहते हैं। और आत्मानन्दको अपनेसे उत्कृष्ट आनन्दका अभाव होनेसे निरङ्कुशा तृप्ति—आनन्द कहते हैं।

'दशमस्त्वमसि'—दश व्यक्ति अपने ग्रामसे प्रवासमें चले। मार्गमें एक नदी पार करके आपसमें यह जाननेके लिये कि हम दश हैं न, कोई नदीमें तो नहीं बह गया, गिनती करते समय दशवाँ अपनेको छोड़कर इतर नवको ही गिनता है। अतः उसको भ्रान्ति हुई कि एक बह गया। अपनेको दशवाँ नहीं जानता है, यही अज्ञान है। कहता है दशवाँ नहीं है, नहीं भान होता है अर्थात् नहीं दीखता है। यह आवरण है। दशवाँ नदीमें मर गया, यह कल्पना करके अङ्ग पीटता है, रोता है, यही विक्षेप—भ्रान्ति तथा शोक है। 'दशवाँ नहीं मरा है, वह जीता है' इस आप्त-वचनसे दशवेंका अस्तित्वज्ञान ही परोक्ष ज्ञान है। 'तू ही दशवाँ है' इस प्रकारका साक्षात् उपदेश होनेपर गिनती करते समय अपनेको दशवाँ गिनकर जो अपनेको दशवाँ जानता है, वही अपरोक्ष ज्ञान है। इस प्रकारके अपरोक्ष ज्ञानसे जो रोदनादिकी निवृत्ति है उसीका नाम भ्रान्तिनाश है। अपनेको दशवाँ जान लेनेपर जो उत्पन्न हुआ सन्तोष है उसीका नाम अतिहर्ष है, वही परमानन्द है। इन अवस्थाओंमें अज्ञान, आवरण और विक्षेप—ये तीन अवस्थाएँ बन्धनमें कारण हैं। शेष चार अवस्थाएँ मोक्षमें साधन होती हैं।]

उक्त सप्तावस्था चिदाभासकी ही हैं। 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान पाँचवीं अवस्थामें होता है।

'अहं ब्रह्म' यह आभासको होनेवाला ज्ञान मिथ्या है, इस गूढ अभिप्रायसे जो आक्षेप किया था, उसका आशय स्पष्ट उद्घाटन करता है। हे स्वामिन्! पहिले आपने कहा कि कूटस्थ ब्रह्मसे अभिन्न है और आभास ब्रह्मसे भिन्न है। इस स्थितिमें ब्रह्मसे भिन्न आभासको 'अहं ब्रह्म' यह ब्रह्माभिन्न ज्ञान नहीं बनता है। मेरा अधिष्ठानभूत कूटस्थ ब्रह्म है, यह ज्ञान यदि आभासको

हो तब तो यथार्थ हो सकता है। 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान यथार्थ नहीं है। 'अहम्' यह शब्द अपने निज स्वरूपका बोध कराता है। आभासका अपना स्वरूप तो मिथ्या ही है। इसी कारण ब्रह्मसे भिन्न है। ब्रह्मसे भिन्न आभासको 'अहं ब्रह्म' यह अपनेसे अभिन्न ब्रह्मत्वज्ञान मिथ्या ही है। जैसे सर्पसे विलक्षण रज्जुमें सर्पका ज्ञान मिथ्या ही है। मिथ्याका अर्थ भ्रान्ति है। वेदान्त-प्रमाणजन्य यह ब्रह्मज्ञान भ्रान्तिरूप है यह कहना युक्त नहीं है।

[यहाँ प्रश्नकर्ता शिष्यसे यह प्रश्न है कि ब्रह्मज्ञानका स्वरूप मिथ्या संसारके अन्तर्गत मिथ्या चिदाभासके आश्रित होनेसे मिथ्या है, इसलिये इस मिथ्या ज्ञानसे मृगतृष्णाजलसे तृषाकी निवृत्तिके समान संसारकी निवृत्ति कैसे होगी—यह कहते हो ? अथवा ज्ञानका विषय जो चिदाभास और ब्रह्मकी एकता है वह सर्प-रस्सीके ऐक्यज्ञानके समान मिथ्या है, अतः मिथ्याविषयक ज्ञान भी मिथ्या है। इसलिये मिथ्या ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति कैसे होगी—यह पूछते हो ?

सुनो उत्तर—इसमें वेदान्तप्रमाणजन्य मनोवृत्त्यात्मक ब्रह्म-ज्ञान स्वरूपसे मिथ्या है, यह बात निश्शङ्क होकर हमलोग भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त समस्त वस्तु मिथ्या है। तथापि तादृश मिथ्याभूत ज्ञानसे मिथ्यात्मक संसारकी निवृत्ति भी होती ही है, 'यक्षानुरूपोऽयं बलिः' यह न्याय है। जैसा मिथ्याभूत संसार है उसी प्रकार उसका निवर्तक ज्ञान भी मिथ्या ही होना चाहिये। अथवा समान सत्तावाला पदार्थ परस्पर साधक एवं बाधक होता है। इस नियमसे मिथ्याभूत ज्ञानसे ही मिथ्याभूत संसारकी निवृत्ति होती है। मृगतृष्णाके

जल और पिपासामें समान सत्ता नहीं है। इनमें प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ता होनेसे विषम सत्तावाले हैं। अतः प्राति-भासिक मृगतृष्णोदकसे व्यावहारिक तृषाकी शान्ति नहीं हो सकती। यह बात पञ्चम अंशमें स्पष्ट की जायगी। चिदाभास और ब्रह्मके ऐक्यरूप ज्ञानका जो विषय है वह मिथ्या ही है। अतः तद्विषयक ज्ञान भी मिथ्या ही है।]

द्वितीय प्रश्नका उत्तर—

'अहं' शब्दके दो अर्थ हैं। उनमें कूटस्थका ब्रह्मके साथ मुख्य सामानाधिकरण्य है और चिदाभासका बाधसामानाधि-करण्य है। हे सोम्य ! 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान बुद्धिसहित आभासको ही होता है, कूटस्थको नहीं। तथापि वह आभास कूटस्थको एवं स्वस्वरूपको एक करके आत्मस्वरूपसे 'अहं' जानता है। अतः कूटस्थसहित चिदाभास 'अहं' शब्दसे ग्रहण किया जाता है, यही 'अहं' शब्दका वाच्यार्थ है। इसमें 'अहं' शब्दसे प्रतीयमान लक्ष्यार्थ कूटस्थका सदा ब्रह्म शब्दसे अभेद ही सिद्ध होता है।

तस्मादाभासपुरुषः स कूटस्थो विविच्य तम्।
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधात् श्रुतिः ॥

इसी कारण कूटस्थका ब्रह्मसे मुख्य सामानाधिकरण्य वेदान्तमें कहा गया है। जिस वस्तुका जिस वस्तुसे अभेद सम्बन्ध है उस वस्तुका उस वस्तुके साथ मुख्य सामानाधि-करण्य कहा जाता है। जैसे घटाकाशका महाकाशसे सदा अभेद होनेसे घटाकाश महाकाश ही है। इसलिये घटाकाशका महा-काशसे मुख्य सामानाधिकरण्य है। इसी प्रकार कूटस्थ और

ब्रह्ममें सदा अभेद होनेसे कूटस्थका ब्रह्मके साथ मुख्य सामानाधिकरण्य होता है। अतः 'अहं' शब्दके लक्ष्यार्थ कूटस्थका ब्रह्मसे सदा अभेद ही है।

[समानविभक्तिकत्वे सति एकार्थबोधकत्वं ययोः पदयोरस्ति ते पदे परस्परं समानाधिकरणे इति तयोः पदयोः परस्परसम्बन्धः सामानाधिकरण्यसम्बन्धः, इति चोच्यते। इदं च सामानाधिकरण्यं जीवब्रह्मैक्यबोधकसमानविभक्तिमत्पदघटितचतुर्वेदान्तर्गतचतुर्विधमहावाक्येषूपलभ्यते। तथा अन्यत्रापि लौकिकवैदिकवाक्येषु बोध्यम्।

अर्थात् समानविभक्तिके बलसे एकार्थ—एकाधिकरण—एकाश्रय है जिन परस्पर दो शब्दोंका, उनका समानाधिकरण है, ऐसे उन दोनों शब्दोंका परस्पर जो सम्बन्ध है उसका नाम सामानाधिकरण्य है अर्थात् एकार्थता है। यह सामानाधिकरण्य जीव-ईश्वरके बोधक समान विभक्तिवाले पदोंसे युक्त चारों वेदोंके अन्तर्गत चार महावाक्योंमें उपलब्ध होता है। तथा अन्यत्र भी लौकिक-वैदिक वाक्योंमें भी जानना चाहिये।

ये सामानाधिकरण्य दो प्रकारके होते हैं। एक मुख्य सामानाधिकरण्य, दूसरा बाध सामानाधिकरण्य। समानसत्ता—एकसत्ता एवं समान स्वरूप तथा वास्तविक भेदशून्य दो पदार्थोंके बोधक वाक्योंमें जो दो पद हैं उनका मुख्य सामानाधिकरण्य कहा जाता है। जैसे घटाकाश और महाकाश पदोंका तथा कूटस्थ और ब्रह्म शब्दका मुख्य सामानाधिकरण्य है।

भिन्न सत्तावाले दो पदार्थोंकी एकविभक्तिसे एकताबोधक वाक्यगत दो शब्दोंका बाध सामानाधिकरण्य जानना चाहिये। वह स्थाणु और पुरुष पदमें, जगत् और ब्रह्म पदमें तथा बिम्ब और प्रतिबिम्ब पदमें जानना चाहिये।]

'अहं' शब्दसे प्रतिभासमान चिदाभासका ब्रह्मके साथ स्व-स्वरूपबाधपूर्वक ही अभेद सिद्ध होता है। इसीलिये वेदान्त-शास्त्रमें आभासका ब्रह्मके साथ बाध सामानाधिकरण्य ही कहा जाता है। जिस वस्तुका स्वरूपनाशपूर्वक जिस वस्तुसे अभेद होता है उस वस्तुका उस वस्तुके साथ बाध सामानाधिकरण्य कहा जाता है। जैसे मुखके प्रतिबिम्बका स्वरूपबाधपूर्वक मुख-रूप बिम्बसे अभेद देखा जाता है, अतः बिम्बसे प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं है, किन्तु बिम्ब ही है। इसी कारण प्रतिबिम्बका बिम्बके साथ बाध सामानाधिकरण्य ही होता है। अथवा स्थाणुमें पुरुषके भ्रमके अनन्तर स्थाणुत्वेन ज्ञान होनेपर पुरुष स्थाणु ही है यह पुरुषका स्थाणुके साथ बाध सामानाधिकरण्य होता है। तथा आभासका भी बाधानन्तर ब्रह्मसे अभेद सम्भव होता है।

इस कारण 'अहं' इस शब्दसे भान होनेवाला चिदाभास ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। आभासका ब्रह्मके साथ इस प्रकार ही बाध सामानाधिकरण्य सम्भव होता है। हे सोम्य! इसी प्रकार 'अहं' शब्दसे गम्य कूटस्थका ब्रह्मके साथ मुख्य सामानाधिकरण्यसे एवं आभासके साथ बाध सामानाधिकरण्यसे अभेद जानो।

कूटस्थ और आभासका अहंवृत्तिमें जो भान है वह, क्या क्रमसे होता है या क्रमके बिना ही होता है इसका विचार—

प्रश्न—हे स्वामिन्! आपने कहा कि अहंवृत्तिमें साक्षी और चिदाभासका भान होता है। तो क्या एक साथ दोनोंका

भान होता है अथवा कालभेदसे भान होता है ? मुझे यह संशय है। इसको स्पष्ट बोध करायें।

अहंवृत्तिमें साक्षी और चिदाभासका एक साथ भान होता है—

उत्तर—हे सोम्य ! विस्पष्ट सारतर उत्तर कहता हूं, सावधान होकर सुनो। श्रवणजन्य ज्ञानरूप सूर्योदयके प्रकाशसे इस गाढ अज्ञानरूप तमका अशेष विनाश हो जायगा। हे सोम्य ! साक्षी एवं आभासकी अहंवृत्तिमें एक साथ ही प्रतीति होती है। वेदान्तमें सर्वत्र 'आभास' शब्दसे अन्तःकरणसहित ही चिदाभासका ग्रहण किया गया है। साक्षीको अन्तःकरणसहित चिदाभास विषयरूपसे भान होता है और साक्षी स्वयंप्रकाशरूप भान होता है। चिदाभाससहित अन्तःकरणकी वृत्तिसे साक्षी विषय नहीं किया जाता।

बाह्य घटादि पदार्थोंकी ज्ञानोत्पत्तिका क्रम तो यह है कि इन्द्रियोंके घटादि विषयोंके साथ संयोगकालमें इन्द्रियोंके द्वारा निर्गत अन्तःकरणकी वृत्ति घटादि विषयोंके समान आकारवाली हो जाती है। जैसे लोहा या मिट्टीके बने मूषामें डाले हुए द्रुत ताम्रादि मूषाके आकारके हो जाते हैं उसी प्रकार अन्तःकरणकी वृत्ति भी घटादिके समान आकारकी हो जाती है। यह वृत्ति चैतन्याभासके सहित ही होती है, चैतन्याभासके विना नहीं होती। वृत्ति अन्तःकरणका परिणाम है। अन्तःकरणके परिणामका ही नाम वृत्ति है। सत्त्वगुणका कार्य होनेसे अन्तःकरण स्वच्छ है। अतः अन्तःकरणमें चैतन्याभास होता है। उसी प्रकार अन्तःकरणका कार्य होनेसे वृत्ति भी स्वच्छ

होती है, स्वच्छ होनेसे वृत्तिमें भी चैतन्याभास पड़ता है। उत्पन्न होनेवाली वृत्ति आभासके सहित ही अन्तःकरणसे उत्पन्न होती है। इस कारण भी वृत्ति साभास-विशिष्ट ही उदय होती है।

चैतन्य ही अज्ञानका आश्रय और विषय है—

घटादि विषय तमोगुणके कार्य होनेसे स्वरूपसे जड हैं। अतः अज्ञान एवं अज्ञानका कार्य आवरण जड होनेसे घटादिका विषय है, यह कई कहते हैं। किन्तु यह बात आपातरमणीय है। यथार्थमें विचारदृष्टिसे चैतन्यमें ही अज्ञान और आवरण दोनों हैं, घटादि विषयोंमें नहीं हैं। अज्ञान चैतन्यके आश्रय है तथा चैतन्यको ही विषय करता है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

यह वृद्ध-वचन है।

पहिले सप्तावस्थाके निरूपणमें अज्ञानका आश्रय अन्तःकरणविशिष्ट चिदाभास है—यह कहा। वह अज्ञान अभिमानीका आश्रय है। "अहमज्ञः" यह अभिमान अन्तःकरणसहित चिदाभासको होता है। अतः आभासके आश्रय अज्ञान है—यह कहा था। मुख्य आश्रय तो चैतन्य ही है, आभाससहित अन्तःकरण नहीं है। क्योंकि आभाससहित अन्तःकरण अज्ञानका कार्य है। जो जिसका कार्य होता है, उसको विषय नहीं करता है। इसलिये अज्ञानका केवल चैतन्य ही अधिष्ठानरूपसे आश्रय है।

[जैसे धनादि कोषका मुख्य आश्रय पेटिका है तथा

१५२ : वेदान्त-तत्त्व-विचार

वृत्ति और चिदाभासका उपयोग : १५३

है। उसी प्रकार अन्तःकरणका कार्य होनेसे वृत्ति भी स्वच्छ

[जैसे घनादि कोशका मुख्य आश्रय पेटिका है तथा

घनाभिमानी पुरुष भी आश्रय है, इसी प्रकार अज्ञानका मुख्य आश्रय चैतन्य है और अभिमानीरूप आश्रय चिदाभासविशिष्ट अन्तःकरण भी है।]

अज्ञानका विषय भी चैतन्य ही है। स्वरूपका तिरस्कार—आवरण करनेका नाम विषय है। यह अज्ञानकृत आवरण जड वस्तुमें नहीं हो सकता है। जड वस्तु स्वस्वरूपसे स्वयं आवृत है तो उसमें अज्ञानकृत आवरणका उपयोग कैसे हो सकता है। और अज्ञान अपने आश्रय चैतन्यको विषय करता है, जैसे कि गृहान्तःस्थ तम अपने आश्रयभूत गृहको ही आवरण करता है। अतः घटादि जड पदार्थमें अज्ञान एवं आवरण सम्भव नहीं होता।

बाह्य पदार्थके प्रकाशमें वृत्ति और चिदाभास दोनोंका उपयोग होता है।—यहाँ यह जानना चाहिये कि चैतन्यसे भिन्न तथा सदसत्से विलक्षण अज्ञान चैतन्यके आश्रय ही रहता है; उसीसे चैतन्य आवृत होता है। वह घटादिके स्वरूपसे विलक्षण अज्ञान घटादिके आश्रित न रहकर भी अपने सदृश प्रकाशशून्य जडस्वभाव घटादिरूप कार्यको उत्पन्न करता है। इसीलिये घटादि वस्तु सदा अन्धके समान आवृत ही होती है। इस घटादि पदार्थोंके आवृतत्व स्वभावका कारण अज्ञान ही है। इसी प्रकार तमोगुणप्रधान अज्ञानसे पञ्चभूतोंकी उत्पत्तिद्वारा घटादि उत्पन्न होते हैं। तमोगुणका आवरण करना स्वभाव है। अतः घटादि प्रकाशशून्य अन्धे ही रहते हैं। एवं अज्ञानके कार्य होनेसे घटादिमें अन्धतारूप आवरण स्वभावसिद्ध है। घटादिके अधिष्ठान चैतन्यके आश्रयमें रहता हुआ अज्ञान चैतन्यको आवरण करके स्वभावसे आवृत भी घटादिको

पुनः आवरण करता है। स्वभावसे ही आवृत पदार्थोंके आवरण करनेमें कुछ प्रयोजन नहीं होनेपर भी आवरक पदार्थ अपने प्रयोजनकी अपेक्षाके विना ही अनावृत पदार्थके समान आवृत पदार्थको भी पुनः आवृत कर लेता है। यह लोकमें प्रसिद्ध है। अज्ञानसे आवृत घटादिसे संयुक्त जो अन्तःकरणके परिणामरूप चिदाभाससहित घटाकाराकारित वृत्ति है, उस वृत्तिमें वृत्तिभाग तो घटादिमें आवरणको दूर करता है और चिदाभासभाग घटादि विषयको प्रकाश करता है। इस प्रकार वाह्य पदार्थके प्रकाश करनेमें वृत्ति और वृत्तिमें स्थित चिदाभास दोनोंका उपयोग होता है।

इसमें यह दृष्टान्त है कि अन्धकारमें मिट्टीके भाण्डसे ढकी हुई सुवर्णकी या लोहकी कोई वस्तु है। दण्डादिसे मृद्भाण्डरूप आवरण नष्ट होनेपर भी दीपके प्रकाशके विना गृहान्धकारमें स्थित वस्तुका प्रकाश नहीं होता, किन्तु दीपसे ही प्रकाश होता है। उसी प्रकार अज्ञानसे आवृत घटादि विषयोंका जो आवरण है, वह वृत्तिसे नष्ट होनेपर भी घटादिरूप विषयका प्रकाश नहीं होता है, क्योंकि घटादि विषय भी जड है एवं वृत्ति भी जड है। अतः वृत्तिका प्रयोजन विषयोंके आवरणको दूर करनामात्र है, इससे विषयका प्रकाश नहीं होता, इसलिये घटादि विषयोंका प्रकाश वृत्तिमें स्थित चिदाभाससे ही होता है।

पूर्वोक्त क्रमसे चक्षु-इन्द्रियकी गोचर वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियोंके गोचर पदार्थका भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है—यह जानना चाहिये। वृत्ति और विषयके एक देशमें स्थित होनेसे घटज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।

[१. श्रोत्रेन्द्रियसे शब्दके साक्षात्के समय—श्रोत्रेन्द्रियद्वारा बाहर निकलकर साभास अन्तःकरणवृत्ति जब दूरस्थ या समीपमें शब्दरूप विषयको प्राप्तकर शब्दाकार होती है, तब अन्तःकरणकी वृत्तिसे शब्दनिष्ठ आवरण दूर होता है और वृत्तिमें स्थित आभाससे शब्द प्रकाशित होता है।

२. इसी प्रकार त्वक् इन्द्रियसे स्पर्शगुण और गुणके आश्रय घटादिके साक्षात्कारके समय, अन्तःकरणकी वृत्ति शरीरात्मक गोलकको छोड़कर बाहर नहीं जाती है। किन्तु शरीराश्रय अथवा अन्य आश्रयकी क्रियासे शरीरात्मक गोलकके साथ घटादि विषयोंके सम्बन्धसे घटादि विषय एवं तदाश्रित मृदु-कठिनादिरूप स्पर्शको शरीररूप गोलकमें स्थित ही साभास वृत्ति विषय करती है। तब वृत्तिसे घटादि आश्रय एवं तदाश्रित स्पर्शादि गुणका आवरण भङ्ग होता है और वृत्ति-निष्ठ चिदाभाससे घटादि विषय तथा तद्गत स्पर्शादिका प्रकाश होता है।

३. रसनेन्द्रियसे मधुराम्लादि रस-साक्षात्कारके समय अन्तःकरणकी वृत्ति जिह्वारूप गोलकको छोड़कर बाहर नहीं जाती है। किन्तु जिह्वारूप गोलकसे रसात्मक विषयका संयोग होता है, तब जिह्वाग्रवर्ती रसनेन्द्रियनिष्ठ साभास अन्तःकरण-वृत्ति रसको विषय करती है। तब वृत्तिसे रसका आवरण भङ्ग हो जाता है और वृत्तिनिष्ठ चिदाभाससे मधुरादि रस-विशेषका प्रकाश होता है।

४. घ्राणेन्द्रियसे गन्ध-साक्षात्कारके समय जब नासिका-रूप गोलकसे गन्धके आश्रय पुष्पादि एवं उनके सूक्ष्मावयवका

संयोग होता है, तब नासाग्रवर्ती घ्राणेन्द्रियनिष्ठ चिदाभास-सहित अन्तःकरणकी वृत्ति पुष्पादि द्रव्यके आश्रित गन्धको विषय करती है। तब गन्धका आवरण भङ्ग होता है और चिदाभाससे गन्धका प्रकाश होता है।

इसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियोंके विषयके प्रत्यक्ष ज्ञानका क्रम जानना चाहिये।]

अन्तःकरणकी वृत्तिके बहिर्निर्गमनके अभावमें घटका सम्बन्ध न हो, किन्तु भीतर ही वृत्ति घटाकार हो तो उसका नाम परोक्ष ज्ञान है। 'अयं घटः' यह अपरोक्ष ज्ञानका स्वरूप है और 'घटोऽस्ति' यह अथवा 'स घटः' यह परोक्ष ज्ञानका स्वरूप है। स्मृति भी परोक्ष ज्ञान ही है। तथापि स्मृति अनुभव-संस्कारसे जन्य है; अनुमिति आदि परोक्ष ज्ञान प्रमाणजन्य है, यह भेद है।

प्रमाणके प्रसंगमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण निरूपण किये जाते हैं—

चार्वाक मतवाले एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं।

[१. पञ्चभूतोंका कार्य देह ही आत्मा है—यह लोकायतिक कहते हैं।

२. आकाशके विना, चार भूतोंका ही कार्य देह है—यह चार्वाक कहते हैं।]

अनुमान प्रमाण—कणाद—वैशेषिक शास्त्रकर्ता कणभुक् और सुगत—बुद्धके मतानुयायी द्वितीय अनुमान प्रमाणको भी स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि एक प्रत्यक्ष प्रमाण माननेसे, तृप्ति

प्रमाण-निरूपण : १५७

चाहनेवालेकी भोजनमें प्रवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि अभुक्त भोजनमें तृप्तिकी हेतुता प्रत्यक्ष प्रमाणजन्य प्रत्यक्ष ज्ञानमें नहीं है। अतः आगामी भोजन भी तृप्तिका कारण है, भोजन होनेसे, पूर्वानुभूत भोजनके समान—'आगामिभोजनं तृप्तिकारणं भोजनत्वात्, पूर्वानुभूतभोजनवत्' इस अनुमानसे पहिले भोजनमें जो अनुभव की हुई तृप्ति है वह तृप्तिकी हेतुता भावी भोजनमें है यह ज्ञान होनेसे भोजनमें प्रवृत्ति होती हैं—यह कहते हैं। अतः अनुमान भी प्रमाण है। इस प्रकार कणाद और सुगत दो—प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण मानते हैं।

शब्द प्रमाण—सांख्य शास्त्रके रचयिता कपिलके मतानुयायी तृतीय शब्द प्रमाणको भी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि देशान्तरमें किसीका पिता मर गया। कोई आप्त पुरुष उसका वृत्तान्त उसके पुत्रसे कहता है तो उस आप्त-वाक्यसे पुत्र पिताके मरणको निश्चय करता है। वह निश्चय प्रत्यक्षानुमान दो प्रमाण स्वीकार करनेसे नहीं हो सकता, क्योंकि देशान्तरमें हुआ पितृ-मरणका ज्ञान प्रत्यक्षानुमानसे सम्भव नहीं है। अतः कपिलमतानुसारी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण स्वीकार करते हैं।

उपमान प्रमाण—न्याय शास्त्रके प्रणेता गौतमके मतानुयायी चतुर्थ उपमान प्रमाणको भी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि गवय मृगको न जाननेवाला व्यक्ति कभी अरण्यवासी पुरुषसे, 'गवयो गोसदृशः' इस वाक्यको सुनकर किसी समय वनमें जाकर जब गवयको देखता है, तब वनवासी पुरुषके कहे हुए 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्यको स्मरण करता है। इस स्मरणसे

'अयं गवयः' यह ज्ञान उसको होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणत्रयके अङ्गीकारमात्रसे नहीं हो सकता है। अतः वे इस प्रकारके विलक्षण ज्ञानके हेतुभूत उपमान प्रमाणको भी स्वीकार करते हैं।

अर्थापत्ति प्रमाण—पूर्व मीमांसाके एकदेशी भट्टके शिष्य प्रभाकर पञ्चम अर्थापत्ति प्रमाणको भी अङ्गीकार करते हैं। उनका कहना हैं कि दिनमें भोजन न करनेवाले पुरुषके स्थूल शरीरको देखकर 'अयं रात्रौ भुङ्क्ते' यह रात्रिमें भोजन करता है, यह निश्चय होता है। रात्रिमें भोजनके विना दिनमें भोजन न करनेपर स्थूलत्व सम्भव नहीं हो सकता है। पीनत्वका हेतु भोजन है, अतः रात्रिमें भोजनका कार्य है पीनत्व। रात्रिका भोजन पीनत्वका कारण है। पीनत्व उपपाद्य है और रात्रि-भोजन उपपादक है। उपपादक रात्रि-भोजनके ज्ञानके प्रति कारणभूत पीनत्वरूप उपपाद्य ज्ञानका नाम अर्थापत्ति प्रमाण है।

अनुपलब्धि प्रमाण—पूर्व मीमांसक भट्ट षष्ठ अनुपलब्धि प्रमाण भी मानते हैं। वेदान्ती भी छः प्रमाण अङ्गीकार करते हैं। 'व्यवहारे भट्टनयः' यह न्याय है। गृहादिमें घटादि ज्ञानका अभाव प्रतीत होता है यह अभावज्ञान ही अनुपलब्धि प्रमाणका प्रयोजन है। जिस पदार्थकी प्रतीति नहीं होती है उस पदार्थका अभाव-ज्ञान होता है। उस अप्रतीतिका नाम अनुपलब्धि है। घटादिकी अप्रतीतिसे घटादिका अभाव निश्चय होता है। ऐसे पदार्थके अभावनिश्चयके हेतुभूत पदार्थकी अप्रतीतिका बोधक अनुपलब्धि प्रमाण है।

प्रमाण और प्रमाका लक्षण—प्रमारूप ज्ञानके करणका नाम प्रमाण है। 'स्मृतिभिन्नत्वे सत्यबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमा' स्मृतिसे भिन्न अबाधित अर्थका विषय करनेवाले ज्ञानका नाम 'प्रमा' है। स्मृतिज्ञान प्रमा नहीं है। प्रमाज्ञान ही प्रमाताको आश्रय करता है, स्मृतिज्ञान प्रमाताके आश्रित नहीं होता, किन्तु साक्षीके आश्रित होता है, यह स्वीकार किया है। उसी प्रकार भ्रान्तिज्ञान और संशयज्ञान भी साक्षीके ही आश्रित होता है ऐसा मानते हैं। इसीलिये स्मृति, संशय और भ्रान्ति—ये तीनों ज्ञान चिदाभाससहित अविद्याकी वृत्तिरूप हैं, अन्तःकरणकी वृत्तिरूप नहीं है। इसी कारण ये तीनों ही प्रमाताके आश्रय नहीं हैं, किन्तु साक्षीके आश्रय हैं। जो अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ज्ञान है, वही प्रमाताके आश्रित होता है। अन्तःकरणकी वृत्ति-रूप ज्ञान ही प्रमा कहा जाता है। अन्तःकरणकी वृत्ति नहीं होनेसे स्मृतिज्ञान प्रमाताके आश्रय नहीं है, प्रमाताके आश्रय न होनेसे प्रमा भी नहीं है। अतः स्मृतिसे भिन्न प्रमालक्षण ज्ञान कहना चाहिये। अबाधितार्थको विषय करनेवाला ज्ञान भी स्मृतिसे भिन्न नहीं है। अतः अबाधितार्थविषयक स्मृतिज्ञानसे भिन्न ही प्रमाज्ञान कहा जाता है। इस लक्षणमें दोषकी गन्ध भी नहीं है।

किसीके मतमें स्मृति भी प्रमाज्ञान ही है। उनके मतमें 'प्रमा' के लक्षणमें स्मृतिभिन्न प्रमा नहीं कहना चाहिये। उनके मतमें अबाधितार्थविषयक ज्ञान ही प्रमा कहलाता है। भ्रान्ति-ज्ञान अबाधितार्थविषयक नहीं है, किन्तु बाधितार्थविषयक है। अतः प्रमालक्षणकी भ्रान्तिज्ञानमें अतिव्याप्ति नहीं होती है। स्मृति

भी प्रमा है यह माननेवालेके मतमें स्मृतिज्ञान भी अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ही है, अविद्याकी वृत्तिरूप नहीं है। और साक्षीके आश्रय भी नहीं है किन्तु प्रमाताके आश्रय है। अन्तःकरणकी वृत्तिका आश्रय प्रमाता ही होता है, साक्षी आश्रय नहीं होता।

उक्त प्रकारसे किसीके मतमें स्मृतिज्ञान भी अन्तःकरणवृत्ति-रूप होनेसे प्रमा है और किसीके मतमें अविद्याकी वृत्तिरूप होनेसे प्रमा नहीं है। किन्तु भ्रान्तिज्ञान और संशयज्ञानको सबके मतसे अविद्याकी वृत्ति होनेसे साक्षीके आश्रित ही स्वीकार किया गया है। इसमें कोई विवाद नहीं है। विचार करनेपर तो स्मृतिज्ञान भी अविद्याको वृत्तिरूप है एवं साक्षीके आश्रय है, अतः 'प्रमा' नहीं है।

[१. 'यथार्थज्ञानं प्रमा' यह प्रमाका लक्षण स्मृति-साधारण है।

२. यहाँ यह विचारणीय है कि भ्रमरूप अनुभवजन्य संस्कारसे जनित जो स्मृति है वह बाधितार्थविषयक होनेसे अयथार्थ ज्ञान ही है। अतएव वह अविद्याकी वृत्ति है, अन्तः-करणकी वृत्ति नहीं है; और साक्षीके आश्रित है, प्रमाताके आश्रित नहीं है। यथार्थानुभवसंस्कारसे जन्य स्मृतिज्ञान अबाधितार्थको विषय करनेवाला होनेसे यथार्थ ज्ञान होता है। इसीलिये इस प्रकारका स्मृतिज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिरूप है, अविद्याकी वृत्ति नहीं है; और प्रमाताके आश्रित है, साक्षीके आश्रित नहीं है। तथापि प्राचीन आचार्योंने स्मृतिज्ञानको प्रमा व्यवहार नहीं किया है। अतः दोनों प्रकारके स्मृतिज्ञान अप्रमा

अतः प्रमालक्षणकी भ्रान्तिज्ञानमें अतिव्याप्ति नहीं होती है । स्मृति

व्यवहार नहीं किया है । अतः दोनों प्रकारके स्मृतिज्ञान अप्रमा

ही हैं । उनमें अयथार्थ स्मृति अयथार्थ अप्रमा है और यथार्थ स्मृति यथार्थ अप्रमा—इतना भेद है ।]

वेदान्तसम्प्रदायके वेत्ता भी प्रमाज्ञान छः प्रकारके मानते हैं । इनमें स्मृतिज्ञानको अन्तर्भूत नहीं किया है, अतः स्मृतिज्ञान प्रमा नहीं है । श्रीमधुसूदनस्वामीने भी स्मृतिज्ञानको साक्षीके ही आश्रय कहा है ।

षड्विध प्रमा

प्रमा षड्विध होती है—प्रत्यक्ष प्रमा, अनुमिति प्रमा, उपमिति प्रमा, शाब्दी प्रमा, अर्थापत्ति प्रमा और अभाव प्रमा । पूर्वोक्त प्रत्यक्षादि प्रमाण क्रमसे प्रमाके करण होते हैं ।

करणके लक्षण—प्रत्यक्ष प्रमाके करणको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । असाधारण कारण ही करण है । जो समस्त कार्यका सामान्य कारण होता है वह साधारण कारण है ।

[केवल असाधारण कारणको करण कहें, तो जहाँ दो असाधारण हैं वहाँ यही करण है यह निश्चय नहीं होगा । अतः एकको द्वाररूप करण और दूसरेको व्यापारवान् असाधारण कारणरूप करण कहना होगा । जो किसीके द्वारा कार्य उत्पन्न करता है वह असाधारण कारणरूप करण होता है । जैसे कपालद्वय संयोगके द्वारा घटको उत्पन्न करनेवाला होनेसे घटके प्रति व्यापारवान् असाधारण कारणरूप करण है । और जो व्यापारशून्य होकर किसीके द्वारा कार्य उत्पन्न नहीं करता है, किन्तु साक्षात् ही कार्य उत्पन्न करता है वह केवल कारण है, करण नहीं है । जैसे कपालद्वयका संयोग साक्षात् ही घटोत्पादक होनेसे केवल कारण है, करण नहीं है ।

यद्यपि असाधारण कारण करण है, यह लक्षण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणमें घटता है, तथापि उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धिमें सम्भव नहीं होनेसे अव्याप्ति है । उपमिति प्रमाका निर्व्यापार कारण है, अतः उपमानादिमें करणके लक्षणमें अव्याप्ति होती है । इस कारण व्यापारभिन्न असाधारण कारण करण है—इस लक्षणमें कोई दोष नहीं है, अतः सर्वप्रमाणानुगत यह लक्षण है ।]

"कार्यत्वावच्छिन्ननिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताशालि यत् तत् साधारणकारणम् ।" धर्माधर्मादि सकल कार्योंका कारण होनेसे साधारण कारण है । और जो सकल कार्यका कारण न हो, किन्तु किसी कार्यका ही कारण हो वह असाधारण कारण होता है । "कार्यत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्ननिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताशालि यत् तद् असाधारणकारणम् ।" जैसे दण्ड सकल कार्यका कारण नहीं है, किन्तु घटादिरूप कार्यविशेषका ही कारण है । अतः दण्ड-घटादि कार्योंका असाधारण कारण है । इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाके ईश्वर और ईश्वरके इच्छादि तथा आदि शब्दसे ईश्वरके ज्ञान, प्रयत्न, काल, दिक्, अदृष्ट, प्रागभाव, प्रतिबन्धकाभावादि—ये नव सर्वकार्योंके कारण होनेसे साधारण कारण कहे जाते हैं । क्योंकि ईश्वरादि सकल कार्योंके प्रति कारण होते हैं । इनके विना कोई कार्य नहीं हो सकता है, अतः ईश्वरादि साधारण कारण हैं । और चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाके प्रति असाधारण कारण हैं । अतः इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाके प्रति करण हैं । इस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण कहे जाते हैं ।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमा और प्रमेय—ये चैतन्यके चार भेद हैं

यद्यपि वेदान्त-सिद्धान्तमें चक्षु आदि इन्द्रियोंकी प्रत्यक्ष प्रमाके प्रति कारणता नहीं है। क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्तमें चार प्रकारके चेतन माने जाते हैं। प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य, प्रमितिचैतन्य या प्रमाचैतन्य और प्रमेयचैतन्य अथवा विषय-चैतन्य—ये चार भेद हैं। वेदान्त-मतमें प्रमा नाम चैतन्यका है। वह चैतन्य नित्य है, इन्द्रियजन्य नहीं है। इसलिये इन्द्रियों-की कारणता नहीं है। तथापि चैतन्यकी प्रमात्वादि सम्पादिका वृत्तिको भी प्रमा कहते हैं, अतः इन्द्रियाँ उस वृत्तिकी ही करण हैं।

१. **प्रमातृचैतन्य**—देहके मध्यमें अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्यका नाम प्रमातृ (प्रमाता) चैतन्य है।

२. **प्रमाणचैतन्य**—यह अन्तःकरण चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा बाहर निकलकर घटादि विषयदेशपर्यन्त लंबे परिणामको प्राप्त होकर घटादि विषयोंसे संश्लिष्ट होनेपर विषयाकारमें परिणत हो जाता है। जैसे तटाकका जल प्रणालिकाद्वारा निकलकर, कुल्यात्मना परिणत होकर, केदारमें प्रवेशकर केदारके चतुष्कोणादिके समान रूपवाला हो जाता है। उसी प्रकार अन्तःकरण भी चक्षुरादि इन्द्रियोंके छिद्रद्वारा बाहर निकलकर विषयरूप केदारको प्राप्तकर विषयाकार हो जाता है। इस देहसे आरम्भकर घटादिदेशपर्यन्त अन्तःकरणका जो लंबा परिणाम है उसीका नाम वृत्ति है। वृत्तिज्ञानरूप जो अन्तः-

करणका परिणाम है वही प्रमाण शब्दसे कहा जाता है। इसी कारण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यको प्रमाणचैतन्य कहते हैं।

३. **प्रमितिचैतन्य अथवा प्रमाचैतन्य**—केदारको प्राप्तकर जैसे जल केदारके समान आकारका हो जाता है, उसी प्रकार घटादि विषयको प्राप्तकर अन्तःकरणकी वृत्ति भी घटादिके समान आकारवाली हो जाती है। इस प्रकार विषयके समान आकारसे अवच्छिन्न चैतन्यको प्रमाचैतन्य कहते हैं।

४. **प्रमेयचैतन्य या विषयचैतन्य**—ज्ञानके विषयीभूत घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यको विषयचैतन्य तथा इसीको प्रमेय-चैतन्य कहते हैं। यह सब वेदार्थ-सम्प्रदायविद् आचार्योंको परिभाषा है।

प्रमाता और साक्षीके लक्षण

अवच्छेदवादकी रीतिसे प्रमाता एवं साक्षीके स्वरूप, तथा विशेषण और उपाधिके लक्षण—

अवच्छेदवादकी रीतिसे अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्यको प्रमाता कहते हैं। और उसीको कर्ता-भोक्ता भी कहते हैं। अन्तः-करणोपहित चैतन्यको साक्षी कहते हैं। इसी प्रकार एक ही अन्तःकरण विशेषण होकर प्रमाता और उपाधिरूप होकर साक्षी होता है।

विशेषणका लक्षण

वस्तुस्वरूपमें जिसका प्रवेश—कार्यके साथ सम्बन्ध हो ऐसी व्यावर्तक वस्तुको विशेषण कहते हैं। "कार्यान्वयित्वे सति *व्यावर्तकत्वे सति विद्यमानत्वं विशेषणस्य लक्षणम्।*" जो अन्य

परिणाम है उसीका नाम वृत्ति है। वृत्तिज्ञानरूप जो अन्तः-

व्यावर्तकत्वे सति विद्यमानत्वं विशेषणस्य लक्षणम्।" जो अन्य

पदार्थोंसे विवेचन (भिन्न) करके वस्तुस्वरूपको बोधन करे—जनावे उसका नाम व्यावर्तक है—"पदार्थान्तरेभ्यो विविच्य वस्तुस्वरूपावेदकं यत् तद् व्यावर्तकम्'। जैसे 'नीलो घटः' इस कथनमें नील वर्ण घटका विशेषण है। क्योंकि नील वर्ण नील घटके स्वरूपमें प्रविष्ट होकर रक्त-पीत-श्वेतादि घटोंसे पृथक् नील घटको बोधन कराता है, अतः नील वर्ण व्यावर्तक और विशेषण है। घट परिच्छेद्य है, क्योंकि पीतादि वर्णविशिष्ट घटादिसे विवेचन करके 'अयं नीलघटः' 'यह नील घट है' जनाया जाता है। जो पदार्थ विवेकसे पृथक्कर दिखाया जाता है, वही परिच्छेद्य, व्यावर्तक और विशेष्य कहा जाता है। जैसे 'दण्डी पुरुषः' इत्यादिमें भी दण्डादि पुरुषका विशेषण है।

इसी प्रकार प्रमाताका अन्तःकरण विशेषण है, क्योंकि प्रमाताके स्वरूपमें अन्तःकरणका प्रवेश—सम्बन्ध है। और प्रमेयचैतन्यसे व्यावर्तन करके प्रमाताके स्वरूपको बोधन कराता—जनाता है, अतः अन्तःकरणका व्यावर्तक भी होता है।

उपाधिका लक्षण

जो वस्तुस्वरूपमें प्रवेशके विना ही व्यावर्तक होता है उसका नाम उपाधि है—"कार्यानन्वयित्वे सति व्यावर्तकत्वे सति विद्यमानत्वमुपाधिलक्षणम्"। नैयायिक मतमें "कर्ण-शष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्" कर्ण-शष्कुलीसे अवच्छिन्न आकाश-को श्रोत्र कहते हैं। इसमें कर्ण-शष्कुली श्रोत्रका उपाधि है। कर्णगोलक श्रोत्रेन्द्रियके स्वरूपमें प्रवेशके विना ही बाह्य भूता-काशसे पृथक् श्रोत्रेन्द्रियका बोध कराता है। अतः कर्णगोलक

व्यावर्तक होता है। 'घटाकाश प्रस्थ (एक मन) परिमाण अन्नको अवकाश देता है'—यहाँ भी घट आकाशका उपाधि ही है। प्रस्थपरिमित अन्नको अवकाश देनेवाले आकाशके स्वरूपमें प्रवेश किये विना ही घट महाकाशसे विभाजन करके घटाकाशका बोध कराता है। घट पृथिवीका कार्य है। घटमें अवकाशप्रदत्व सम्भव नहीं है। अतः आकाशके स्वरूपमें घटका प्रवेश नहीं होता। इसलिये घट आकाशका उपाधि है।

इसी प्रकार अन्तःकरणोपहित चैतन्यका नाम साक्षी है। अन्तःकरण साक्षीका उपाधि है। अन्तःकरणका साक्षीके स्वरूपमें प्रवेश नहीं होता है। किन्तु अन्तःकरण प्रमेयचैतन्यसे पृथक् करके साक्षीका बोध कराता है। इसी कारण एक ही अन्तःकरण साक्षीका उपाधि और प्रमाताका विशेषण कहा जाता है। अन्तःकरणोपहित चैतन्यका नाम साक्षी है एवं अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य प्रमाता है। उपाधिसे युक्त 'उपहित' और विशेषणसे युक्त 'विशिष्ट' कहलाता है। इसमें अन्तःकरण-विशिष्ट प्रमाता ही कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी संसारी जीव होता है। इस प्रकार अवच्छेदवादकी रीतिसे प्रमाता और साक्षीका लक्षण कहा गया है।

आभासवादकी रीतिसे जीव और साक्षीके स्वरूप— आभासवादमें आभाससहित अन्तःकरण जीवका विशेषण और साक्षीका उपाधि होता है। इसी कारण आभाससहित अन्तः-करणविशिष्ट चैतन्यका नाम जीव है और आभाससहित अन्तः-करणोपहितका नाम साक्षी है। यद्यपि दोनों पक्षों (अवच्छेद-वाद, आभासवाद) में विशेषणसहित चैतन्य ही जीव है एवं

वही संसारी है, तथापि विशेष्यभाग जो चैतन्य है उसमें जनन-मरणादि संसार सम्भव नहीं है। अतः विशेषणमात्रमें संसारित्व-का पर्यवसान होता है। वही विशिष्ट चैतन्यमें प्रतीत होता है। (१) कहीं विशेषणके धर्मोंका विशिष्टमें एवं (२) कहीं विशेष्यके धर्मोंका विशेषणमें व्यवहार होता है। (३) कहीं विशेषण और विशेष्य दोनोंके धर्मोंका विशिष्टमें व्यवहार होता है। जैसे 'दण्डसे घटाकाशका नाश होता है' यहाँ विशेषणीभूत घट ही दण्डसे नष्ट होता है। विशेष्य आकाशका नाश नहीं होता, तथापि विशिष्ट आकाशमें नाश प्रतीत होता है। तथा 'कुण्डली पुरुषः शेते' यहाँ विशेषण कुण्डलमें स्वाप सम्भव नहीं है, विशेष्य पुरुषमें ही स्वाप सम्भव है, तथापि 'कुण्डलविशिष्ट पुरुष सोता है' यह विशिष्टमें व्यवहार होता है। और 'आयुधपाणिः पुरुषो योद्धुं याति' यहाँ आयुध विशेषण है पुरुष विशेष्य है, युद्धमें गमनका व्यवहार विशेष्य और विशेषण दोनोंमें होता है।

प्रकृतमें अवच्छेदवादकी रीतिसे अन्तःकरण विशेषण है और आभासवादमें आभाससहित अन्तःकरण विशेषण है; दोनों पक्षोंमें चैतन्य विशेष्य है। उस चैतन्यमें जन्मादि संसार सम्भव नहीं है। किन्तु विशेषण अन्तःकरणके अथवा आभाससहित अन्तःकरणके धर्मों—जन्म-मरणादिका अविवेकियोंके द्वारा भ्रान्तिसे विशिष्ट चैतन्यमें व्यवहार किया जाता है। व्यवहारका अर्थ है प्रतीति या कथन। इस प्रकार अवच्छेदवाद और आभासवादमें भेद जानना चाहिये।

आभासवादकी श्रेष्ठता

आभासवादमें अन्तःकरण आभाससहित और अवच्छेदवादमें

आभासरहित होता है। इन दोनोंमें आभासवाद श्रेष्ठ माना गया है। भगवान् भाष्यकारने आभास ही स्वीकार किया है। अवच्छेदवादमें स्वामी विद्यारण्यजीने दोष दिखाया है। तथाहि—आभासरहित अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको प्रमाता स्वीकार करनेमें घटादि अवच्छिन्न चैतन्यको प्रमाता होनेका प्रसंग होगा। क्योंकि अन्तःकरणके समान घट भी भूतका कार्य है। जैसे अन्तःकरण चैतन्यका अवच्छेदक अथवा व्यावर्तक है, उसी प्रकार घट भी अवच्छेदक और व्यावर्तक है। अतः अन्तः-करणविशिष्ट चैतन्यके तुल्य घटावच्छिन्न चैतन्य भी प्रमाता होगा—यह विरोध अपरिहार्य है। अन्तःकरणमें आभास स्वीकार करनेपर इस दोषका होना सम्भव नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण समष्टि पञ्चतन्मात्राका कार्य होनेसे स्वच्छ है। और घटादि पञ्चीकृत पञ्चभूतोंके तमोगुणके कार्य होनेसे मलिन हैं। आभास या प्रतिबिम्ब स्वच्छ वस्तुमें ही होता है। मलिन पदार्थमें आभास नहीं होता। दर्पण और दर्पणकोश (ढक्कन)—यह दोनों मृत्तिकाके कार्यविशेष होनेपर भी दर्पणमें मुखका आभास प्रतीत होता है किन्तु मलिन होनेसे ढक्कनमें मुखका आभास नहीं प्रतीत होता है। इसी प्रकार सत्त्वगुणका कार्य होनेसे स्वच्छ अन्तःकरणमें चैतन्याभास प्रतीत होता है। तमोगुणके कार्यभूत मलिन शरीरादि और घटादिमें चैतन्याभास नहीं होता है।

अन्तःकरणगत द्विविध प्रकाश ही प्रमाता है, दूसरा नहीं—

इस प्रकार अन्तःकरणमें दो प्रकारसे प्रकाश होता है। एक व्यापक चैतन्यका प्रकाश, दूसरा आभासरूप चैतन्यका प्रकाश। शरीर एवं घटादिमें एक व्यापक चैतन्यका ही प्रकाश है,

आभासका प्रकाश नहीं है। अतः द्विविध प्रकाशसहित अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य ही प्रमाता कहा जाता है, एक प्रकाशमात्रसहित घटादिविशिष्ट चैतन्य प्रमाता नहीं होता।

जिनके मतमें अन्तःकरणमें आभास नहीं है, उनके मतमें घटादिके समान अन्तःकरणमें भी दूसरे आभासका प्रकाश नहीं है। और भी बात है कि जो एक व्यापक चैतन्यका प्रकाश अन्तःकरणमें है वही प्रकाश घटादिमें भी है। अतः अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्यको प्रमाता स्वीकार करनेपर घटविशिष्ट, शरीर-विशिष्ट और कुड्यविशिष्ट चैतन्यको भी प्रमाता स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार घट-शरीरादिकी अपेक्षा अन्तःकरणमें वैलक्षण्य है। इसमें कारण यह है कि सत्त्वगुणका कार्य होनेसे अन्तःकरण स्वच्छ है, अतः चैतन्याभासग्रहणके योग्य भी है। अन्य घटादि तमोगुणके कार्य होनेसे मलिन हैं इसलिये इनमें चैतन्याभास ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं है। आभास ग्रहण करने योग्य अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य ही प्रमाता कहलाता है। आभास ग्रहण करनेके अयोग्य घटादिविशिष्ट चैतन्य प्रमाता नहीं होता। इसीलिये अवच्छेदवादसे आभासवाद श्रेष्ठ माना जाता है।

[आभासवादमें आभासके स्वरूपकी अधिक कल्पना करनी पड़ती है, अवच्छेदवाद ऐसा नहीं है। यद्यपि आभासवादमें गौरव है और अवच्छेदवादमें लाघव है, तथापि मन्द जिज्ञासुकी बुद्धिमें आभासवाद स्पष्ट प्रतीत होता है, इसी अभिप्रायसे आभासवादकी स्तुति की जाती है। भाष्यकार आदिका भी यही अभिप्राय है।]

प्रमातादि चतुर्विध चैतन्यका स्वरूप

जैसे अन्तःकरण आभाससहित होता है, उसी प्रकार अन्तः-

करणवृत्ति भी आभाससहित ही होती है। आभाससहित वृत्ति-विशिष्ट चैतन्यको प्रमाणचैतन्य कहते हैं।

घटादिविषयाकार अन्तःकरणकी वृत्तिमें आरूढ़ चैतन्यको प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान कहते हैं। प्रमाके साधन इन्द्रियको प्रमाण कहते हैं। यहाँ यह जानना चाहिये कि विषयाकार वृत्तिमें आरूढ़ चैतन्यको प्रमा कहते हैं। इसमें चैतन्यका स्वरूपसे नित्य होनेके कारण इन्द्रियजन्यत्व सम्भव नहीं है। अतः प्रमाचैतन्यके प्रति यद्यपि इन्द्रियोंका साधनत्व सम्भव नहीं है, तथापि उपचारसे इन्द्रियोंका प्रमासाधनत्व व्यवहार होता है। क्योंकि उपाधिशून्य चैतन्यमें तो प्रमाका व्यवहार नहीं होता किन्तु विषयाकार वृत्तिसे उपहित चैतन्यमें ही प्रमा व्यवहार होता है। अतः चैतन्यमें प्रमा शब्दकी प्रवृत्तिमें विषयाकार वृत्ति उपाधि है, वह विषयाकार वृत्ति इन्द्रियजन्य है, तादृश वृत्त्युपहित प्रमाके प्रति इन्द्रियों-के साधनत्वका व्यवहार होता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ प्रमाके साधन हैं यह कहा जाता है। समस्त अन्तःकरणके परिणाममें प्रमा व्यवहार नहीं होता है। किन्तु शरीरके मध्यमें अन्तःकरण-के विषयरूप घटादिदेशपर्यन्त जो लंबा परिणाम है, वह परिणाम ही प्रमाण कहा जाता है।

विषयोंके साथ मिलनेपर विषयाकार जो अन्तःकरणका परिणाम है उसको प्रमा कहते हैं। शरीरके भीतर स्थित अन्तः-करणदेशसे लेकर घटादि विषयदेशपर्यन्त जो लंबा अन्तः-करणका परिणाम है वही प्रमाका स्वरूप बनता है, अतः प्रमा और प्रमाणरूप अन्तःकरणकी वृत्तिमें अधिक भेद नहीं है।

इसी क्रमसे वाह्य पदार्थोंके प्रत्यक्ष ज्ञानकी दशामें अन्तः-करणवृत्ति बाहर निकलकर विषयीभूत घटादिके समान आकार-की हो जाती है। शरीरके भीतर आत्माके प्रत्यक्ष कालमें वृत्ति बाहर न निकलकर शरीरके भीतर ही आत्माकार होती है। उस आत्माकाराकारित वृत्तिसे आत्माश्रित आवरण दूर होता है तब आत्मा स्व—अपने प्रकाशसे वृत्तिमें प्रकाशित हो जाता है। इसी कारण आत्मा वृत्तिका विषय कहलाता है। वृत्तिस्थ चिदाभासरूप फलका विषय आत्मा नहीं है। इस वर्णित प्रकारसे साक्षिरूप आत्मा स्वयंप्रकाशरूपसे भान होता है यह सिद्ध हो जाता है।

'इन्द्रियसम्बन्धके विना 'अहं ब्रह्म' इस ज्ञानकी प्रत्यक्षता कैसे होती है ?'

तत्त्वदृष्टिकी शङ्का—ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानसे समस्त अविद्या-समूहका नाश होता है, परोक्ष ज्ञानसे नहीं होता, यह बात पहिले कही। इसमें यह शङ्का होती है कि 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इन्द्रियजन्य ही ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है, ब्रह्म अविषय होनेसे ब्रह्मज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं होता। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" यह श्रुति प्रमाण है।

ब्रह्म ज्ञानेन्द्रियोंका विषय नहीं

ब्रह्म चक्षुका विषय नहीं है। रूपवान् पदार्थ अथवा नीलादि वर्णका ज्ञान चक्षुसे होता है। ब्रह्म वैसा नहीं है। अतः इन्द्रिय-जन्य ज्ञानका विषय ब्रह्म नहीं है। मनुष्यादि आकारमें अवतीर्ण राम-कृष्णादिकी मूर्तियाँ यद्यपि रूपवान् हैं, तथापि वे मूर्तियाँ

मायिक होनेसे मिथ्या ही हैं। अतः वे मूर्तियाँ ब्रह्मरूप नहीं हैं। यद्यपि पुराणोंमें राम-कृष्णादिका ब्रह्मरूपसे वर्णन है, तथापि वे पुराणके वचन 'उनके शरीर ब्रह्म हैं' इस बुद्धिसे प्रवृत्त नहीं हैं, किन्तु 'उनके शरीराधिष्ठान चैतन्य ब्रह्म हैं' इस बुद्धिसे प्रवृत्त हैं, यह जानना चाहिये।

यहाँ यह शङ्का होती है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त शरीरोंका अधिष्ठान भी तो ब्रह्म चैतन्य ही है। यदि अधिष्ठान चैतन्यके अभिप्रायसे राम-कृष्णादिकी ब्रह्मरूपता स्वीकार करें, तब तो समस्त शरीरोंका अधिष्ठान चेतन ब्रह्म ही है, अतः मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भी ब्रह्मरूप ही होंगे, तव पश्वादिके समान ही राम-कृष्णादि भी होंगे। अतः जीवान्तरकी अपेक्षा राम-कृष्णादिके शरीरोंको विशिष्ट प्रतिपादन करते हुए उनके शरीरोंकी ही ब्रह्मरूपताका वर्णन किया गया है यह मानना उचित होता है, उनके शरीरोंके अधिष्ठान चैतन्यकी दृष्टिसे नहीं।

यह शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि शरीरको बाधकर ब्रह्म-रूप कहनेपर तो पश्वादिके शरीरोंका भी बाधपूर्वक ब्रह्मत्व सिद्ध होता है। बाधके अभावमें अन्य जीवोंके शरीरोंके समान कर-चरणादि अवयवसहित रूप-क्रियादियुक्त राम-कृष्णादिके शरीरोंका निरवयव रूप-क्रियादिशून्य ब्रह्मसे अभेद नहीं हो सकता है। अतः सावयव रूप-क्रियादियुक्त राम-कृष्णादिके शरीर ब्रह्म नहीं हैं। परन्तु यह विशेष भेद है कि—जीवोंके शरीर पुण्य-पापके अधीन हैं एवं भूतोंके कार्य हैं और जीवोंके अनात्मा देहादिमें अविद्याके कारण 'अहं-मम' यह अध्यास होता है। तथा वह अध्यास आचार्यके उपदेशसे निवृत्त भी होता है।

राम-कृष्णादिकी मूर्तियाँ यद्यपि रूपवान् हैं, तथापि वे मूर्तियाँ

है। तथा वह अध्यास आचार्यके उपदेशसे निवृत्त भी होता है।

श्रीराम-कृष्णादिके शरीर उनके पुण्य-पापसे जन्य नहीं हैं; न भौतिक ही हैं। परन्तु सृष्टिके पूर्व जब प्राणियोंके कर्म फल-दानोन्मुख होते हैं, तब आप्तकाम भी ईश्वरमें प्राणियोंके कर्मा-नुसार **'अहं जगत्सृजेयम्'** यह संकल्प होता है। इस संकल्पसे जगत्की उत्पत्तिरूप सृष्टि होती है। सृष्टिके बाद भी **'अहं जगत् पालयेयम्'** यह ईश्वरमें संकल्प होता है। इसी संकल्पसे जगत्का रक्षण (पालन) होता है। कर्मानुसार सुख-दुःखादि सम्बन्ध ही पालन कहलाता है। पालन-संकल्पके मध्यमें उपासकोंके उपासनाबलसे ईश्वरमें यह संकल्प होता है कि उपासकोंके उपासनके फलस्वरूप राम-कृष्णादिके नामसहित मूर्तियोंके दर्शन हों। इस प्रकार ईश्वरके संकल्पसे नाम-रूपादिरहित ईश्वरमें राम-कृष्णादि नाम और पीताम्बरादिसहित सुन्दर मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ये श्रीराम-कृष्णादिके विग्रह उनके कर्माधीन नहीं हैं।

यद्यपि राम-कृष्णादिके शरीरसे साधुओंको सुख और दुष्टोंको दुःख उत्पन्न होता है। जो शरीर जिसके सुख-दुःखका हेतु होता है वह शरीर उसके पुण्य-पापसे जन्य माना जाता है यह न्याय है। इस न्यायसे राम-कृष्णादिके शरीर साधुओंके सुखके हेतु होनेसे उनके पुण्य-पुञ्जके फल हैं, और असुरादि दुष्टोंके दुःखके हेतु होनेसे उनके पापके फल हैं। इस प्रकार अवतार पुरुषोंके शरीर भी पुण्य-पापके अधीन हैं यह कह सकते हैं, किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है।

यहाँ यह विशेषता है कि जीवके द्वारा पूर्व शरीरमें किये हुए पुण्य-पापका फल उसी जीवको उत्तर शरीरमें सुख-दुःखादि

रूप होता है। अतः शरीराभिमानी जीवको पूर्वजन्ममें अपने ही किये पुण्य-पापके अधीन उत्तर शरीर कहा गया है। राम-कृष्णादि अवतार पुरुषोंके शरीर साधु-असाधु जनके सुख-दुःखके हेतु होनेसे साधु-असाधु जनकृत पुण्य-पापके ही अधीन हैं, राम-कृष्णादिके पुण्य-पापके अधीन नहीं हैं। इसीलिये राम-कृष्णादिके शरीरसे सुख-दुःखभोग भी नहीं है। अतः राम-कृष्णादिके शरीर उनके पुण्य-पापके अधीन नहीं हैं—यह सिद्ध है।

और भी बात है कि राम-कृष्णादि अवतार पुरुषोंके शरीर पञ्चभूतके परिणाम नहीं हैं, किन्तु चैतन्याश्रित मायाके परिणाम हैं। पञ्चीकृत भूतोंका परिणाम माननेपर कृष्णका शरीर रज्जुकृत बन्धनका विषय नहीं हुआ—यह भागवतादिका वर्णन असंगत होगा। यद्यपि पञ्चभूतके कार्य योगियोंके शरीर भी बन्धनके विषय नहीं होते यह देखा जाता है। तथापि योगियोंका शरीर प्रथम बन्धनका विषय रहता है, पश्चात् योगकी महिमासे बन्धनका अविषय होता है। कृष्णादिका शरीर योगीके शरीरके समान योगकी महिमासे बन्धका अविषय नहीं है, किन्तु स्वभावतः ही बन्धका विषय नहीं है। अतः अवतार पुरुषका शरीर पञ्चभूतका परिणाम नहीं है। भगवत्पादकृत माण्डूक्योपनिषद्-भाष्यकी टीकामें श्रीआनन्दगिरि स्वामीने रामादिके शरीरको पञ्चभूतका परिणाम कहा है वह भी स्थूल दृष्टिसे इतर शरीरके समान ही प्रतीत होता है इस अभिप्रायसे कहा है। क्योंकि भगवत्पादने गीता-भाष्यके उपक्रममें कहा है कि—**"स च भगवान् स्वां मायां वशीकृत्याजोऽव्ययोऽपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन्निव लक्ष्यते"** इति, **"जगतः स्थिति**

परिपिपालयिषुः स आदिकर्त्ता विष्णुर्देवक्यां वसुदेवादंशेन कृष्णः किल सम्बभूव" इति च। यहाँ कृष्णके शरीरको माया-का कार्य वर्णन किया है। अतः भूतोंसे अवतारका शरीर नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु उसका उपादान कारण साक्षात् माया ही है।

इतर जीवोंको देहमें 'अहं' यह भ्रान्ति है, राम-कृष्णादिको यह भ्रान्ति नहीं है। जीवकी उपाधिभूत 'अविद्या' मलिन-सत्त्वयुक्त है, राम-कृष्णादिकी उपाधिभूत 'माया' शुद्धसत्त्व-युक्त है। अतः जीवको अविद्याका कार्यभूत भ्रान्ति है, राम-कृष्णादिको मायाका कार्यभूत सर्वज्ञत्वादि है। जीवोंके अज्ञान-कृत आवरण और भ्रान्तिको दूर करनेके लिये आचार्यके उपदेश-जन्य ज्ञानकी अपेक्षा होती है। राम-कृष्णादिको आवरण और भ्रान्तिका अभाव होनेसे उपदेशजन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। तथापि जीवके अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञानके समान ईश्वरको मायावृत्तिरूप आत्मज्ञान उपदेशके विना ही होता है, किन्तु उस ज्ञानसे ईश्वरका कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

क्योंकि जीवको घटादि ज्ञानसे आवरण-भङ्ग एवं घटादि विषयका प्रकाशरूप फल सिद्ध होता है। जीवको 'अहं ब्रह्म' यह ब्रह्मात्माकार आत्मज्ञान उदय होनेपर तो तादृश ज्ञानके विषयीभूत आत्माका आवरणमात्र भङ्ग होता है। आत्मरूप विषय तो स्वयं प्रकाशित होता है। अतः आत्मज्ञानसे विषय प्रकाशित नहीं होता हैं।

इसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' मायाकी वृत्तिरूप ज्ञानका विषय ईश्वरात्मा आवरणरहित स्वयंप्रकाशस्वरूप ही है। अतः

आवरण-भङ्ग अथवा विषयरूप प्रकाशसे ईश्वरका कोई प्रयोजन नहीं है। यथा जीवन्मुक्त विद्वान्के आवरणरहित आत्माको विषय करनेवाली अन्तःकरणकी 'अहं ब्रह्मास्मि' यह वृत्ति आवरण-भङ्गादि प्रयोजनशून्य ही होती है; उसी प्रकार ईश्वर-को भी आवरणादि प्रयोजनशून्य मायाकी वृत्तिरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान उपदेशादि साधनके विना ही होता है।

इस प्रकार राम-कृष्णादिकी अन्य जीवोंसे विलक्षणता तथा ईश्वरत्व सिद्ध होता है। तथापि उनका शरीर मायाका कार्य है; अतः वह ब्रह्मस्वरूप नहीं है किन्तु मिथ्या है। मायाके कार्यभूत अवतार पुरुषोंके शरीर, कर-चरणादि अवयवयुक्त एवं रूपसहित कहे गये हैं। अतः उनके शरीर नेत्र-इन्द्रियके विषय होते हैं, परन्तु नेत्रेन्द्रिय ब्रह्मको विषय नहीं करता है।

त्वग् इन्द्रियका विषय भी ब्रह्म नहीं है। त्वगिन्द्रिय स्पर्श एवं उसके आश्रय द्रव्यको विषय करता है। ब्रह्म न स्पर्शरूप है और न स्पर्शका आश्रय है। अतः त्वगिन्द्रिय ब्रह्मको विषय नहीं करता है।

रसना (जिह्वा), घ्राण और श्रोत्रेन्द्रियका विषय भी ब्रह्म नहीं है। रसना इन्द्रियसे रसका ज्ञान, घ्राणेन्द्रियसे गन्धका ज्ञान और श्रोत्रेन्द्रियसे शब्दका ज्ञान होता है। रस, गन्ध और शब्दसे विलक्षण ब्रह्म है। अतः रसना, घ्राण और श्रोत्रेन्द्रियसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है। "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा-रसं नित्यमगन्धवच्च यत्।" "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।" इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मको इन्द्रियोंका अविषय बोधन कराती हैं।

ईश्वरात्मा-आवरणरहित स्वयंप्रकाशस्वरूप ही है। अतः

इन्द्रियोंका अविषय बोधन कराती हैं।

कर्मेन्द्रियोंका भी विषय ब्रह्म नहीं है। कर्मेन्द्रिय ज्ञानके साधन नहीं हैं किन्तु वचनादि क्रियाके साधन हैं। इसलिये कर्मेन्द्रियोंसे कोई ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार किसी इन्द्रियके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है। और इन्द्रियजन्य ज्ञानको ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं तथा उसीको अपरोक्ष ज्ञान भी कहते हैं। अतः ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। शब्दसे यद्यपि ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि शाब्द ज्ञान परोक्ष होनेसे शब्दजन्य ब्रह्मज्ञान परोक्ष ज्ञान ही होगा।

पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर

सुख-दुःखादि साक्षिभास्य होनेसे इन्द्रिय-सम्बन्धके विना प्रत्यक्ष नहीं होते, यह नियम नहीं है—

इंद्रिय बिन प्रत्यक्ष नहिं, सिप यह नियम न जान।
बिन इंद्रिय प्रत्यक्ष है, जैसे सुखदुःख ज्ञान॥

इन्द्रियसम्वन्धके विना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, यह नियम नहीं है। सुख-दुःखका ज्ञान किसी इन्द्रियसे नहीं होता है, तथापि सुख-दुःखका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इसलिये इन्द्रियसम्वन्ध-जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है यह नियम नहीं है। किन्तु जब विषयके सम्बन्धसे वृत्ति विषयाकार होती है तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है यह कहा जाता है। विषयसे वृत्तिका सम्बन्ध कहीं इन्द्रियद्वारा होता है और कहीं शब्दसे भी होता है। 'दशमस्त्वमसि' इसमें शब्दसे उत्पन्न अन्तःकरणवृत्ति दशम जो स्वात्मा है उससे सम्बद्ध होकर दशमाकार होती है। अतः शब्दजन्य दशमज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही है।

उसी प्रकार प्रमातामें सुख-दुःखादि-भान-कालमें अन्तःकरणवृत्ति सुखाकार-दुःखाकार होती है। उस वृत्तिसे सुख-दुःखका सम्बन्ध होता है। अतः सुख-दुःखका ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है।

पूर्वोत्पन्न सुख-दुःखादिका नाश होनेपर जो पुरुषको सुख-दुःखादिका ज्ञान होता है, उस कालमें वृत्ति तो सुख-दुःखाकार होती है। किन्तु वृत्तिके नष्ट होनेसे सुख-दुःखका सम्बन्ध नहीं होता है, अतः उस ज्ञानका नाम स्मृतिज्ञान है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं।

["विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येनाभेद एव प्रत्यक्षज्ञानलक्षणम्", विषयावच्छिन्न चैतन्यके वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे अभेदका नाम प्रत्यक्ष ज्ञान है। वह अभेद कहीं इन्द्रिय-द्वारा होता है और कहीं शब्दसे भी होता है। कहीं इन्द्रियादि रूप बाह्य निमित्तके विना भी शरीरके भीतर उत्पन्न वृत्तिसे होता है। उसको भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहते हैं।

चैतन्यमें स्वरूपसे कोई भेद नहीं है। किन्तु विषय और वृत्तिरूप दो उपाधिके भेदसे भेद होता है। दोनों उपाधियोंके भिन्न देशमें होनेसे उपाधिविशिष्ट चैतन्यमें भेदका व्यवहार होता है। वृत्तिके विषयाकार-कालमें दोनों उपाधि एक देशमें होते हैं। तब एक देशस्थ उपाधिसहित विषयचैतन्य एवं वृत्ति-चैतन्यमें अभेद व्यवहार होता है। इस प्रकार होनेवाला विषय-चैतन्य और वृत्तिचैतन्यका अभेद ही प्रत्यक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान और साक्षात्कार शब्दसे कहा जाता है। —

यह प्रत्यक्ष ज्ञानका लक्षण १. इन्द्रियजन्य बाह्य घटादिके प्रत्यक्ष ज्ञानमें, २. महावाक्यजन्य ब्रह्मके प्रत्यक्ष ज्ञानमें, ३. बाह्य निमित्तके विना अन्तरमें उत्पन्न सुख-दुःखके प्रत्यक्ष ज्ञानमें, ४. मायावृत्तिरूप ईश्वरके ज्ञानमें, ५. अविद्यावृत्ति रज्जु-सर्पादिके ज्ञानमें अनुगत होता है।.]

यद्यपि अन्तःकरणके धर्म सुख-दुःखादि हैं एवं साक्षिभास्य हैं, तथापि सुखाकार-दुःखाकार अन्तःकरणकी वृत्तिद्वारा ही साक्षी सुख-दुःखादिको प्रकाश करता है। शुक्तिरजत भी साक्षिभास्य ही है। यहाँ भी साक्षी अविद्यावृत्तिकी अपेक्षासे ही रजतको प्रकाश करता है। परन्तु सुख-दुःखादिके प्रकाशनमें अन्तःकरणकी वृत्ति साक्षीके सहायभूत है। इस प्रकार साक्षिभास्य पदार्थके ज्ञानमें भी वृत्ति आवश्यक है। वह वृत्ति जहाँ इन्द्रियादि बाह्य साधनजन्य होती है वहाँ उस वृत्तिके विषयको साक्षिभास्य कहते हैं। सुख-दुःखादिविषयक वृत्तिमें बाह्य इन्द्रियाँ कारण नहीं हैं। किन्तु सुख-दुःखके उत्पत्ति-कालमें साधनान्तरकी अपेक्षा विना ही सुखाकार-दुःखाकार अन्तःकरणकी वृत्ति हो जाती है। उस वृत्तिमें आरूढ़ साक्षी सुख-दुःखादिको प्रकाशित कर देता है। अतः सुख-दुःखादि साक्षिभास्य कहलाते हैं।

[सुख-दुःखादि बुद्धिके ही धर्म हैं आत्माके धर्म नहीं हैं। अतएव बुद्धिके रहनेपर ही जाग्रत् और स्वप्नमें प्रतीत होते हैं। सुषुप्तिमें बुद्धिके अभावमें सुख-दुःखादि प्रतीत नहीं होते हैं। कहा भी है—

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्‍बुद्धेस्तु नात्मनः॥]

ब्रह्मज्ञानकी प्रत्यक्षता; और तत्त्वदृष्टिके भेद-भ्रमकी निवृत्ति—

बाह्य घटादिके साथ अन्तःकरणवृत्तिका नेत्र इन्द्रियद्वारा सम्बन्ध होता है, अतः घटादि साक्षिभास्य नहीं हैं। अन्तःकरणकी वृत्ति जब ब्रह्माकार होती है तब वह वृत्ति बाहर नहीं जाती है, किन्तु शरीरके भीतर ही रहती है। उस वृत्तिसे ब्रह्मका सम्बन्ध होता है। अतः ब्रह्मज्ञान भी सुख-दुःखादिके समान प्रत्यक्ष होता है। परन्तु सुखाकार-दुःखाकार वृत्तिमें बाह्य साधनकी अपेक्षा नहीं है। इसलिये सुख-दुःखादि साक्षिभास्य हैं। ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्तिमें गुरुमुखश्रुत वेदान्तवाक्यके श्रोत्रेन्द्रिय-सम्बन्धरूप बाह्य साधनकी अपेक्षा है। अतः ब्रह्म साक्षिभास्य नहीं होता। इस प्रकार जहाँ विषयके साथ वृत्तिका सम्बन्ध होता है वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिका ब्रह्मसे सम्बन्ध होता है अतः ब्रह्मज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

[१. "चक्षोः सूर्योऽजायत" "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्" इत्यादि प्रमाणसे सूर्य और चक्षुमें अभेद है। अङ्गुलि आदि रूप अल्प आवरणसे आच्छादित होनेपर ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्ती सूर्यका प्रकाश नहीं होता है। आवरण निवृत्त होनेपर चक्षुगत अन्तःकरणकी वृत्तिसे सूर्यका प्रकाश दीखने लगता है। इसी प्रकार साक्षीरूप आत्मामें ब्रह्मसे अभेद है। उसके अन्तःकरणगत अज्ञानांशरूप स्वल्पावरणसे आच्छादित होनेपर

भी है—

अन्तःकरणगत अज्ञानांशरूप स्वरूपावरणसे आच्छादित होनेपर

सर्वत्र परिपूर्ण भी ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं दीख पड़ता है। जब शरीरान्तर्गत जायमान ब्रह्मात्माकी अभेदाकार वृत्तिसे पूर्वोक्त आवरण-भङ्ग हो जाता है, तब गृहान्तर्गत आकाशके असंगत्वादि ज्ञानसे महाकाशके असंगत्वादि ज्ञानके समान सर्वत्र परिपूर्ण स्वप्रकाशरूपसे ब्रह्मका भान होने लगता है।

२. जैसे ब्रह्म साक्षिभास्य नहीं है इसी प्रकार चिदाभास-सहित अन्तःकरणकी वृत्तिरूप प्रमाता भी विषय नहीं होता है। जैसे दीपान्तरके विना केवल नेत्रका विषय दीपक होता है, उसी प्रकार ब्रह्म केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ब्रह्माकारा-कारित वृत्तिका ही विषय होता है। अतः ब्रह्म प्रमाताभास्य नहीं है। किन्तु स्वप्रकाश, अन्य प्रकाशकी अपेक्षासे रहित सर्वावभासक स्वयंप्रकाशरूप ही ब्रह्म है। 'मलेन मलं हन्यात्' इस न्यायसे वृत्ति ब्रह्मके आवरणको ही भङ्ग करती है। वृत्तिके द्वारा आवरण-भङ्गको ही 'वृत्तिसे ब्रह्म विषय किया जाता है' यह कहते हैं। प्रकारान्तरसे वृत्तिके द्वारा ब्रह्म-को विषय करना सम्भव नहीं होता। साक्षी बाह्य साधनकी अपेक्षा किये विना ही 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिरूप तत्त्वज्ञान-को प्रकाश करता है। इसीलिये तत्त्वज्ञान साक्षिभास्य है ऐसा कहते हैं।]

जैसे धूमके दर्शनसे वह्निका ज्ञान होता है वहाँ धूमका ज्ञान प्रत्यक्ष है, किन्तु वह्निज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। चक्षुके द्वारा निकली हुई अन्तःकरणवृत्तिका धूमसे सम्बन्ध है, अतः धूम-ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। लिङ्गज्ञानरूप अनुमान प्रमाण-

जन्य अन्तःकरणकी वृत्ति शरीरके भीतर ही वह्निके आकारकी होती है। वह्निसे वृत्तिका सम्बन्ध नहीं होता, अतः वह्निज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है।

इस प्रकार जहाँ वृत्तिके साथ विषयका सम्बन्ध होता है वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जहाँ वृत्तिसे विषयका सम्बन्ध नहीं होता वहाँ परोक्ष ज्ञान होता है। जहाँ विषय देशान्तरमें हो, नष्ट अथवा भावी हो वहाँ अनुमानसे अथवा शब्दसे विषयाकार वृत्ति शरीरके भीतर ही होती है, उसका नाम परोक्ष ज्ञान है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान है यह नियम नहीं है। सुख-दुःखादि ज्ञान इन्द्रियसे अजन्य ही प्रत्यक्ष होता है। 'दशमस्त्वमसि' यहाँ दशम पुरुषका ज्ञान शब्दजन्य होनेपर भी प्रत्यक्ष ही है। इस न्यायसे श्रीसद्गुरुके मुखसे श्रुत महा-वाक्यरूप वेदशब्दजन्य ब्रह्मज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है।

इस प्रकार श्रीसद्गुरुसे उपदेश श्रवणकर बुद्धिमान् उत्तमा-धिकारी तत्त्वदृष्टिने अपने आत्माको ब्रह्मस्वरूप जानकर भेद-भ्रमका त्याग कर दिया। "अहं ब्रह्मास्मि" यह वृत्तिमें निरा-वरण ब्रह्म भान होता है। तत्त्वदृष्टि बोला—

निरावरणनिर्भासमहं ब्रह्मेति बुद्धवान्।
श्रीसद्गुरोः प्रसादेन ह्यखण्डाकारवृत्तितः॥

[जिसका पूर्व पुण्यके परिपाकवश अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध है, गुरूपदिष्ट महावाक्यरूप शब्दप्रमाणसे सुदृढ़ बोध हो गया है, दृढ़ बोधके अनन्तर संशयादिकी निवृत्तिके लिये श्रवणादि

साधनकी अपेक्षा नहीं है, वही उत्तमाधिकारी है। जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध नहीं है, किन्तु मल-विक्षेपादि दोषयुक्त है, वह मध्यमाधिकारी है अथवा कनिष्ठाधिकारी है। उसको महावाक्यरूप शब्दसे अपरोक्ष ज्ञानोदय होनेपर भी संशयादिकी निवृत्तिके लिये श्रवणादिका अनुष्ठान करना चाहिये।]

॥ श्रीः ॥

पञ्चम अंश

(मध्यम अधिकारियोंके लिये उपदेश)

गुरु और वेदादिकी व्यावहारिक सत्ताका प्रतिपादन

गुरु एवं वेदके द्वारा अद्वैत ज्ञान होना सम्भव नहीं है, यह अदृष्टिका प्रश्न—

श्रीसद्गुरुके द्वारा उपदिष्ट वेदान्तवाक्यसे अद्वैतब्रह्मात्मसाक्षात्कार होता है, यह बात पूर्व अंशमें कही गयी। उसको सुनकर अदृष्टि नामका द्वितीय शिष्य यह शङ्का करता है कि गुरु और वेदान्त सत्य हैं किंवा असत्य हैं। प्रथम पक्षमें अद्वैतकी हानि एवं द्वैतकी सिद्धि होगी। यदि द्वितीय पक्ष मानें तो मिथ्याभूत मरीचिकाके जलसे जैसे पिपासा-निवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार असत्य गुरु-वेदान्त-वाक्यसे भी संसाररूप दुःखकी निवृत्ति और पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार दोनों पक्षोंमें अद्वैत ज्ञान होना सम्भव नहीं होता। शंकराचार्यके द्वारा स्थापित अद्वैत मत अप्रामाणिक है—यह हमारी शङ्का कृपया दूर करें। यह शिष्यका प्रश्न है।

गुरुका उत्तर

अद्वैत शांकर मतकी प्रामाणिकताका वर्णन—शांकर मतकी प्रामाणिकतामें व्यासजीने वायवीय और कूर्मादि पुराणोंमें कहा है कि—

कलौ युगे वेदार्थो वर्ण्यते ह्यन्यथाऽन्यथा।
शंकराचार्यरूपेण शिवः साक्षात्तदा किल॥
अवतीर्यान्यथाभूतं जैनबौद्धादिकं मतम्।
निर्मूलयिष्यत्यखिलं वेदवाक्यैः सयुक्तिभिः॥

निर्मूलयिष्यत्यखिलं वेदवाक्यैः सयुक्तिभिः ॥

उद्धृत्य मूर्तिं (लिङ्गं) गङ्गायाः स्थापयिष्यति वै प्रभोः।
सूर्यालोकेन जगतो ह्यन्धकारविनाशने ॥
यथावस्थितभानं तु पदार्थानां यथा भवेत्।
नाशश्च विपरीताख्यभावनाया यथा भवेत् ॥
सर्वसंशयनाशश्च भगवत्पूज्यपादभृत्।
शंकरोऽपि तथैवेह लोकानुग्रहकाङ्क्षया ॥
वेदार्थविपयाज्ञानं भ्रान्तिसंशयकारणम्।
निश्शेषं नाशयित्वाऽसौ साधयित्वाऽद्वयं परम् ॥
अद्वयब्रह्मविद्यां च स्थापयेदवनीतले।
अन्यथा वर्णयेद् यस्तु वेदार्थं स तु मूढधीः ॥

महाइतिहास, शिवरहस्यके नवमांशमें शांकर मतका ही औपनिषदत्व कहा गया है—

शिवे मदंशसम्भूतः शंकरः शंकरोत्तमः।
चतुर्भिः सह शिष्यैश्च कलाववतरिष्यति ॥
तस्मै चोपनिषद्विद्या मया दत्ता महेश्वरि।
भूमौ पापण्डपण्डानां खण्डनं स करिष्यति ॥

वेदार्थकी सहायतामें ही इतिहास-पुराणोंका उपयोग माना जाता है—

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥

अद्वैत ही प्रामाणिक है इसमें महर्षि वाल्मीकिका भी अभिप्राय स्पष्ट है। अखिल विराट्के द्रष्टा आदिकवि महर्षि वाल्मीकिने उत्तररामायण वासिष्ठ नामक ग्रन्थमें सर्वोपनिषत्के सूत्रभूत माण्डूक्यके अर्थ-प्रकाशनमें प्रधानरूपसे श्रीराम और वसिष्ठके संवादके द्वारा षड्विध लिङ्गोंसे दृष्टान्त-सहित अद्वैत मतका ही निरूपण किया है। उसमें भी अद्वैत मतके सारभूत दृष्टि-सृष्टिवाद, एकजीववाद एवं एकसत्तावादको पुनः-पुनः अत्यन्त आदर-के साथ अनेक इतिहासोंसे सम्यक् प्रकारसे प्रतिपादन किया है। इस प्रकार व्यास, वाल्मीकि आदिके अभिप्रायसे उपनिषद्-भगवद्गीता-ब्रह्मसूत्रात्मक

प्रस्थानत्रयका श्रीमच्छङ्कर भगवत्पादकृतभाष्य ही यथार्थ व्याख्यान सिद्ध होता है। इसलिये सर्वज्ञ व्यास, वाल्मीकि आदिके वचनोंसे विरोधी भेदवाद अप्रामाणिक है। एवं भेदवाद युक्तिसे भी विरुद्ध है—यह श्रीहर्ष मिश्रने खण्डनग्रन्थमें स्पष्ट निरूपण किया है। भेदधिकारादि ग्रन्थमें भी भेदवादको अयुक्त ही दिखाया गया है।

इस प्रकार अनादिसिद्ध श्रुति-तात्पर्यका विषयीभूत होनेसे एवं स्मृति-पुराण और इतिहासोंसे उपबृंहित तथा नारायणादिसद्गुरु सम्प्रदायसे प्राप्त होनेसे शांकर अद्वैत मत ही श्रेष्ठ है। अतः कल्याणार्थीको इसका ही आदर करना चाहिये।

भेदवादका तिरस्कार

जैनादि मतके समान वेदबाह्य होने एवं महर्षियोंके वचनसे विरुद्ध होनेके कारण भेदवाद प्रामाणिक नहीं है। आस्तिकोंको भेदवादके खण्डनमें विशेष युक्तिकी अपेक्षा भी नहीं है। इसीलिये भेदवाद श्रुति-वचनविरुद्ध है इसीको दिखाया जाता है। कठोपनिषद्में भेदवादकी वासना भयकी हेतु है, सर्वदुःखोंकी मूल कारण है, अतः उस भेदवादको दूर करना चाहिये—यह नचिकेताको मृत्युसे उपदेश प्राप्त हुआ है। इसीलिये भेदवासनाको सर्व प्रकारसे मनसे निर्मूलकर उखाड़ फेंकना चाहिये। श्रेयार्थीको निरन्तर अद्वैत-निष्ठाका अभ्यास करना चाहिये। इसमें ये श्रुतियाँ प्रमाण हैं—**"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"** (क० २ । १ । ११) **"द्वितीयाद्वै भयं भवति"** (बृ० १ । ४ । २) **"अन्योऽसावन्यो-ऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्"** (बृ० १ । ४ । १०) **"उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति"** (तै० ७) इति। इनका यह अर्थ है कि त्रिविधपरिच्छेदरहित त्रिविध भेदशून्य प्रत्यगभिन्न परमात्मा-में जो भेद देखता है वह बार-बार संसारमें जन्मता-मरता रहता है। द्वैताभि-निविष्टको सदा भय ही रहता है। चिन्मात्रस्वरूपसे पृथक् ध्येयत्व-ज्ञेयत्वरूपसे अन्य कुछ वस्तु है, यह माननेवाला पशुप्राय ही है। अणुमात्र भी भेद देखने-

वालेको महान् भय होता है। दुःखका कारण भेदवाद ही है अतः श्रेयार्थीको सदा उसका विस्मरण ही करना चाहिये। द्वैतवचन जबतक स्मरण होते रहेंगे तबतक अद्वैतसाक्षात्कार नहीं हो सकता। यह अदृष्टि नामक शिष्यको गुरुने उपदेश किया।

दृष्टान्तरूपसे एक राजा और अमात्य भच्छुंकी कथा

भच्छुंका अपने अधिकारसे भ्रंश हो जाना

हे सोम्य! द्वैत वचनोंका स्मरण दृढतर प्राचीन अद्वैतानुभवसंस्कारजन्य अत्यन्त दृढ भी अद्वैत स्मृतिमें प्रतिबन्ध कर देता है और तत्त्वसाक्षात्कार-को दूर कर देता है। इसका उपपादन करनेके लिये 'भच्छुंकी कथा' कहता हूँ—यह कहकर गुरु शिष्यके प्रति कथा कहते हैं।

किसी राजाके भच्छुं नामका एक प्रधान मन्त्री था। उसने समस्त राज्य-कार्योंको अपने अधीन कर लिया था। उसके इस प्रभावको देखकर इतर राजोपजीविगण भच्छुंसे ईर्ष्या करने लगे। तथापि राजाके निरतिशय प्रेमके आस्पदभूत भच्छुंका कोई अपकार करनेमें समर्थ नहीं हुए। तब एक बार सबने आपसमें सम्मति करके भच्छुंको निकालनेके लिये राष्ट्रमें लुटेरोंको प्रेरणा की। उनकी प्रेरणासे लुटेरे प्रजाको जहाँ-तहाँ लूटने लगे। राष्ट्रमें लुटेरोंके द्वारा सहसा प्राप्त उपप्लवको सुनकर राजाने एक सम्मेलन बुलाया तथा सम्मेलन-में मुख्य अधिकारियोंको लुटेरोंका विद्रावण करनेके लिये जगह-जगह नियुक्त किया। तब वे सब मिलकर राजासे बोले, 'हे प्रभो! आप सदा भच्छुंकी प्रशंसा करते हैं और आपत्तिकालमें हमलोगोंको नियुक्त करते हैं। क्या यह भच्छुं इस समय इस काममें नहीं लगाया जा सकता।' इस बातको सुनकर भच्छुं साञ्जलि राजासे बोला—'राजन्! यदि आज्ञा हो तो इसी समय जाकर शत्रुओंको जीतकर आ जाऊँ।' राजाने भच्छुंको आज्ञा देते हुए कहा—'ऐसा ही करो।' भच्छुंने भी उसी क्षण अपने कौशलसे शत्रुओंको मार भगाया और राज्यमें समस्त अन्नादिकी रक्षाका प्रबन्ध करके प्रजाओंमें शान्ति स्थापित कर दी। भच्छुंके इस विजयको सुनकर इतर राजकर्मचारियोंने 'युद्धमें भच्छुं

मारा गया' यह राजासे निवेदन कर दिया। विवेकविकल राजाने उनके मिथ्याभूत वचनोंमें विश्वास करके भच्छुंके स्थानमें उन्हींमेंसे एकको नियुक्त कर दिया। नवीन मन्त्री 'भच्छुं इस राष्ट्रमें न आने पाये एवं राजाको स्वप्नमें भी उसका स्मरण न हो' इसके लिये सैकड़ों उपाय करने लगा।

भच्छुंका संन्यास—इन सब बातोंको जानकर भच्छुं विचार करने लगा—'इस समय मेरा राजाके समीप जाना उचित नहीं है। जो नीरोग, दृढ शरीर और अविकल इन्द्रियोंसे सम्पन्न मैंने सर्व भोगोपकरणसे युक्त रम्य अटारियोंमें लावण्यावधीरित कामिनी अप्सराओंसे अनवरत रमण करते हुए तथा दिव्य भोगोंको भोगते हुए इतना काल बिताया, उस मुझको इस समय मरणान्त विपत्ति आ पड़ी है। मुझ मूर्खको धिक्कार है! इतने कालतक नाशवान् भोगोंमें मैं निमग्न रहा। मुझसे अधिक अन्य मूर्ख कौन होगा! एकान्तमें स्थित होकर जिनसे मोहित होकर मैं इतने काल श्रेय-मार्गसे दूर रहा, उन स्त्रियोंका प्रत्येक अङ्ग अशोभन एवं अत्यन्त निन्दित है; इस प्रकार दारा, अपत्य, धनादि सब दुःखके कारण हैं। यह बार-बार विचार करके भोगोंसे विरत होकर वह तपस्वी हो गया।

भच्छुंका वैराग्य

पराधीनतापूर्ण सेवा ही दुःखका कारण है, एकान्त ही सुख है—नाना प्रकारके विचित्र रसोंसे युक्त, घृतसे लथपथ ओदन, शाक, दधि, घृतमिश्रित पायस, अपूप आदि अनेक प्रकारके अन्न-पानादिसे भी कभी तृप्त न होनेवाली इस जिह्वाको तृप्त करनेमें मैंने इतना काल व्यर्थ बिताया। इसके आगे अब इस जिह्वाके पोषणमें नहीं लगूँगा। क्षुधा शमन करनेके लिये वनोंमें विविध प्रकारके कन्द, मूल, शाक और फल क्या नहीं हैं? पिपासा निवृत्त करनेके लिये निर्मल सरित-तडाक क्या नहीं हैं? निवास करनेके लिये हर्म्यसे भी अति सुन्दर वात, आतप और वर्षासे रहित क्या गुहा (कन्दरा) नहीं है? प्रादेशमात्र इस उदरकी पूर्ति करनेके लिये श्ववृत्ति-रूप राजसेवासे क्या लाभ है? मेरे लिये अब इस वनमें यह पृथिवी ही

शय्या, बाहु ही उपबर्हण एवं कन्द-मूल-फल आहार, निर्मल जल और अञ्जलि ही पानपात्र होगा। भागवतमें कहा भी है—

> "सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
> र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
> सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
> दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥
> चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
> नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
> रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
> कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥"
> (२।२।४-५)

इस प्रकार विचार करते हुए उसने विषयभोगोंमें अनेक दोषोंको देखकर 'एकान्त स्थिति ही परमानन्दकी प्रकाशक है' यह निश्चय किया। एकान्तमें स्थित होकर 'स्त्री-पुत्र-धनादि दुःखका कारण है और एकान्त ही सुखका हेतु है'—यों मच्छुने जो निश्चय किया उसका विस्तृत वर्णन किया जाता है।

एकान्तसेवीको ही सार्वभौमादिसे ब्रह्मपर्यन्त आनन्दका लाभ होता है। समुद्रपर्यन्त समस्त वसुधाका आधिपत्य एवं अप्रतिहत पराक्रम हो तथा सकल मन्त्रिगण नतमस्तक हों, नवयौवन अवस्था हो, सर्वविद्याविशारद हो और समस्त परिवार अनुकूल हों—ऐसे सार्वभौम राजाके आनन्दका नाम मानुषानन्द है। यह आनन्द भी सातिशय ही है, क्योंकि इस मानुषानन्दसे शतगुण आनन्द मनुष्यगन्धर्वको होता है। [मनुष्य शरीरसे पुण्यविशेषके कारण जो गन्धर्वत्वकी प्राप्ति होती है, उसका नाम मनुष्यगन्धर्व है।] उससे भी शतगुणाधिक आनन्द देवगन्धर्वको होता है। उससे भी शतगुणाधिक आनन्द पितरोंको होता है। उससे शतगुणाधिक आनन्द आजानदेवको होता है। उससे भी शतगुण आनन्द कर्मदेवको होता है। [कल्पके आरम्भमें ही जो देवत्वको प्राप्त हैं वे आजानदेव कहलाते हैं। इस कल्पमें अश्वमेधादि पुण्यकर्मसे कल्पान्तरमें जो देवत्वको प्राप्त होते हैं उनका नाम कर्मदेव है।] उससे शतगुणाधिक आनन्द मुख्य देवताओंको है। [यम, अग्नि, वायु, सूर्य और चन्द्रादि मुख्य देवता हैं। कोई यमादि हिरण्यगर्भपर्यन्त देवोंको—आठ वसु, द्वादशादित्य और एकादशरुद्र—इन इकतीस देवोंको मुख्य देवता कहते हैं।] उससे भी शतगुणाधिक आनन्द इन्द्रको होता है। इन्द्रसे शतगुणाधिक आनन्द बृहस्पतिको, उससे भी शतगुणाधिक आनन्द प्रजापतिको होता है। उससे शतगुण आनन्द हिरण्यगर्भ ब्रह्माको होता है। ब्रह्मानन्द तो त्रिविधपरिच्छेदशून्य तारतम्यरहित निरतिशय है, जिसमें दुःखका लेश भी नहीं है। इस प्रकार प्रातव्य आनन्दका क्रम तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मवल्लीके अष्टमानुवाकमें वर्णन किया गया है। सार्वभौमादि ब्रह्मपर्यन्त आनन्द एकान्तवासी अकामहत श्रोत्रियको निरन्तर अनुभव होता है। अतः एकान्तमें ही सुख है। दारा-अपत्य-धनादिका सङ्ग तो सदा दुःखप्रद ही होता है। मच्छुने यह निश्चय किया।

स्त्री-संगसे होनेवाले दुःखका वर्णन

स्त्री-संग दुःखका कारण है। जिसको पूर्व पापसे कुरूपिणी और दुर्भाषिणी स्त्री प्राप्त है, उसका हृदय तो सदा दुःखसे आक्रान्त ही रहता है। विरक्त हृदयसे वह यह मानता है कि स्त्रीरूप यह पिण्ड मूत्र-पुरीष आदि अनेक अपवित्र पदार्थोंसे पूर्ण भाण्ड है। हे भगवन्! यह मेरे किस पापका फल, शिक्षणके लिये मुझे दिया है। जैसे महिषको महिषीमें, पिशाचको पिशाचीमें, उष्ट्रको उष्ट्रीमें, गर्दभको गर्दभीमें मोह होता है, वैसे ही मनुष्यको भी तिर्यगादिकी तरह सर्व अशुचिके कारणरूप स्त्रीमें मोह होता है। वैराग्यके बिना व्यभिचारादि दोषरहित स्त्रीको त्यागना भी महादोष है। ये मेरी स्त्रीके कुत्सित रूप और दुर्भाषण आदि मेरे पूर्व कर्मोंके अनुसार ही प्राप्त हुए हैं। कुरूपिणी स्त्रीका पति इस प्रकार अहर्निश क्लेशका ही अनुभव करता रहता है।

यदि पत्नी रूपवती और मधुरभाषिणी हुई, तब वह कुरूपिणीसे भी अधिक दुःखका कारण होती है। काञ्चन प्रतिमाके समान कान्ता, भार्या

प्रेमसे पतिको अपने वशमें करके कामपरायण और धर्मादि अनुष्ठानसे पराङ्मुख कर परम पुरुषार्थका अभागी ही बना देती है।

स्त्री-संगसे धनका नाश—स्त्रीपरायण कामी पुरुष स्त्रीके विष-संश्लिष्ट मधुके समान आपात मधुरालापको सुनकर व्यामुग्ध कामान्ध स्वप्नमें भी उसीका स्मरण करता हुआ निरुद्यम—धनार्जन करनेमें भी असमर्थ हो जाता है। गृहमें अथवा बाहर जो भी धन, आभरण, वस्त्रादि प्राप्त करता है वह सब भक्तिपूर्वक इष्टदेवरूप भार्याको ही समर्पण करता रहता है। सन्मार्गप्रदर्शक माता, पिता और गुरुको तो मनसे भी स्मरण नहीं करता है। स्त्रीरूप किसान पतिरूप बैलको स्नेहरूप दृढ़ नाथसे ऐसा नाथता है कि छुड़ानेसे भी नहीं छूटता, नाथ पकड़कर वह उसे अपने इच्छानुकूल इतस्ततः घुमाया करता है।

स्त्री-संगसे धर्मका नाश—पञ्जरबद्ध शुक जैसे विना विवेकके शुभाशुभ वचन बोलता है, ठीक उसी प्रकार कामी पुरुष धर्माधर्म न जानकर अपनी कान्ताके उपदेशके अनुसार माता-पिता आदिको भी आक्षेप करता है। जैसे मोर मोरिनीके सामने अनेक प्रकारके केकालाप-पूर्वक ताण्डव करता हुआ मोरिनीको प्रसन्न करता है, उसी प्रकार कामातुर कामिनीके वचनको उल्लङ्घन न करके नाना वेष धारण करके नृत्यके द्वारा उसको प्रसन्न करता है। कामी विवेकरहित हो धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है। जैसे मद्यपी मद्यकी दुर्गन्धको नहीं मानता हुआ भ्रान्त मार्गोंमें नष्टसंज्ञ होकर घूमता है, उसी प्रकार कामान्ध स्त्री-पुरुष विवसन होकर अत्यन्त अमङ्गल अपवित्र मलिन देहको परस्पर आलिङ्गन करके निर्लज्ज होकर लोटते रहते हैं। कामका मद संस्कृत बुद्धिमान्—विवेकी मनुष्यकी बुद्धिको भी क्षणमात्रमें मलिन कर देता है। इसीलिये शास्त्रज्ञ भी काम-परवश स्त्री-पुरुष स्वकीया-परकीया, गम्यागम्यादि व्यवस्थाके विना धर्माधर्म-विवेकसे विकल हो परस्पर रमण करते हैं। इस प्रकार कामपरवशता पुरुष अथवा स्त्रीको धर्माधर्म-विवेकसे गिराकर अनेकानर्थप्रद अशुभ कर्मोंको

करा देती है। इसी कारण विवेकी मुनिजन स्त्री आदि विषयोंसे विरक्त होकर एकान्तमें ही रमण करते हैं।

स्त्री-संगसे बिन्दुका नाश—प्राणियोंसे प्रतिदिन भुक्त अन्न-पानादि-के रसका परिणाम ही बिन्दु है। वही रेत है, उसीका नाम चरम धातु भी है। वही प्राणीका जीवन है। विवेकी पुरुष वृथा बिन्दुक्षय न करके महान् श्रेय प्राप्त करते हैं। सम्यक् संरक्षित बिन्दु प्राणीके ओज, तेज, वीर्य और बलको बढ़ाता है। जिसने बिन्दुका संरक्षण किया, उसका देह रोग, जरा आदिसे अनभिभूत पुष्टि और कान्तिसे शोभायमान रहता है। उसकी इन्द्रियाँ पटुतर और वशीकृत होती हैं। मन भी शोक-मोहसे रहित, सदा प्रसन्न, एकाग्र और अन्तर्मुख होता है। जैसे तेलसे दीप प्रकाशित रहता है, उसी प्रकार बिन्दु-संरक्षणसे मनुष्य ओज, तेज और बलसे प्रकाशित रहता है। जो जितेन्द्रिय है, जिसका बिन्दु स्वप्नमें भी स्खलित नहीं होता, वह बलवान् एवं नीरोग रहकर प्रसन्न मनसे शुभ कर्मोंका आचरण करता हुआ क्रमसे आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्तकर जन्म-मरणरूप संसारभयसे छूट जाता है। योगी तथा सिद्ध महात्मा बिन्दु-संरक्षणके बलसे ही खेचरी मुद्राके अभ्यासद्वारा अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्तकर ऊर्ध्वरेता हो जाते हैं।

> [कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
> भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥
> न पीड्यते स रोगेण न च लिप्येत कर्मणा।
> बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥
> चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
> तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निषेविता॥
> यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः।
> यावद्बद्धा च सा मुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति॥]

बिन्दुक्षय ही सब अनर्थोंका कारण है। स्त्री बिन्दुक्षयका कारण है। जैसे गुड़ चाहनेवाला मनुष्य इक्षुदण्डका यन्त्रसे रस निकालकर रस ले

अथवा स्त्रीको धर्माधर्म-विवेकसे गिराकर अनेकानर्थप्रद अशुभ कर्मोंको

बिन्दुक्षय ही सब अनर्थोंका कारण है। स्त्री बिन्दुक्षयका कारण है। जैसे गुड़ चाहनेवाला मनुष्य इक्षुदण्डका यन्त्रसे रस निकालकर रस ले

लेता है और निःसार इक्षुको दूर फेंक देता है। उसी प्रकार रति चाहने-वाली स्त्रियाँ कामातुर पुरुषोंको अपनी भुजाओंसे आलिङ्गन (निष्पीड़न) कर उनके अङ्गसे निःसृत वीर्यको लेकर क्षीणवीर्य पुरुषको त्याग देती हैं। कामपरवश मूढ़ सर्वोत्तम इस बिन्दुको क्षणमात्र सुखलवलेशकी लिप्सासे मत्त अङ्गनाओंसे लिपटकर क्रमसे क्षीणबिन्दु होकर थोड़े ही दिनमें देह, इन्द्रिय और मनोबलसे रहित, दुर्बल, निस्तेज तथा नाना प्रकारके रोगोंसे अभिभूत हो जाता है।

निर्वीर्य पुरुष स्त्रियोंसे अत्यन्त तिरस्कृत होते रहते हैं। तथापि कामान्ध पुरुष रमण करनेकी इच्छासे उसके पीछे दौड़ता रहता है। वह स्त्री उसको तृणके समान भी नहीं मानती है। मदयुक्त दृष्टिवाली कामिनी विवेकी, पण्डित और धीर पुरुषको भी क्षणमात्रमें कटाक्ष-विशिखसे अपने वशमें कर लेती है। काममोहित पुरुष प्रज्ञाविहीन, कार्याकार्यके विवेकमें विकल हो श्रेयोमार्गसे च्युत हो जाता है। सर्वथा स्त्रियोंका संग धर्मादि समस्त पुरुषार्थके विनाशका कारण होता है। जिसको जन्मान्तरीय सुकृतके फलसे विवेक उदय होता है, वह दोषयुक्त क्षणिक सुखलवकारणीभूत स्त्री आदि विषयोंसे विमुख होकर कान्ता-कटाक्षरूप विशिखानलसे दग्ध अपनी आत्माको गुरु-कृपा-कटाक्षरूप अमृत-रससे तृप्त करता है। गुरुके अनुग्रहसे क्रमशः आत्मतत्त्व साक्षात् करके नित्य निरतिशय अखण्ड आत्मानन्दका अनुभव करता है तथा दुरन्त संसारके दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

पुत्रके संगसे होनेवाले दुःखका वर्णन

जैसे भार्या दुःखका कारण है वैसे पुत्र भी दुःखका हेतु है। अनुत्पन्न पुत्रके अभावमें तो वह एक ही दुःख होता है, किन्तु पुत्र उत्पन्न होनेपर नाना प्रकारके दुःख होते हैं। यथा—स्त्री जबतक गर्भ धारण नहीं करती, तबतक पति-पत्नीको रात-दिन उसीकी चिन्तासे दुःख होता है। दैववशात् गर्भ धारण हो गया, तब निर्विघ्न प्रसवकी चिन्ता, पुत्र होगा या कन्या इसकी चिन्ता, गर्भपात न हो जाय इसका डर, पूर्ण दशमासके पहिले

प्रसव न हो जाय इसका भय एवं पूर्ण दशमासके प्रसवकालमें माताके जीवनकी भी चिन्ता है। बच्चा होनेपर बालारिष्टादिसे जीवनकी चिन्ता है। ग्रहोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता सुनकर पति-पत्नीको अहोरात्र चिन्ता रहती है। पुत्र उत्पन्न होकर यदि स्तन्यपान न करे तब तो दम्पतीके आँसुओंकी झड़ी ही लग जाती है। इस प्रकारकी अनेक चिन्ताओंसे कुछ मास बीत जानेपर जब दन्तोत्पत्ति-कालमें किन्हीं बच्चोंका बालारिष्टवशात् मरण हो जाता है तब तो माता-पिता भारी दुःखका अनुभव करने लगते हैं। रोगादिके कारण यदि बच्चा कृश होने लगा, तब उसके पीडा-निवृत्त्यर्थ चौराहोंपर तरह-तरहके बलिहरण करने लग जाते हैं। बच्चेके सुखके लिये चाण्डाल, पुल्कस, अन्त्यज, म्लेच्छ या अत्यन्तापसद ही क्यों न हो, उससे भी मन्त्र, यन्त्र और ओषधि कराने लगते हैं। पुत्रके लिये अधीर होकर म्लेच्छादिसे आराधित देवताको भी प्रणाम करने लगते हैं। पुत्र-वात्सल्यसे असम्भाष्यसे भी प्रेम करते हैं। अपनी प्रार्थना सुनवाईके लिये भैरवादि अनेक देवोंके उद्देशसे श्मशानमें भी जाकर बलि देने लगते हैं। अपने घरमें डाक (देवविशेष) का भी डमरू बजाकर पूजन करते हैं। क्षुद्र रक्षाबन्धन एवं चित्र-विचित्र यन्त्र शिशुके गलेमें धारण कराते हैं। किन्तु इष्ट परमेश्वर नारायणको स्वप्नमें भी स्मरण नहीं करते, पुत्रके लिये कुलटा स्त्रीके समान अनेकों देवताओंको भजते रहते हैं। मसूरिका (शीतला) निकलनेपर तो माता-पिता व्यर्थ मनको क्लेश देते हुए मङ्गल स्नानादिको भी त्याग देते हैं। शीतलाके शान्त्यर्थ उनके वाहनभूत गर्दभका भी देवबुद्धिसे आराधन-पूजन करते हैं।

इस प्रकार महान् प्रयाससे शिशुका रक्षण करते हुए माता-पिता शिशुके यौवनपर्यन्त दुरन्त चिन्तासे व्याप्त रहते हैं। बाल्यावस्थामें अत्यन्त क्रीड़ामें आसक्त बालकको विद्यामें लगानेमें भी प्रतिदिन माता-पिताको महान् दुःख होता है। पाठशालामें अन्य बालकोंसे लड़ाई करनेपर स्वयं पीटने और दूसरोंसे पिटे जानेसे भी माता-पिताको दुःख ही होता है। बालकमें प्राचीन संस्कारसे विद्या-ग्रहणमें अपाटव अथवा ग्रहणमें पाटव

होनेपर भी प्रवचनमें असामर्थ्य या प्रवचनमें चातुर्य होनेपर भी द्यूतादि दुर्व्यवहारमें आसक्ति होनेपर माता-पिताको असह्य दुःख होता है। यौवनातिक्रमसे पूर्व ही पुत्रके विवाह एवं जीविकाकी भी चिन्ता कम नहीं होती। विवाहमें भी कुल-शीलसम्पन्न वधू-प्राप्तिकी चिन्ता लगी रहती है। पुत्रके विवाहके लिये धनार्जनमें भी महान् क्लेश होता है। इस प्रकार यौवनपर्यन्त माता-पिताको पुत्रविषयक अनेक चिन्ताएँ बनी ही रहती हैं। ज्योतिषियोंने यदि यह कह दिया कि तुम्हारा पुत्र अल्पायु है, तो इसको सुनकर अपमृत्युके परिहार करनेमें अनेकों उपायोंका अनुष्ठान करते हैं। अभाग्यवश यदि पुत्र मर गया, तब तो छाती और सिर पीटते-पीटते जीवनभर रोते ही रहते हैं। बालारिष्टादिसे उत्तीर्ण होकर यदि विवाह हो गया तो दुःशिक्षित पुत्र तो अपने दारा, अपत्य आदिका ही आदरसे पोषण करता है, महान् क्लेश सहन करके संरक्षण करनेवाले माता-पिताका निरादर ही करता है। भार्या एवं उसके बन्धुओंके अधीन होकर मर्मभेदी वाक्योंसे माता-पिताको कोसता ही रहता है। दुष्कृत कर्मोंके फलभूत असत् पुत्र माता-पिताके संचित प्रभूत धन तथा अनेक उपकरणोंको छीनकर शरीरमात्र-अवशेष माता-पिताको घरमें छोड़कर अपने पत्नी-पुत्रादिके साथ अन्यत्र जाकर सुखसे बसता है। अत्यन्त क्लेशसे पुत्रका संवर्धन करनेवाले माता-पिताके लिये वह दुःशिक्षित पुत्र अन्न-जलकी भी व्यवस्था नहीं करता है। प्रत्युत उपकार करनेवाले माता-पिताको फटकार ही सुनाता रहता है। इस प्रकार पुत्रवान् माता-पिताको महान् दुःख अनुभव करना पड़ता है, अपुत्रवान्को नहीं। इसलिये स्त्री और पुत्रको सर्व दुःखका कारण जानकर विचारशील लोग दारैषणा एवं पुत्रैषणाका त्याग कर देते हैं। महान् सुकृतका फलभूत और माता-पिताकी देवबुद्धिसे समाराधना करनेवाला सत्पुत्र तो दुर्लभ ही है।

धन-संग्रहसे उत्पन्न दुःखका वर्णन

स्त्री-पुत्रको छोड़कर केवल धन-संग्रह करनेवालेको भी महान् दुःख

होता है। धनके अर्जनमें, व्ययमें, रक्षणमें और हानिमें दुःख ही है। बहुत धन अर्जन करनेवाला अनन्त पापाचरण भी करता है, नाना प्रकारके अनर्थका भाजन भी बनता है। धन-सम्पादनमें प्रवृत्त पुरुष जाति एवं कुल-धर्मोंको भी त्याग देता है। नाना प्रकारके घोर कर्मोंसे धनार्जन करनेमें प्रवृत्त होनेपर भी अपने पूर्वादृष्टके अधीन ही धन लाभ करता है, अधिक लाभ नहीं होता। व्यय करनेपर धन घट जायगा इस भयसे अपने भोगके लिये थोड़ा भी धन खर्च नहीं करता है। किन्तु महान् क्लेश अनुभव करता हुआ नाना कुमार्गोंसे धनको बढ़ाते-बढ़ाते ही मर जाता है। अपने भोग और परोपकारमें न लगानेसे दैवयोगसे यदि धन नष्ट हो गया तो अपार शोकसागरमें डूब जाता है। इस प्रकार धन अनन्त दुःखका कारण होता है। यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि जो धन धर्मार्थ और परोपकारार्थ होता है उस धनकी निन्दा नहीं है। धर्म एवं परोपकारके उद्देशसे रहित धन दुःखका कारण होता है।

इस प्रकार सुन्दर विचार करके भच्छुं स्त्री, पुत्र और धनादिका अभिमान त्यागकर वनमें एकान्तवासी हो शम-दमादि साधनोंके अभ्यासमें निरत रहने लगा।

आखेटमें गये हुए राजाका वनमें भच्छुंको देखकर भयसे भागना—

भच्छुंके स्थानापन्न मन्त्री भच्छुंके समस्त वृत्तान्तको सुनकर अपने अनुयायियोंके साथ विचार करने लगे कि—'यदि राजा 'भच्छुं जीवित है' यह लोकवार्तासे सुनेगा अथवा मृगयार्थ स्वयं जाकर भच्छुंको देखेगा, तब मिथ्यावादी हमलोगोंको कठोर दण्ड देगा। इस प्रकार विचार करके सब मिलकर राजाके समीप जाकर कहने लगे—'युद्धमें चोरोंके द्वारा भच्छुं मारा गया और पिशाच होकर सर्वाङ्गमें भस्म धारण किये वनमें घूमता है। वह अपने सामने आये हुए व्यक्तिको मार डालता है। जो उसको देखकर भाग जाता है वही जीवित रहता है।' मन्त्रियोंके इस वाक्यको सुनकर राजा

१९६ : वेदान्त-तत्त्व-विचार

श्री-गुरुको छोड़कर केवल धन-संग्रह करनेवालेको भी महान् दुःख

भागा जाता है वही जीवित रहता है।' मन्त्रियोंके इस वाक्यको सुनकर राजा

तत्त्वका विचार न कर राजाने 'मरा हुआ भच्छुं पिशाच होकर वनमें घूमता है' यह निश्चय कर लिया। कुछ दिनके बाद जिस वनमें भच्छुं रहता था उसी वनमें वह आखेट खेलने गया। वहाँ एक वृक्षके मूलमें तपस्या करते हुए भच्छुंको देखकर प्रतारक मन्त्रियोंके वाक्य स्मरण करके 'निश्चय यह भच्छुं पिशाच है' यह जानकर भयसे भाग गया।

भच्छुंके दृष्टान्तकी प्रकृतमें योजना

वनमें जीवित भच्छुंको अपने नेत्रसे देखता हुआ भी प्रतारकोंके मिथ्या वाक्यमें विश्वास करके 'भच्छुं पिशाच ही है' यह मानकर जैसे राजा दूर भाग गया, उसी प्रकार अपरिपक्व बुद्धिवाला अज्ञानी 'तत्त्वमसि' इस गुरूपदिष्ट महावाक्यजन्य साक्षात्काररूप ब्रह्मात्मैक्याकाराकारित अन्तःकरणवृत्तिके उदय होनेपर भी भेदवादियोंके मिथ्या वाक्यमें विश्वास होनेके कारण महान् दुःखका अनुभव करता है और उसको ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार नहीं होता है। अतः अवैदिक होनेसे भेदवाद मिथ्या है, परमपुरुषार्थका साधक भी नहीं है यह निश्चय करके भेदवादके विश्वासको दूर करना चाहिये।

> पुरुषापराधमलिना निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा।
> न फलाय भच्छुंविषया भवति श्रुतिसम्भवापि तथात्मनि॥

मिथ्या संसाररूप दुःख मिथ्या उपायसे ही निवृत्त होता है इसका उपपादन करनेके लिये एक कथा

शिष्यने जो प्रश्न किया था कि गुरु और वेदान्तादि मिथ्या हैं, तो वे संसार-दुःख दूर करनेमें कैसे समर्थ होंगे? इसका उत्तर है—संसाररूप दुःख मिथ्या है, अतः मिथ्या उपायसे ही दूर हो सकता है। समसत्तामें ही निवर्त्य-निवर्तकभाव देखा जाता है। गुरु-वेदान्तादि यदि सत्य हों तो उनसे मिथ्या संसार निवृत्त नहीं होता। इस विषयमें यह दृष्टान्त वर्णन किया जाता है। देवेन्द्रके समान पराक्रमशाली एक सार्वभौम राजा था।

वह किसी समय तीक्ष्ण कृपाण धारण किये हुए अहर्निश जागरूक रक्षकोंसे रक्षित एक गुप्त महलमें पुष्पोंसे आस्तीर्ण पलंगपर सोया हुआ स्वप्नमें देखता है कि—"एक जम्बुक (सियार) उसके एक पैरको अपने मुखसे काट रहा है। इसको देखकर वह अपना पैर पटकने लगा किन्तु पैर पटकनेसे जम्बुकको दूर करनेमें समर्थ नहीं हुआ। राजाके चिल्लानेपर भी कोई रक्षक सहायतार्थ नहीं आये। तब राजा स्वयं उठकर डंडेसे जम्बुकके शिरपर मारने लगा। मारनेसे जम्बुक भाग गया। किन्तु स्वप्नमें जम्बुकसे काटे हुए पैरमें बड़ी व्यथा होने लगी। असह्य व्यथासे पीड़ित हो एक डंडेके सहारे धीरे-धीरे किसी एक वैद्यके घर जाकर उसने क्षतव्यथाको दूर करनेकी औषध माँगी। वैद्यने कहा—'इस समय औषध तैयार नहीं है। यदि कुछ धन दें तो औषध बनाकर दूँ।' वैद्यकी इस बातको सुनकर राजाने मनमें विचार किया कि 'इस समय मेरे हाथमें एक कौड़ी भी नहीं है, मैं दीनसे भी दीन हूँ। यदि मैं धनी होता तो यह वैद्य मेरे घरपर बार-बार आता। वैद्य यह समझता है कि यह दरिद्र है, इससे हमको कोई लाभ नहीं—यह जानकर मुझको औषध नहीं दी। इसमें इसका कोई अपराध नहीं है, कोई भी प्राणी प्रयोजनके बिना किसीका उपकार नहीं करता है। माता, पिता, स्त्री और पुत्र भी अपने-अपने प्रयोजनसे ही प्रेम करते हैं। प्रयोजनके बिना आँखसे भी नहीं देखते हैं। जिसका वियोग क्षणमात्र भी सहन नहीं होता, जिसके क्षणमात्र वियोगमें दुःख होता है, विदेशसे आनेपर दर्शनसे प्रसन्न होकर जिसको आलिङ्गन करते हैं। उसीको यदि दुर्दैववशात् कुष्ठ रोग हो जाता है, तो वही स्त्री-पुत्रादि अब इससे क्या प्रयोजन है यह जानकर रूक्ष वचनोंसे उसकी निन्दा करते हैं। 'अरे पापी, तू अब क्यों जी रहा है, मरता क्यों नहीं', इत्यादि कटु वचन कहते हैं। टेढ़ी आँखोंसे भी उसको देखना नहीं चाहते हैं। देखकर घृणा करते हैं। पतिव्रता भार्या भी दूरसे ही उसके अङ्गगत मक्षिकादिको भगाती है। जिसको अपनी गोदमें रखकर लालनपूर्वक पोषण-पालन किया है वह पुत्र भी उस माता-पिताकी उपेक्षा करके दूर चला जाता है। अन्य बान्धव

पराङ्मुख हो जाते हैं इसमें क्या कहना है। इस प्रकार सभी लोग अपने-अपने प्रयोजनसे ही दूसरेको आश्रयण करते हैं। इस वैद्यने भी 'मैं निर्धन हूँ' यह जानकर मुझको औषध नहीं दी।' यह विचार करता हुआ राजा वैद्यके घरसे लौटा। मार्गमें उसने एक परिव्राजकको देखा। उस परिव्राजकने राजाको कुछ औषध दी। उसके उपयोगसे राजा व्रण-व्यथारहित होकर स्वस्थ हो गया।" इस प्रकारका स्वप्न देखता हुआ राजा निद्राक्षय होनेपर जागा। जागनेपर वहाँ न सृगाल है, न उसके द्वारा किये हुए पादक्षतका दुःख है, न परिव्राजक है और न औषध ही। जागनेपर वहाँ उसने यह सब कुछ भी नहीं देखा। इस प्रकार कथा कहकर गुरु बोले—हे शिष्य! इस दृष्टान्तसे यह समझो कि अनृत (मिथ्या) से ही मिथ्या निवृत्त होता है। राजाको मिथ्या दुःख होनेपर सत्य (व्यावहारिक) कोई भी वस्तु उसका दुःख दूर करनेमें समर्थ नहीं हुई। इसी प्रकार मिथ्याभूत गुरु और वेदान्तरूप साधनसे अनृत संसार-दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

पूर्वोक्त दृष्टान्तका यह अभिप्राय है कि संसार-दुःख मिथ्या है, अतः इसका निवर्तक गुरु-वेदान्तादि साधन भी मिथ्या ही होना चाहिये। मिथ्या वस्तुको दूर करनेमें सत्य साधनकी अपेक्षा नहीं है। सत्य साधनसे मिथ्या वस्तुका नाश नहीं होता। पूर्वोक्त दृष्टान्तमें राजाके शयनगृहमें प्रविष्ट मिथ्या सृगालका सत्य द्वारपालसे निवारण नहीं हुआ। राजाके समीप रखे हुए अनेक शस्त्रोंसे मिथ्या सृगाल नहीं भगाया जा सका, मिथ्या सृगाल तो मिथ्या डंडेसे मारे जानेपर ही भागा। राजाके मिथ्या ही व्रण भी हुआ। उस व्रणकी सत्य वैद्यसे चिकित्सा भी नहीं हुई, किन्तु मिथ्या परिव्राजकसे ही हुई। राजाके मिथ्या दुःख और उसके कारणभूत मिथ्या सृगालको दूर करनेमें कोई सत्य साधन उपयुक्त नहीं हो सका। इस प्रकारके स्वप्न सर्वसाधारणको होते हैं। किन्तु जाग्रत्-कालके उपकरण कभी किसीके भी उपयोगमें नहीं आते। इसी प्रकार मिथ्याभूत संसार-दुःख मिथ्या गुरु और वेदान्तसे ही नाश होता है। मिथ्याभूत संसार अपने नियर्तनके लिये सत्य वेदान्त और गुरुकी अपेक्षा नहीं करता।

मरु-मरीचिकाके जलसे पिपासाकी भी निवृत्ति होनी चाहिये—इस शङ्काका सत्ता-वैषम्यसे परिहार—

जैसे मरु-मरीचिकासे पिपासा शान्त नहीं होती, उसी प्रकार मिथ्या गुरु और वेदान्तादिसे संसाररूप दुःखका भी विनाश नहीं होगा। यदि संसार-दुःखका विनाश होता है, तो मरु-मरीचिकासे भी पिपासाका उपशम होना चाहिये, किन्तु होता नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ दृष्टान्तमें वैषम्य है। प्रातिभासिक मरीचिकाके उदकसे व्यावहारिक पिपासा शान्त न होनेपर भी व्यावहारिक गुरु और वेदान्तसे व्यावहारिक संसाररूप दुःखका विनाश होता ही है। मरीचिकोदक और पिपासामें सत्ताका वैषम्य है, किन्तु गुरु-वेदान्तकी और संसार-दुःखकी समान सत्ता है; अतः दृष्टान्तमें वैषम्य जानना चाहिये।

समसत्तावान् परस्पर साधक-बाधक होते हैं। संसाररूप दुःख और गुरु-वेदान्तादि साधनमें समसत्ता है। अतः गुरुके उपदेश तथा वेदान्त-वाक्योंसे संसार-दुःखका क्षय होना युक्त है। जिनकी समान सत्ता है उनकी परस्पर साधकता और बाधकता होती है। मिट्टी और घटकी समान सत्ता है; अतः मिट्टी घटका साधक है। अग्नि और काष्ठकी समान सत्ता है, अतएव वह्नि काष्ठका बाधक होता है। साधक कारण और बाधक नाशक होता है। मरीचिकोदक और पिपासाकी सत्ता समान नहीं है। अतः मरीचिकोदक पिपासाका बाधक नहीं है। इसलिये मरीचिकोदक पिपासाकी निवृत्ति नहीं करता है। यहाँ यह रहस्य है कि चैतन्यमें पारमार्थिक सत्ता है और चैतन्यसे भिन्न पदार्थोंमें व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक सत्ता।

व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक सत्ताका वर्णन

व्यावहारिक सत्ता—जिस पदार्थका ब्रह्मज्ञानके विना बाध नहीं होता, किन्तु ब्रह्मज्ञानसे ही बाध होता है उसको व्यावहारिक सत्ता कहते हैं—"ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वे सति ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्यत्वं व्यावहारिकसत्त्वम्।" व्यावहारिक सत्ता ईश्वरसृष्ट पदार्थोंमें है। जैसे देहेन्द्रियादि

प्रपञ्चरूप ईश्वररचित पदार्थोंका ब्रह्मज्ञानके बिना बाध नहीं होता है, किन्तु ब्रह्मज्ञान होनेसे बाध हो जाता है। अतः ईश्वरसृष्ट पदार्थोंकी व्यावहारिक सत्ता है यह जानना चाहिये। बाधका अर्थ है अपरोक्ष मिथ्यात्व-निश्चय। जैसा कि पञ्चदशीमें कहा है—

> **नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः।**
> **नो चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः॥**
> **परमात्मावशेषो हि तत्सत्यत्वविनिश्चयः।**
> **न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न सम्भवेत्॥**

यह ईश्वरसृष्ट पदार्थोंमें अपरोक्ष मिथ्यात्व-निश्चय ब्रह्मज्ञान होनेसे पूर्व किसीको भी नहीं होता है। किन्तु ब्रह्मज्ञान होनेके बाद ही अपरोक्ष मिथ्यात्व-निश्चय होता है। अतः मूला अविद्याके कार्य जाग्रत्पदार्थात्मक ईश्वर-सृष्टिमें व्यावहारिक सत्ता है। जन्म, मरण, बन्ध और मोक्षादि समस्त व्यवहार-सिद्धिमें प्रयोजिका सत्ताका नाम व्यावहारिक सत्ता है।

प्रातिभासिक सत्ता—ब्रह्मज्ञानके बिना इतर ज्ञानसे जिसका बाध हो उसका नाम प्रातिभासिक सत्ता है। प्रातिभासिक सत्त्व जिसमें हो वह प्रातिभासिक पदार्थ कहा जाता है। ब्रह्मज्ञानके बिना ही रज्जु-शुक्तिका-ऊषरादिके ज्ञानसे यथाक्रम सर्प, रजत और उदकका बाध देखा जाता है। अतः इनमें प्रातिभासिक सत्त्व है। प्रातिभासिकका अर्थ है प्रतीतिकाल-मात्रमें सत्तावान्। और सत्ताका अर्थ है स्वरूप—स्थिति। तात्पर्य यह कि प्रतीतिकालमात्रमें स्थित रहनेवाले पदार्थकी प्रातिभासिक सत्ता कही जाती है। तूला अविद्याके कार्य शुक्तिका-रजतादि प्रतीतिकालमात्र ही रहते हैं, अतः उनकी प्रातिभासिक सत्ता कहना ठीक ही है।

[घटादि सकल अनात्म जड पदार्थोंसे उपहित चैतन्यको आवरण करनेवाली अविद्याको तूला अविद्या कहते हैं। इसीको अवस्थाज्ञान और सादि मलिना अविद्या (सादिदोषयुक्ता) भी कहते हैं। वह तूला अविद्या अंशभेदसे नाना होकर भिन्न-भिन्न पदार्थोंको आवरण करती है। जब

जिस पदार्थके आकाराकारित अन्तःकरणकी वृत्ति उदय होती है तब उस पदार्थके आवरक तूलाअविद्यांशका नाश होता है। जब अन्तःकरणवृत्ति पदार्थान्तरमें जाती है, तब पुनः पूर्वपदार्थका आवरक तूलाअविद्याका अन्य अंश उदय हो जाता है। इस प्रकारके तूला अविद्याके अंशका नाश करनेके लिये ब्रह्मज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। किन्तु इस तूलाअविद्यांशकी प्रातिभासिक सत्ता होनेके कारण घटादि तत्तत्पदार्थके ज्ञानसे ही इसका नाश हो जाता है।

पञ्चपादिकाकार (पद्मपादाचार्य) कहते हैं कि मूला अविद्या ही तूला अविद्या है, मूला अविद्यासे भिन्न तूला अविद्या नहीं है। इनके मतमें जैसे जनसमुदायमें बिजली गिरनेपर वहाँके लोग हट जाते हैं, पुनः सब एकत्र हो जाते हैं, उसी प्रकार जब जिस पदार्थके आकारकी अन्तःकरण-वृत्तिका उदय होता है, तब उस पदार्थकी अविद्या दूर हो जाती है और जब अन्य पदार्थाकारा वृत्ति होती है तब पुनः वह अविद्या फैलकर पूर्व पदार्थको आवरण कर लेती है। किन्तु ब्रह्मज्ञानके बिना उस अविद्याका नाश नहीं होता। इसी प्रकार स्वाप्निक पदार्थोंका और कल्पित प्रातिभासिक रज्जु-सर्पादिका अविद्यानाशके बिना भी विरोधी पदार्थान्तरके ज्ञानसे अथवा अविद्याके तिरोधानसे अविद्यामें लयरूप नाश या तिरोधान होता है।]

पारमार्थिक सत्ता—कालत्रयमें भी जिसका बाध न हो उसका नाम पारमार्थिक सत्त्व है। एक चैतन्यका ही कभी बाध नहीं होता, अतः चैतन्यकी ही पारमार्थिक सत्ता कही जाती है।

गुरु-वेदान्तादि और संसार-दुःख दोनों ही व्यावहारिक सत्तावान् हैं, अतः गुरु एवं वेदान्तवाक्यसे संसारके दुःखोंकी निवृत्ति होना युक्त ही है।

इस प्रकार गुरु तथा वेदान्तवाक्यकी और संसाररूप दुःखकी एक ही व्यावहारिक सत्ता है। समसत्तावान् मिथ्या गुरु-वेदान्तसे मिथ्या संसार-की निवृत्ति होती ही है। क्षुत् और पिपासा प्राणके धर्म हैं। अतः प्राण और

प्राणके धर्म ब्रह्मज्ञानके बिना निवृत्त नहीं होते हैं। पिपासाकी व्यावहारिक सत्ता है। प्रातिभासिक मरीचिकोदक ब्रह्मज्ञानके बिना ही मरुभूमिका ज्ञान होनेसे बाधित हो जाता है। मरीचिकोदक और पिपासा यह दोनों समसत्ताक नहीं हैं, अतः मरीचिकोदकसे पिपासाका उपशम नहीं होता है। दार्ष्टान्तिकमें तो बाधक गुरु-वेदान्त और बाध्य संसारदुःख इन दोनोंकी समान सत्ता है। और दृष्टान्तमें तो मरीचिकोदक और पिपासामें विषम सत्ता है। अतः दृष्टान्त विषम—भिन्नविषयक होनेसे दार्ष्टान्तके अनुरूप नहीं है।

[यह समाधान प्रसंगानुसार है। विचार करनेसे अधिष्ठानरूप साधक और अधिष्ठानज्ञानरूप बाधकमें समान सत्ताका नियम नहीं है। अधिष्ठानरूप साधक तो विषमसत्तावाला ही होता है, समसत्ताक कहीं नहीं होता। अधिष्ठानज्ञानरूप बाधक कहीं-कहीं विषमसत्तावाला होता है। जैसे—शुक्ति-रजतका बाधक शुक्तिज्ञान है और स्वप्न-जगत्का बाधक जाग्रत्-ज्ञान है। कहीं समसत्तावाला भी होता है जैसे व्यावहारिक ज्ञानका बाधक ब्रह्मज्ञान है।

परन्तु मिथ्या ज्ञान ही मिथ्या वस्तुका बाधक है यह नियम स्थिर है। अतः यहाँ कहा हुआ नियम अधिष्ठानरूप साधक और अधिष्ठानज्ञानरूप बाधकको छोड़कर अवशिष्ट पदार्थको विषय करता है।]

शुक्तिका-रजतादिका ब्रह्मज्ञानके बिना बाध होता है और संसार-दुःखका बाध ब्रह्मज्ञानसे होता है इसमें क्या कारण है ?

प्रश्न—पहिले आपने कहा कि ब्रह्मसे भिन्न समस्त जगत् मिथ्या है। इस प्रकारके मिथ्या पदार्थोंमें शुक्तिका-रजत, रज्जु-सर्प, मृगतृष्णोदक आदिका ब्रह्मज्ञानके बिना ही बाध होता है और संसार-दुःखका बाध ब्रह्मज्ञानसे होता है—इस भेदका क्या कारण है ? इस संशयको दूर करें—यह शिष्यका प्रश्न है।

ब्रह्मभिन्न मिथ्या सब भाखौ। तिनको भेद हेतु किहि लखौ ॥
उपज्यो यह मोकूं संदेहा। प्रभु ताको अब कीजै छेहा ॥

जिसके अज्ञानसे जिसकी उत्पत्ति होती है उसीके ज्ञानसे उसका बाध होता है

उत्तर—ब्रह्मसे अन्य सब अविद्याके कार्य होनेसे मिथ्यात्व तो समान ही है। इस द्वैतमें सत्यकी गन्ध भी नहीं। परन्तु जिसके अज्ञानसे जो उत्पन्न होता है उसीके ज्ञानसे उसका बाध होता है यह नियम है। रज्जु, शुक्तिका और ऊषरके अज्ञानसे सर्प, रजत और उदक उत्पन्न होता है, अतः रज्जु आदिके ज्ञानसे सर्पादिका बाध हो जाता है। उसी प्रकार अद्वितीय प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके अज्ञानसे विस्तृत यह जन्म-मरणादि दुःसह संसाररूप दुःख भी अद्वितीय प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके साक्षात्कारके द्वारा बाधित होता है।

सकल अविद्या कारज मिथ्या। सिप तामैं रंचकहु न तथ्या ॥
जा अज्ञानसैं उपजत जोई। ताके ज्ञान बाध तिहिं होई ॥

संसारविषयक विचार

संसारोत्पत्ति-क्रमविषयक प्रश्न

ब्रह्मके अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला संसार किस क्रमसे उत्पन्न होता है ? इसका स्पष्ट वर्णन करें। यह शिष्यका प्रश्न है।

स्वप्नवत् बिना क्रमके ही जगत् प्रतीत होता है

उत्तर—स्वप्नके पदार्थ जैसे बिना क्रमके उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मिथ्या जगत्की भी प्रतीति होती है। मिथ्या जगत्का क्रम जाननेकी इच्छा करना मानो मरीचिकोदकमें स्नानकी इच्छा करना है। उपनिषदोंमें जगत्की उत्पत्तिका अनेक प्रकारसे वर्णन है। जाग्रत् और स्वप्न दोनोंका सर्वथा साम्य ही सुना जाता है—"तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः" (ऐ० १।३) इसीलिये ऐतरेयमें एक साथ ही सृष्टिकी भी

यह शिष्यका प्रश्न है।

"सर्वथा साम्य ही सुनी जाती है—तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः" (ऐ० १।३) इसीलिये ऐतरेयमें एक साथ ही सृष्टिकही गयी

है। "स इमान् लोकानसृजत" (ऐ० १।१) "स इद ँ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च" (तै० ब्र० ६)। पञ्चदशीमें भी कहा है—

स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिन्त्यरचनात्मकम्।
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन् कथं तत्रानुरज्यति॥
स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम्।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः॥
चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसन्धाय जायते।
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत्॥

निद्राकल्पितदेशकालविषयज्ञात्रादि सर्वं यथा
मिथ्या तद्वदिहापि जाग्रति जगत् स्वाज्ञानकार्यत्वतः।
यस्मादेवमिदं शरीरकरणप्राणाहमाद्यप्यसत्
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम्॥
स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या
भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषः
तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम्॥

इत्यादि।

यदि जगत्-उत्पत्तिका क्रम नहीं है तो तैत्तिरीयादिमें क्रम क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह है कि यदि श्रुतिको जगत्-उत्पत्ति-क्रम कहनेकी इच्छा होती तो श्रुतियोंमें सृष्टि कहनेमें विषमता नहीं होती। किन्तु विषमता देखी जाती है। जैसे छान्दोग्यमें ब्रह्मसे अग्नि, जल और पृथिवीकी क्रमसे उत्पत्ति सुनी जाती है—"तदैक्षत। बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६।२।३) तथा तैत्तिरीयमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—इन पञ्चभूतोंके क्रमसे उत्पत्ति सुनी जाती है। तथा कहीं परमेश्वरने क्रमके विना ही सबको रचा—यह सुना जाता है। "इदं सर्वमसृजत" इत्यादि। इस प्रकार वेदोंमें जगत्-उत्पत्तिके नाना प्रकारसे वर्णन-

का तात्पर्य यह है कि जगत् मिथ्या है। यदि सत्य वस्तु जगत् होता तो उत्पत्ति-क्रम वेदोंमें अनेक प्रकारसे नहीं कहा जाता। क्योंकि वस्तुमें विकल्प सम्भव नहीं होता। अतः उपनिषदोंका जगत्-उत्पत्तिके क्रम-वर्णनमें तात्पर्य नहीं है। अद्वितीय ब्रह्मका वर्णन करनेमें ही परम तात्पर्य है। ब्रह्मके बोधरूप परम तात्पर्यके अङ्ग जगत्‌का निषेध करनेकी इच्छा होनेसे निषेध्य-रूपसे आक्षिप्त जगत्‌का यथाकथंचित् आरोप कर्तव्य है इतना ही मात्र तात्पर्य है। इसमें यह दृष्टान्त है कि जैसे किसीने मनोविनोदके लिये कृत्रिम हस्तिकी रचना करके उसको किसी यन्त्रसे आकाशमें उड़ाया। आकाशमें उड़ाते समय उस हस्तिके कर्ण-हस्त (सूंड)-पादादि उलटे-पुलटे, टेढ़े हो गये तो उनको समान करनेमें वह यत्न नहीं करता है। इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्मज्ञानके उद्देशसे द्वैतरूप दृश्य प्रपञ्चका निषेध करनेके लिये कल्पना की, अतः वेदने प्रपञ्च-वर्णनके क्रममें यत्न नहीं किया। यथाकथंचित् आरोप कर दिया। इसका वर्णन भाष्यके प्रकृतैतावत्वाधिकरणमें किया गया है—"लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम्" इति। अतः श्रुतियोंका प्रपञ्चमें अनादर होनेसे ही इनके उत्पत्ति-क्रमके एकविध वर्णनमें यत्न नहीं है। श्रुतिका उत्पत्ति-वर्णनमें विरोध देखनेसे ही प्रपञ्च-निषेधमें ही तात्पर्य है, उनके उत्पत्ति-वर्णनमें तात्पर्य नहीं है यह जानना चाहिये।

श्रुतिवचनसे जगत्-उत्पत्ति-कथनमें सूत्रकार एवं भाष्यकारका अभिप्राय—

यद्यपि सूत्रकार तथा भाष्यकारने द्वितीय अध्यायमें जगत्-उत्पत्तिके प्रतिपादक श्रुति-वाक्योंके परस्पर विरोधका परिहार करके तैत्तिरीयमें कहे हुए सृष्टिक्रमको ही सर्वोपनिषद्‌का तात्पर्य कहा है। वह मन्दाधिकारियोंके समाधानार्थ है यह जानना चाहिये। पूर्ववर्णित उत्पत्ति-वाक्योंके यथार्थ अभिप्रायको जाननेमें असमर्थ मन्द जिज्ञासु परस्पर विरुद्ध वाक्योंको देखकर भ्रान्त न हो जायँ—यह समझकर सूत्रकार और भाष्यकारने

सर्वोपनिषदोंका आकाशादि क्रमसे ही जगत्की उत्पत्तिमें तात्पर्य है यह प्रदर्शन कराया है।

और भी बात है कि जिनको ब्रह्म-विचारसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता है उनके लिये लयचिन्तनका विधान है। उत्पत्तिक्रमके विपरीत क्रमसे चिन्तन करनेपर वस्तुस्थितिका बोध होता है। इसलिये सूत्रकार और भाष्यकारने उत्पत्तिक्रम दिखाया है। जिस क्रमसे उत्पत्ति होती है उसके विपरीत क्रमसे जगत्का लयचिन्तन करना चाहिये। लयचिन्तनसे अद्वितीय ब्रह्ममें बुद्धि स्थिर होती है। यह लयचिन्तनका प्रकार वार्तिककार सुरेश्वराचार्यके द्वारा पञ्चीकरण नामक ग्रन्थमें वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थके उत्तमाधिकारिविषयक होनेसे यहाँ जगत्-उत्पत्ति-क्रम एवं लय-क्रम वर्णनका अवसर नहीं है तथापि मन्दाधिकारियोंके अनुग्रहके लिये संक्षेपसे वर्णन किया जाता है। असंग, अक्रिय, शुद्ध ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्त्यादि सम्भव नहीं है। किन्तु मायाविशिष्ट शबल ब्रह्मसे ही जगत्की उत्पत्त्यादि सम्भव है; अतः माया और ईश्वरका स्वरूप कथन किया जाता है।

श्रुतिमें कथित उत्पत्ति-क्रम-वर्णन, प्रसंगसे मायाका स्वरूप-कथन

मायाका स्वरूप—जीव एवं ईश्वरादि विभागशून्य शुद्ध चैतन्यके आश्रित माया है। यह माया उत्पत्तिरहित होनेसे अनादि है। इस मायाकी उत्पत्ति स्वीकार करना मानो पुत्रसे पिताकी उत्पत्तिकथनके समान होगा। क्योंकि मायाके कार्य प्रपञ्चसे मायाकी उत्पत्ति कहना संगत नहीं होगा। जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों मायाके कार्य हैं। न तो जीवचेतन और न ईश्वरचेतनसे ही मायाकी उत्पत्ति होती है। सिद्धस्वरूप जीव एवं ईश्वर इनसे मायाकी उत्पत्ति तथा माया सिद्ध होनेपर जीव और ईश्वरकी उत्पत्ति—इन दोनोंमें अन्योन्याश्रय होगा। और शुद्ध चैतन्य अविकारी है इससे मायाकी उत्पत्ति स्वीकार करनेमें विकारी होनेका प्रसंग होगा। दूसरी

बात यह कि शुद्ध चैतन्यसे मायाकी उत्पत्ति स्वीकार करनेपर मोक्षदशामें शुद्ध चैतन्य ही रहता है तब उससे पुनः मायाकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग उपस्थित होगा। अतः माया उत्पत्तिरहित है यही कहना उचित प्रतीत होता है। उत्पत्तिरहित होनेसे अनादि है और वह एक है। ब्रह्मज्ञानसे उसका नाश होता है अतः सान्त है। वह यह माया सदसत्से विलक्षण है। त्रिकालमें भी जो बाधित न हो उसका नाम सत् है। त्रिकालमें बाधित-न होनेसे चैतन्य ही सत् है। माया ज्ञानसे बाधित होती है अतः सत्से विलक्षण है। तीन कालमें भी जिनकी प्रतीति नहीं, उन शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र, आकाशकमल आदिको असत् कहते हैं। ब्रह्मज्ञान होनेके पूर्व माया और मायाका कार्य प्रतीत होता है। जैसे "अहमज्ञो ब्रह्म न जानामि" यह जाग्रत्में माया अनुभूत होती है। स्वप्नकालमें तो प्रतीयमान समस्त पदार्थोंकी उपादान कारण माया ही भान होती है। और सुषुप्तिसे उठे हुएको "सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्" यह परामर्श (स्मृति) होती है। वह स्मृति (ज्ञान) अननुभूत पदार्थकी नहीं होती, किन्तु अनुभूत पदार्थकी ही स्मृति होती है। अज्ञान और माया एक ही वस्तु है। इस प्रकार तीनों अवस्थाओंमें अज्ञानकी प्रतीति होती है।

अतः वह माया असत्से विलक्षण है। सदसत्से विलक्षण मायाका कार्य जगत् भी सदसत्से विलक्षण ही है। अद्वैतसिद्धान्तमें सदसत्से विलक्षण ही वस्तुको मिथ्या एवं अनिर्वचनीय कहते हैं। अतः माया तथा मायाके कार्यसे द्वैत सिद्ध नहीं होता। माया और मायाका कार्य सदसत्से विलक्षण होनेके कारण मिथ्या ही है। मिथ्या पदार्थसे द्वैत नहीं सिद्ध होता। जैसे स्वप्नदृष्ट पदार्थसे द्वैत नहीं सिद्ध होता, वैसे ही मिथ्या माया एवं मायाके कार्यसे ब्रह्मका सद्वितीयत्व नहीं कह सकते।

अज्ञानकी स्वाश्रयता और स्वविषयता

जीव-ईश्वर-विभागशून्य शुद्ध ब्रह्मके आश्रित माया शुद्ध ब्रह्मको ही आवरण करती है। जैसे गृहमें आश्रित तम गृहको ही आवरण करता है।

अज्ञानकी स्वाश्रयता और स्वविषयता : २०९

स्वीकार करनेमें विकारी होनेका प्रसंग होगा। दूसरी

आवरण करती है। जैसे गृहमें आश्रित तम गृहको ही आवरण करता है।

यही स्वाश्रय-स्वविषयकत्व पक्ष कहा जाता है। स्व शब्दका अर्थ शुद्ध ब्रह्म है। वही ब्रह्म अज्ञानके आश्रय होता है एवं वही अज्ञानसे आवृत होता है। इसीलिये अज्ञानको स्व-आश्रय और स्व-विषयक कहते हैं। विषयत्वका अभिप्राय है आवृतत्व। संक्षेपशारीरक, विवरण-वेदान्तमुक्तावलि, अद्वैतसिद्धि और अद्वैतदीपिका आदि ग्रन्थोंमें अज्ञानको स्वाश्रय-स्वविषयक वर्णन किया गया है।

उक्त विषयमें वाचस्पति मिश्रका मत

इनका कहना है कि अज्ञान जीवको आश्रय करके ब्रह्मको विषय करता है। "अहमज्ञो ब्रह्म न जानामि" इस अनुभवमें 'अहम्' शब्दार्थ जीव है। 'अज्ञ' यह अज्ञानके आश्रयत्वसे प्रतीत होता है। अतः जीवका अज्ञानाश्रयत्व व्यक्त होता है। "ब्रह्म न जानामि" इन शब्दोंसे अज्ञानका विषय ब्रह्म सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि अज्ञान जीवके आश्रयमें स्थित होकर ब्रह्मको विषय (आवरण) करता है। यह सिद्ध हो जाता है।

वह अज्ञान एक नहीं है, किन्तु नाना है। अज्ञानको एक माननेपर एकके ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेसे इतरके भी अज्ञान और अज्ञानके कार्य संसारकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये किन्तु प्रतीति होती है। यदि अद्यावधि किसीको भी ज्ञान नहीं हुआ है यह स्वीकार करें तो इससे आगे भी किसीको ज्ञान नहीं होगा यह आपत्ति होगी। तथा श्रवणादि साधनोंकी व्यर्थताका भी प्रसङ्ग होगा। अतः अनन्त जीवोंके आश्रित अज्ञान भी अनन्त है। और अनन्त जीवोंके अनन्त अज्ञानसे कल्पित ईश्वर भी अनन्त हैं। तथा ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं। जिस जीवको ज्ञान होता है, उसके अज्ञान एवं अज्ञानकल्पित ईश्वर-ब्रह्माण्डका भी नाश हो जाता है। और जिसको ज्ञान नहीं हुआ है उसको बन्धन लगा हुआ रहता है।

वाचस्पति मिश्रका मत असंगत है तथा अज्ञान एक है

जीवके अज्ञानसे ईश्वर कल्पित है यह कहना श्रुति-स्मृति तथा पुराणके विरुद्ध है। ईश्वर अनन्त और प्रतिजीव सृष्टि भिन्न है यह कहना भी विरुद्ध

ही है। अतः अज्ञान नाना है, ईश्वर और सृष्टि एक है यह भी संगत नहीं होता। क्योंकि जीव, ईश्वर, प्रपञ्च अज्ञानसे कल्पित है। अज्ञान अनन्त मानें तो एक-एक अज्ञानसे कल्पित जीवके समान ईश्वर एवं प्रपञ्च भी अनन्त हैं यह प्रसंग होगा ही। इसीलिये वाचस्पति मिश्रने अनन्त ईश्वर और अनन्त सृष्टि कहा है। अतः अज्ञान एक है यह मत ही समीचीन है।

अज्ञानके स्वाश्रय-स्वविषय पक्षका स्वीकार

वह यह अज्ञान एक है एवं जीवके आश्रित नहीं, किन्तु शुद्ध ब्रह्मके आश्रित है। जीवभाव अज्ञानका कार्य है। वह अज्ञान कभी भी स्वतन्त्र नहीं रहता है। अतः निराश्रय अज्ञानसे जीवभाव सिद्ध नहीं हो सकता। वह अज्ञान प्रथम किसी आश्रयके आश्रित हो, तब उसका कार्य जीवभाव सिद्ध हो। जीवभावके समान ईश्वरभाव भी अज्ञानका ही कार्य है। अतः ईश्वरके आश्रित भी अज्ञान नहीं रह सकता। तब यह अनादि अज्ञान शुद्ध ब्रह्मके ही आश्रित होता है यह मानना होगा। अनादि चैतन्य और अज्ञानका सम्बन्ध भी अनादि है। चैतन्य एवं अज्ञानके अनादि सम्बन्धके अधीन जीव और ईश्वरभाव भी अनादि ही है। परन्तु जीव तथा ईश्वरके अज्ञानके अधीन होनेसे जीव-ईश्वरको अज्ञानके कार्यत्वका व्यपदेश है।

यद्यपि "अहमज्ञः" इस प्रकार जीवके आश्रित अज्ञान प्रतीत होता है, तथापि शुद्ध ब्रह्मके आश्रित अज्ञानमें ही जीवको अभिमान होता है, यही अर्थ इस वाक्यका परमार्थ समझना चाहिये। क्योंकि जीव अज्ञानका कार्य है, अतः अज्ञानका अधिष्ठानरूप आश्रय नहीं हो सकता। किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञानका अधिष्ठानरूप आश्रय होता है। 'अहमज्ञः' यह प्रतीति जीवके अज्ञानाभिमानरूप आश्रयको विषय करती है।

शुद्ध ब्रह्मस्वरूप अधिष्ठानके आश्रित अज्ञान ब्रह्मको ही आवरण करता है। तदनन्तर जीव 'अहमज्ञोऽस्मि' यही अज्ञानके अभिमानरूप आश्रय होता है। इसी प्रकार अज्ञान स्वाश्रय-स्वविषयक भी सिद्ध होता है।

['अहमज्ञः' इस अनुभवके बलसे अज्ञानका आश्रय जीव है, यह वाचस्पति मिश्र कहते हैं। इस पक्षका सुगम रीतिसे मुमुक्षुओंकी बुद्धिमें

बोध हो जाय इस अभिप्रायसे वर्णन किया है। वस्तुतः उनका आशय यह है कि 'अहम्' शब्दका वाच्यार्थ अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्यरूप जीव है। इसमें विशेष्यांशभूत साक्षिचैतन्य ही ब्रह्म है। वही ब्रह्म अज्ञानके आश्रय है। विशेष्यके धर्मका विशिष्टमें व्यवहार होता है। इस न्यायसे जीवको अज्ञानका आश्रय वर्णन किया है।]

एक अज्ञानपक्षमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था, एक अज्ञानपक्षकी श्रेष्ठता और नामभेदसे मायाका स्वरूप—

यह अज्ञान एक है। ज्ञानसे उस अज्ञानकी निवृत्ति होती है। परन्तु जिस अन्तःकरणमें ज्ञान उदय होता है, उस अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अज्ञानांशका ही उस ज्ञानसे बाध होता है। वही मुक्त भी होता है। और जिसके अन्तःकरणमें ज्ञान नहीं हुआ है उसमें अज्ञानांश और बन्ध बना ही रहता है। इस प्रकार अज्ञानके एकत्व पक्षमें बन्ध-मोक्षरूप व्यवहार बनता है।

[यहाँ अभिप्राय यह है कि अंशी अन्धकारके एक होनेपर भी अंशभूत अन्धकार नाना है जो प्रतिगृहमें रहता है। जिस गृहमें दीप है उस गृहके अन्धकारका नाश होता है, गृहान्तरके अन्धकारांशका नाश नहीं होता। इसी प्रकार अंशीभूत अज्ञान एक ही है। उसका अंशभूत नाना अज्ञान नाना अन्तःकरण देशस्थ साक्षिचैतन्यको आश्रय करके स्थित रहता है। जिस अन्तःकरणमें वृत्तिरूप ज्ञान उदय होता है उस अन्तःकरणके अज्ञानांशका नाश हो जाता है और वही मुक्त होता है, अन्य मुक्त नहीं होता। इस-लिये एकका ज्ञानोदय होनेसे सबके अज्ञानके और तत्कार्यके नाशद्वारा मुक्ति क्यों नहीं होती—यह आपत्ति नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार एक अज्ञान स्वीकार करनेपर बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था सिद्ध होती है।

और भी बात है कि 'जीवोंके अज्ञानसे कल्पित ईश्वर अनन्त हैं और जीवके भेदसे सृष्टि भी नाना है।' यह श्रुति-स्मृति-पुराणविरुद्ध पक्ष युक्त नहीं है। अतः एक अज्ञान है, यह पक्ष ही श्रेष्ठ है।

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा चानवस्थिता॥

—ऐसा नैष्कर्म्यसिद्धिकार कहते हैं।]

यदि वाचस्पति मिश्रके पक्षके अनुसार किन्हींके मनमें नाना अज्ञानका पक्ष प्रवेश होता है तो वह पक्ष भी अद्वैत ज्ञानका उपाय ही है। उनके मत-खण्डनमें आग्रह नहीं करना चाहिये। जिस प्रक्रियासे जिज्ञासुको अद्वैत-का बोध होता है उसी प्रक्रियामें उसकी बुद्धिको स्थिर करना चाहिये।

शुद्ध ब्रह्मके आश्रित मायाको ही अविद्या और अज्ञान भी कहते हैं। अचिन्त्य अनन्त शक्तिमती और युक्ति (तर्क) का अविषय होनेसे माया कहते हैं—'तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा'। विद्यासे विनाश होता है इसलिये अविद्या कहते हैं। स्वरूपका आवरण करनेके कारण अज्ञान भी कहते हैं। मायाका आश्रयभूत चैतन्य सामान्य चैतन्य है। वह मायाका विरोधी नहीं है, किन्तु साधक है। मायाको सत्ता एवं स्फुरण देनेवाला है। वृत्त्यारूढ चैतन्य अथवा चैतन्यसहित वृत्ति ही मायाकी विरोधी है। सूर्यकान्त शिलारूढ सूर्यप्रभा इसमें दृष्टान्त जानना चाहिये। इस प्रकार एक, अनादि, सान्त, सदसद्विलक्षण, अनिर्वचनीय, अविद्या और अज्ञान आदि शब्दोंके द्वारा वाच्य, सामान्य चैतन्यके आश्रित, वृत्त्यारूढ चैतन्यसे विनाश होनेवाली मायाका वर्णन किया गया।

जीवईस भेदशून्य चेतनस्वरूपमांहि,
माया सो अनादि एक सांत ताहि मानिये।
सत औ असततैं, विलच्छन स्वरूप ताको,
ताहिकूं अविद्या औ अज्ञानहू बखानिये॥
चेतनसामान्य न विरोधी ताको साधक है,
वृत्तिमें आभास अधिष्ठान अरु माया मिल,
ईस सरवग्य जगहेतु, पहिचानिये॥

प्रसंगसे ईश्वरका स्वरूप-वर्णन

ईश्वरका स्वरूप, दो प्रकारके कारणोंका लक्षण—शुद्ध सत्त्व-गुणसहित माया एवं मायाका अधिष्ठान चैतन्य और मायामें प्रतिफलित चैतन्याभास इन तीनोंको मिलाकर ईश्वर कहा जाता है। वह ईश्वर सर्वज्ञ होता है। वही जगत्का कारण है।

कारण दो प्रकारके होते हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण। जो कार्यवर्गके स्वरूपमें प्रवेश करता है जिसके विना कार्यकी स्थिति नहीं होती वह उपादान कारण कहलाता है। [**"कार्योत्पत्तिस्थितिलयकारण-त्वमुपादानकारणस्य लक्षणम्।"**] घटका उपादान कारण मृत्तिका है। घटके स्वरूपमें मृत्तिकाका प्रवेश है, मृत्तिकाके विना घटकी स्थिति नहीं हो सकती। जो कार्यके स्वरूपमें प्रविष्ट न हो, किन्तु कार्यसे पृथक् रहकर कार्यको उत्पादन करता है, तथा जिसके नाश होनेपर कार्यका विनाश नहीं होता है वह निमित्त कारण कहलाता है। [**"कार्योत्पत्तिमात्रकारणत्वं निमित्त-कारणस्य लक्षणम्।"** वह निमित्त कारण अनेक प्रकारका होता है।] जैसे घटोत्पत्तिमें कुलाल-चक्र-चीवरादि निमित्त कारण हैं। कुलालादिक घटमें प्रविष्ट नहीं होते और घटसे पृथक् रहकर घटका उत्पादन करते हैं। घट उत्पन्न होनेपर कुलालादिका नाश होनेपर भी घटका नाश नहीं होता है। इस प्रकार उपादान एवं निमित्त दो प्रकारके कारण होते हैं।

[जगत्की उत्पत्तिमें आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद मानते हैं। इनमें वेदान्तियोंके मतमें विवर्तवाद ही श्रेष्ठ माना जाता है। सावयव अनेक कारण द्रव्योंकी सहायतासे एक अवयवी द्रव्य उत्पन्न होता है इसका नाम आरम्भवाद है। जैसे अनेक तन्तुओंके सहायता-संयोगसे एक पटरूप कार्य उत्पन्न होता है, यह आरम्भवाद है। इस मतमें कार्य-कारणमें अत्यन्त भेद भी मानते हैं। जगत्की उत्पत्तिके विषयमें यह आरम्भवाद सम्भव नहीं है। अद्वितीय ब्रह्मके अपरिच्छिन्न तथा निरवयव होनेसे उससे सावयव जगत् पृथक् नहीं उत्पन्न हो सकता।

परिणामवाद भी जगदुत्पत्तिमें युक्त नहीं होता। कारणवस्तुके प्राक् सिद्ध जो कारणावस्था है उसके अपरित्यागपूर्वक अवस्थान्तर-प्राप्तिका नाम परिणामवाद है। जैसे मृत्तिकाका परिणाम घट है। प्रधान (प्रकृति) का परिणाम जगत् है यह सांख्यवादी कहते हैं। कोई उपासक जगत्को ब्रह्मका परिणाम मानते हैं। इन दोनोंके मतका सूत्रकार और भाष्यकारने खण्डन कर दिया है। अतः परिणामवाद भी युक्तियुक्त नहीं है।

विवर्तवादमें कोई दोष नहीं होता है। कारणवस्तुके नित्यसिद्ध स्वस्वरूपका परित्याग न करके ही अन्यथा (रूपान्तर) प्रतीतिका नाम विवर्त है। यह श्रुतिमें प्रतिपादित तथा युक्ति और अनुभवसिद्ध भी है। जैसे शुक्तिकामें रजतका अवभास। यही पक्ष वेदान्तके अभिमत है। यहाँ जगद्रूप विवर्तका उपादानरूप अधिष्ठान मायोपहित चैतन्य ही है। माया-विशिष्ट चैतन्य नहीं है। अविवेकी विशिष्ट चैतन्यको ही अधिष्ठान कहते हैं। परिणामी-उपादान माया, विवर्तोपादान उपहितचैतन्य—यह विवेकसे निश्चय होनेपर भी अविवेकी इन दोनोंको मायाविशिष्ट चैतन्य ही कहते हैं।]

जगत्का उपादान और निमित्त कारण

ईश्वर ही प्रपञ्चका उपादान कारण एवं निमित्त कारण भी होता है। जैसे एक लूता (कीटविशेष) तन्तुरूप कार्यके प्रति उपादान कारण तथा निमित्त कारण होता है। उसी प्रकार ईश्वर प्रपञ्चका उपादान और निमित्त भी होता है। उसमें लूता कीटका जड शरीर तन्तुका उपादान कारण और उसका शरीरस्थ अन्तःकरणसहित चैतन्य निमित्त कारण होता है। इसी प्रकार ईश्वरका शरीरभूत जडमाया जगत्का उपादान तथा चेतनमांग निमित्त कारण है। इस प्रकार एक ही ईश्वरके प्रपञ्चके प्रति उपादान तथा निमित्त कारण होनेमें लूता कीटका दृष्टान्त है। मुख्य दृष्टान्त तो स्वप्न ही है।

[न्यायमतमें घटके ईश्वरके संयोगमें ईश्वरको अभिन्ननिमित्तोपादान कहा है। तथा जीवाश्रित ज्ञान-सुखादि गुणोंको जीवका अभिन्ननिमित्तोपादान स्वीकार किया है।

वेदान्त-सिद्धान्तमें जीवको स्वप्न-प्रपञ्चके प्रति अभिन्ननिमित्तोपादान तथा जाग्रत्-प्रपञ्चके प्रति ईश्वरको अभिन्ननिमित्तोपादान अङ्गीकार है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि दुःख और दुःखके साधनकी निवृत्ति तथा सुख एवं सुख-साधन-सम्पादनकी इच्छा होती है। किन्तु ईश्वरको दुःख-सुख और इनके साधनकी इच्छा तो सम्भव नहीं। बालकोंको अकस्मात् क्रीडामें इच्छा होती है। वह इच्छा भी ईश्वरमें नहीं हो सकती। क्योंकि ईश्वर नित्य पूर्णकाम आप्तकाम है। अतः सृष्टिरूप विनोदकी इच्छा भी नहीं हो सकती है।

जैसे बालकोंके चित्तमें आह्लादरूप सुख-प्राप्तिकी इच्छा होती है, वैसे पूर्णकाम ईश्वरमें आह्लादरूप सुख-प्राप्तिकी इच्छा होना सम्भव नहीं है—इसका उत्तर यह है कि जैसे कल्पवृक्षादि अपने आश्रित पुरुषोंके संकल्परूप निमित्तसे स्वस्वभावसे ही आश्रित पुरुषोंके मनोरथ पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी जब प्राणियोंके फलदानोन्मुख होते हैं तब जीवके अदृष्टके कारण स्वस्वभावसे ही जगत्-सृष्टि आदि विषयक ज्ञानेच्छा और प्रयत्नादि करते हैं। ईश्वरीय इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न—इनमें एक भी व्यक्ति सृष्टिके आरम्भसे प्रलयपर्यन्त बना रहता है। अतः ईश्वरके इच्छा-प्रयत्न नित्य कहे जाते हैं। दूसरी बात यह कि ईश्वरके इच्छा-प्रयत्नादि भूत, भविष्य और वर्तमानकालमें होनेवाले समस्त पदार्थोंको विषय भी करते हैं। इसी कारण सदा सृष्टि, प्रलय, शैत्य, उष्णता, वर्षा आदि नहीं होते, किन्तु समयानुसार ही सब होते रहते हैं।]

पुनः जब ईश्वर जीवोंके कर्मफल देनेमें उदासीन होता है तब प्रलय हो जाता है। जब जीवोंके कर्मफल देनेके सम्मुख होता है तब पुनः सृष्टि होती है। इस प्रकार जगत्की सृष्टि जीवोंके कर्माधीन है यह जानना चाहिये।

जीवका स्वरूप-वर्णन

रजोगुण एवं तमोगुणको अभिभूत करके उदय हुए सत्त्वको शुद्ध सत्त्व कहते हैं। तथा रजोगुण एवं तमोगुणसे अभिभूत सत्त्वगुणको मलिन सत्त्व कहते हैं। इस मलिन सत्त्वगुणसहित अज्ञानांशप्रतिफलित चेतनका आभास, अज्ञान और अज्ञानका अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य—इन मिले हुए तीनोंका नाम जीव है।

मलिन सत्त्व अज्ञानमें, जो चेतन आभास।
अधिष्ठानयुत जीव सो, करत कर्मफल आस॥

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते॥

यह जीव ही कर्म करता है तथा फलोंको भोगता है।

जगत्सृष्टिका वर्णन

ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्यका अभाव

जीवके कर्मानुसार ऊँचे-नीचे भोगोंका अनुभव करानेके लिये ईश्वर प्राणियोंके पुण्यपापानुरूप सृष्टि करता है। अतः ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य नहीं होता है। यहाँ यह शङ्का होती है कि आद्य सर्गसे पूर्वमें तो कर्म नहीं था। प्रथम सर्गमें ईश्वरने प्राणियोंके ऊँचे-नीचे शरीरोंकी तथा ऊँचे-नीचे भोगोंकी रचना की है, अतः अकस्मात् रचना करनेसे विषमता तो होती ही है। इसका उत्तर यह है कि संसार अनादि है। अतः उत्तर-उत्तर सृष्टिके पूर्व-पूर्व सृष्टिमें तत्तत्कृत प्राणियोंके कर्म ही सृष्टिके कारण हैं। अनादि होनेसे प्रथम सृष्टिका होना सम्भव नहीं, अतः परमेश्वरमें विषमतादि कोई दोष नहीं है।

जीवोंके भोगार्थ ईश्वरको सृष्टि रचनेकी इच्छा—जीवके कर्मफल देनेसे जब ईश्वर विमुख होता है तब जगत्का प्रलय होता है। प्रलयमें सकल पदार्थोंके संस्कार मायामें लीन हो जाते हैं। अतः जीवोंके

है। इस प्रकार जगत्‌की सृष्टि जीवोंके कर्माधीन है यह जानना चाहिये।

शेषकर्म (संचित कर्म) भी सूक्ष्मरूपसे मायामें लीन होते हैं। जब प्राणियोंके कर्मफल देनेको ईश्वर अभिमुख होता है, तब जीवोंके कर्मफल-भोगार्थ ईश्वरमें 'अहं सृजामि' यह इच्छाशक्ति उत्पन्न होती है।

सूक्ष्म सृष्टिका निरूपण

सूक्ष्म पञ्चभूत और उनके गुणोंकी उत्पत्ति—इस प्रकार ईश्वरेच्छाके वशसे माया तमोगुणप्रधान होती है। तमोगुणप्रधान मायासे आकाश-वायु-तेज-जल-पृथिव्यात्मक पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। उन भूतोंमें क्रमसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच गुण होते हैं। मायासे शब्दसहित आकाश उत्पन्न होता है। आकाशसे वायु उत्पन्न होता है। वायु आकाशका कार्य है। कारणके गुण शब्द और अपने असाधारण गुण स्पर्शसे युक्त दो गुणोंवाला वायु है। वायुसे अग्नि उत्पन्न होता है। कारण आकाश एवं वायुके गुण शब्द, स्पर्श और अपने गुण रूपसे युक्त यह तीन गुणोंवाला अग्नि है। अग्निसे जल उत्पन्न होता है। कारण आकाश, वायु और अग्निके गुण शब्द, स्पर्श तथा रूप और अपने असाधारण गुण रससे युक्त यह चार गुणोंवाला जलतत्त्व है। जलसे पृथिवी उत्पन्न होती है। आकाश, वायु, अग्नि, और जलके गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा अपने गुण गन्धसे युक्त यह पाँच गुणोंवाली पृथिवी है। आकाशमें प्रतिध्वनिरूप शब्द है। वायुमें वीसीति शब्द है एवं शीत, उष्ण और कठिनरूप विलक्षण स्पर्श भी वायुमें है। अग्निमें भुग्भुग् शब्द, उष्ण स्पर्श और प्रकाश नामका रूप भी है। जलमें चिल्चिल शब्द, शीत स्पर्श, शुक्ल रूप और मधुर रस भी है। लवण-तिक्तादि रस पृथिवीके सम्बन्धसे जलमें प्रतीत होते हैं। जलका स्वाभाविक रस माधुर्य ही है। वह माधुर्य हरीतकी, आमलकादि भक्षणसे संस्कृत रसनाद्वारा जल पीनेसे प्रतीत होता है। पृथिवीमें कड़कड़ा शब्द है, अनुष्ण अशीत स्पर्श, शुक्ल, कृष्ण, पीत, रक्त और हरितादि रूप, मधुर, अम्ल, कटु, कषाय और तिक्त यह षट् रस और सुगन्ध तथा दुर्गन्ध दो प्रकारका गन्ध भी है। आकाशमें

प्रलयमें सकल पदार्थोंके संस्कार मायामें लीन हो जाते हैं।' अतः जीवोंके

एक गुण, वायुमें दो गुण, अग्निमें तीन, जलमें चार और पृथिवीमें पाँच
गुण हैं। इनमें प्रतिभूतोंमें स्वाभाविक गुण तो एक ही है। इतर गुण
तो कारणके गुण हैं। सबका मूल कारण ईश्वर ही है। ईश्वरमें दो अंश
हैं—चैतन्यांश एवं मायांश। समस्त भूतोंमें विद्यमान नाम-रूपात्मक
मिथ्यांश मायाका है तथा सत्ता और स्फूर्तिरूपांश चैतन्यका है यह
जानना चाहिये।

चतुर्विध भेदसहित अन्तःकरणकी उत्पत्ति

अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंका समष्टि सत्त्वगुणांश सत्त्व नामवाले अन्तःकरणको
उत्पन्न करता है। ज्ञानोत्पत्तिका हेतु अन्तःकरण ही है, सत्त्वगुणसे ही
ज्ञानोत्पत्ति होती है ऐसा मानते हैं। "सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्" अतः
भूतोंके सत्त्वगुणका कार्य अन्तःकरण है। वह अन्तःकरण पञ्चीकृत पञ्चभूतों-
के व्यष्टि सत्त्वगुणके कार्य पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके अपने-अपने विषयको ग्रहण
करनेमें सहकारी होता है। इससे भी जाना जाता है कि पञ्चभूतोंके समष्टि
सत्त्वगुणका कार्य अन्तःकरण है। वैशेषिकोंके समान अन्तःकरण नित्य नहीं
है। "अन्तः—देहस्यान्तः स्थित्वा, करणं—ज्ञानसाधनम्" इसको
अन्तःकरण कहते हैं। समष्टि पञ्चभूतोंका कार्य होनेसे अन्तःकरणको सत्त्व
भी कहते हैं। अन्तःकरणके परिणामका नाम वृत्ति है। अन्तःकरणमें चार
वृत्तियाँ होती हैं। इनमें पदार्थके स्वरूपका निश्चय करनेवाली वृत्तिका नाम
बुद्धि है। संकल्पात्मिका वृत्तिका नाम मन है। चिन्तनात्मिका वृत्तिका
नाम चित्त है और 'अहं' इस अभिमानात्मिका वृत्तिका नाम अहङ्कार है।

पञ्चभेदसहित प्राणोत्पत्ति

अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंके समष्टि रजोगुणांशसे पञ्चवृत्तिक प्राण होता है।
वह प्राण क्रियाभेद और स्थानभेदसे पाँच प्रकारका है। जिसका हृदय
स्थान है, क्षुत्-पिपासा क्रिया है उसका नाम प्राण है। जिसका गुदा स्थान
है, मूत्र-पुरीषका अधोनयन क्रिया है उसकी संज्ञा अपान है। जिसका
नाभि स्थान है, भुक्त-पीत अन्न-जलको पाचनयोग्य समान करना क्रिया है

वह समान है। जिसका कण्ठ स्थान है, श्वास क्रिया है वह उदान है। समस्त शरीर जिसका स्थान है, अन्न-पानादिके रसको सर्वनाड़ियोंमें प्रविष्ट करना क्रिया है उसका नाम व्यान है।

कहीं-कहीं नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय—ये पाँच नाम वायुके अधिक पढ़ते हैं। उनमें उद्वमनमें नाग, उन्मीलनमें कूर्म, क्षुत (छींक) में कृकर, जृम्भण (जँभाई) में देवदत्त और मृत शरीरको स्थूल करने (फुलवाने) में धनञ्जय वायु होता है। ये उपवायु भी कहलाते हैं। इनकी पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशके रजो-अंशसे क्रमशः उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार अपान, समान, प्राण, उदान और व्यान भी क्रमसे पृथिवी आदि एक-एकके रजो-अंशसे उत्पन्न होते हैं। कहीं-कहीं सबके समष्टि रजो-अंशसे भी प्राणोत्पत्ति कही है। श्रीविद्यारण्य स्वामीने पञ्चीकरणमें और वार्तिककारने भी सूक्ष्म शरीर और पञ्चकोशमें नाग-कूर्मादिको ग्रहण नहीं किया है। तथा प्राणापानादिकी उत्पत्ति पञ्चभूतोंके समष्टि रजोगुणांशसे बतलायी है। अतः एक-एकके रजोगुणांशसे इनकी उत्पत्ति कहना अयुक्त है।

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति

अपञ्चीकृत एक-एक भूतोंके सत्त्वांशसे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय बनते हैं। एवं एक-एक भूतोंके रजोगुणांशसे कर्मेन्द्रिय रचे गये हैं। यथा आकाशके सत्त्वांशसे श्रोत्र, वायुके सत्त्वांशसे त्वक्, तेजके सत्त्वांशसे चक्षु, जलके सत्त्वांशसे रसना और पृथिवीके सत्त्वांशसे घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। ये पञ्चेन्द्रिय ज्ञानके साधन हैं अतः इनको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञान सत्त्वगुणसे ही होता है। ये पञ्चेन्द्रिय भूतोंके सत्त्वगुणसे उत्पन्न कहे जाते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय आकाशके गुण शब्दको ग्रहण करता है अतः वह आकाशके सत्त्वगुणका कार्य है। इसी प्रकार जो इन्द्रिय जिस भूतके गुणोंको ग्रहण करता है वह उसी भूतके सत्त्वगुणका कार्य है यह जानना चाहिये।

आकाशके रजोगुणांशसे वाक्, वायुके रजोगुणांशसे पाणि, अग्निके रजोगुणांशसे पाद, जलके रजोगुणांशसे उपस्थ और पृथिवीके रजोगुणांशसे गुद उत्पन्न होता है। ये पाँच इन्द्रिय क्रियाके साधन होनेसे कर्मेन्द्रिय कहे जाते हैं। क्रिया रजोगुणका कार्य है। अतः भूतोंके रजोगुणांशसे इनकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सूक्ष्म सृष्टिका निरूपण किया गया।

सूक्ष्म सृष्टिका उपसंहार

अपञ्चीकृत भूत एवं भूतोंके कार्य अन्तःकरण, प्राण और कर्मेन्द्रिय इनको सूक्ष्म सृष्टि कहते हैं। सूक्ष्म सृष्टिविषयक ज्ञान इन्द्रियोंसे नहीं होता है। नेत्र-नासिकादि गोलक यद्यपि इन्द्रियोंके विषय होते हैं, तथापि तद् गोलकान्तःस्थ इन्द्रिय किसी इन्द्रियके विषय नहीं होते हैं। सूक्ष्म सृष्टिके अनन्तर ईश्वरेच्छासे स्थूल सृष्टिके निमित्त भूतोंका पञ्चीकरण होता है।

स्थूल सृष्टिका निरूपण

पञ्चीकरण-प्रकार

पञ्चीकरणका प्रकार यह है कि एक-एक सूक्ष्म भूतोंके तमोगुणांशका साम्यसे दो विभाग करे। इनमें एक आधे भागको पृथक् रखकर दूसरे आधे भागमें चार भाग करे। अष्टमांश चार भागोंके अपने अर्धांशको छोड़कर शेष चार अर्धांशमें एक-एक अष्टमांश मिला दे। इस प्रकार मेलन-से पञ्चीकृत हो जाता है। इनमें एक-एक स्थूल भूतमें अपना अर्धांश है और आधेमें इतर चारों भूतोंके अष्टमांश मिले हुए हैं। इस प्रकार एक-एक स्थूल भूतमें भी पाँचोंके अंश मिलनेसे स्थूल भूत पञ्चीकृत हो जाते हैं।

स्थूल ब्रह्माण्डादिकी उत्पत्ति

इस प्रकार पञ्चीकृत पञ्चभूतोंसे इन्द्रियगोचर स्थूल ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। इस ब्रह्माण्डमें भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यः—ये सात लोक ऊपर तथा अतल, सुतल, पाताल, वितल, रसातल, तलातल और महातल—ये सात लोक नीचे रहते हैं। इन चतुर्दश लोकोंमें रहनेवाले जीवों-

के पृथक्-पृथक् उपभोगके योग्य अन्न-पानादि तथा भोगायतन देव-मनुष्य-पश्वादि स्थूल शरीर होते हैं। इस प्रकार संक्षेपसे सृष्टि-वर्णन किया गया। मायाके वैभवका वर्णन तो कोटि ब्रह्माकी आयुसे भी नहीं किया जा सकता। मायासे रचित पदार्थोंका अन्त नहीं है।

आत्मविवेक अथवा पञ्चकोशविवेक

पञ्चकोशोंसे आत्माके आवरणका वर्णन

माया एवं मायाके कार्योंमें तीन शरीरके भीतर पञ्चकोशका अन्तर्भाव होता है। शुद्धसत्त्वप्रधान माया ईश्वरका कारण शरीर है। मलिन सत्त्वप्रधान अविद्यांशसे जीवका कारण शरीर होता है।

उत्तरशरीरारम्भक पञ्च सूक्ष्म भूतोंके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार एवं पञ्च प्राण तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय—यह सब मिलकर जीवका सूक्ष्म शरीर होता है। सकल जीवोंके सूक्ष्म शरीर मिलकर ईश्वरका सूक्ष्म शरीर होता है। समस्त स्थूल ब्रह्माण्ड ईश्वरका स्थूल शरीर होता है। जीवका व्यष्टि स्थूल शरीर तो प्रसिद्ध ही है। इसी तीन शरीरमें पाँच कोशोंका अन्तर्भाव हो जाता है। कारण शरीरमें आनन्दमय कोशका अन्तर्भाव होता है। एवं सूक्ष्म शरीरमें विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमयका अन्तर्भाव होता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा निश्चयात्मिका अन्तःकरणकी वृत्तिरूप बुद्धि मिलकर विज्ञानमय कोश कहलाता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय एवं संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरणकी वृत्तिरूप मन मिलकर मनोमय कोश कहलाता है। पञ्च प्राण, पञ्च कर्मेन्द्रिय मिलकर प्राणमय कोश होता है। स्थूल शरीरको अन्नमय कोश कहते हैं। तीन शरीरमें पाँचों कोशोंका अन्तर्भाव हो जाता है। ईश्वरके शरीरमें ईश्वरकोश और जीवके शरीरमें जीवकोश रहते हैं। कोशका अर्थ आच्छादन या पिधान है। जैसे असि (खड्ग) का पिधान खड्गको ढकता है, उसी प्रकार ये पञ्च कोश आत्माके स्वरूपको ढक लेते हैं यह कहा जाता है। अनेक मन्दबुद्धि गुरु-शास्त्र-सम्प्रदायविहीन पञ्च कोशके अन्तर्गत अनात्मभूत जिस-किसी पदार्थको आत्मा मानते हुए कोशोंके साक्षिभूत

मुख्य आत्माके स्वरूपसे विमुख हो जाते हैं। इस प्रकार अन्नमयादि कोश आत्मस्वरूपके आच्छादक हैं यह वर्णन किया।

[**स्थूल शरीर**—प्रतिक्षण नाशवान् होनेके कारण इसे शरीर कहते हैं तथा जलनेके कारण इसका नाम देह है। इसमें लोम, त्वक्, शिरा, मांस अस्थि, मज्जा—इन छहोंका समुदाय खम्भेकी तरह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। अतः इसका नाम स्थूल देह है। पृथिवीका पृथिवीसे सम्बन्ध होनेसे अस्थि, पृथिवीका जलसे सम्बन्ध होनेपर मांस, तेजसे सम्बन्ध होनेसे नाड़ियाँ, वायुसे सम्बन्ध होनेसे त्वक्, आकाशसे सम्बन्ध होनेसे लोम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार तत्तद् भूतांशके सम्बन्धसे तत्त्वान्तर होते हैं। पचीस तत्त्वोंमें पञ्चभूतके लक्षण कहते हैं। (क) आकाशमें (१) भयकालमें पृथिवीके समान जाड्य होनेसे भय पृथिवीका अंश है। (२) पुत्र-दारादिमें जलवत् प्रसारणसे मोह जलांश है। (३) अग्निके समान दाह होनेसे क्रोध अग्निका अंश है। (४) वायुके समान चञ्चलात्म काम वायुका अंश है। (५) शोकके समय-में आकाशवत् शून्यता होनेसे शोक आकाशका अंश है। (ख) वायुमें (६) पृथिवीके समान संकोच होनेसे आकुञ्चन पृथिवीका अंश है। (७) जलके समान चञ्चल होनेसे गमन जलांश है। (८) तेजवत् शोषण या प्रकाशनसे स्थिति अग्निका अंश है। (९) वायुवत् धावनसे धावन वायुका अंश है। (१०) आकाशके समान फैलनेसे प्रसारण आकाशका अंश है। (ग) तेजमें (११) जडवत् स्वभाव होनेसे आलस्य पृथिवीका अंश है। (१२) जलवत् धूमविशिष्ट होनेसे कान्ति जलांश है। (१३) भुक्तको भस्म करनेसे क्षुत् तेजका अंश है। (१४) शीकरशोषक वायुवत् कण्ठशोषणसे पिपासा वायुका अंश है। (१५) निद्रा होनेपर आकाशवत् शरीरके शून्यत्वापादनसे निद्रा आकाशका अंश है। (घ) जलमें (१६) जपाकुसुमादिवत् रक्तवर्ण होनेसे लालिमा पृथिवीका अंश है। (१७) जलवत् द्रवीभूत होनेसे गर्भका हेतुभूत शुक्र जलांश है। (१८) तेजवत् उष्ण होनेसे मूत्र तेजका अंश है। (१९) वायु-अधीन वृष्टिके समान स्वेद श्रमसे उत्पन्न होनेसे स्वेद वायुका अंश है। (२०) आकाशवत् ऊपर-नीचे जानेवाला

होनेसे लोम आकाशका अंश है। (ङ) पृथिवीमें (२१) काठिन्य होनेसे अस्थि पृथिवीका अंश है। (२२) आर्द्र होनेसे मांस जलका अंश है। (२३) नाड़ियोंसे ताप सम्भव होता है, अतः नाड़ी तेजका अंश है। (२४) शीत एवं उष्ण प्रतीतिके कारण त्वक् वायुका अंश है। (२५) आकाशवत् छेदनसे भी पीड़ा नहीं होनेसे लोम आकाशका अंश है।

ये भय-मोहादि यद्यपि सूक्ष्म शरीरके ही असाधारण धर्म हैं, तथापि जलाश्रय घटमें जलनिष्ठ शैत्यकी उपलब्धिवत् स्थूल देहको आश्रय करके उपलब्ध होते हैं; अतः स्थूल देहके धर्म हैं यह उपचारसे कहा जाता है। इसीलिये इनकी गणना स्थूल देहके तत्त्वोंमें होती है। इन पचीस तत्त्वोंके समुदायमें देहका व्यवहार होता है। नाम, रूप, वर्ण, आश्रम, जाति और जन्म-मरणादि धर्म स्थूल देहके ही हैं। भुक्त अन्नके स्थूल अंशका पुरीष होता है। मध्यम भागका मांस तथा सूक्ष्म अंशसे मन बनता है। पीये गये जलके स्थूल अंशसे मूत्र, मध्यमांशसे रक्त और सूक्ष्मांशसे प्राण बनता है। भुक्त तेज—तैल, घृत आदि स्निग्ध द्रव्योंके स्थूलांशसे अस्थि और सूक्ष्मांशसे वाक् होता है। माताके शोणित अंशसे बच्चेका रक्त, मांस और चर्म बनता है तथा पिताके शुक्रसे अस्थि, नाड़ी और मज्जा उत्पन्न होते हैं। ये स्थूल शरीर चार प्रकारके होते हैं। अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज। अण्डज पक्षि-सर्पादि, जरायुज मनुष्य, पशु आदि एवं स्वेदज यूका, मशकादि और वृक्षादि उद्भिज कहलाते हैं।

सूक्ष्म शरीर—अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंके कार्य सतरह तत्त्वोंके समूहको लिङ्ग शरीर कहते हैं, अथवा कोई चित्त और अहंकारको मिलाकर उन्नीस तत्त्वोंको लिङ्ग शरीर कहते हैं।

> पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
> अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥

यह लिङ्ग शरीर ही शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता और सुख-दुःखरूप फलोंका भोक्ता है। इहलोक तथा परलोकमें आने-जानेवाला भी लिङ्ग शरीर ही है। राग, द्वेष, शम, दम, आन्ध्य, मान्द्य और पटुत्वादि धर्म लिङ्ग शरीरके ही हैं। यह स्थूल शरीरके समान प्रत्यक्ष प्रमाणका गोचर नहीं इसीलिये इसका नाम लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर है। शब्दादि विषयोंकी उपलब्धिका हेतु एवं लक्षणासे आत्माका अवबोधक होनेसे भी इसको लिङ्ग शरीर कहते हैं।

कारण शरीर—अज्ञान ही कारण शरीर है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंका कारण होनेसे अज्ञानको कारण शरीर कहते हैं। इसका स्वरूप पहिले कहा गया है। तत्त्वज्ञानसे भस्म हो जाता है इससे भी इसको कारण देह कहते हैं।

ईश्वरके शरीर तथा कोशोंका वर्णन

समष्टि अज्ञानरूप माया ही ईश्वरका कारण शरीर है। वही ईश्वरका आनन्दमय कोश भी है। जीवोंके सूक्ष्म शरीर समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ईश्वरका सूक्ष्म शरीर है। इसीमें ईश्वरके विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोशका अन्तर्भाव है। श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवतारूप दिक्पाल, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार ईश्वरके पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं। समष्टि बुद्धिमय महत्तत्त्व अथवा सर्वबुद्ध्यभिमानी ब्रह्मा ही ईश्वरकी बुद्धि है। यह सब मिलकर ईश्वरका विज्ञानमय कोश है। पूर्वोक्त श्रोत्रादिके अधिष्ठातृ-देवता जो ईश्वरके ज्ञानेन्द्रिय कहे गये हैं तथा समष्टि मनोमयरूप अहङ्कार अथवा सर्वमनोऽभिमानी चन्द्रमारूप ईश्वरका मन—यह सब मिलकर ईश्वरका मनोमय कोश है। अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यमात्मक पञ्च कर्मेन्द्रिय एवं समष्टि प्राण अथवा वाय्वभिमानी देवता जो ईश्वरका प्राण है यह मिलकर ईश्वरका प्राणमय कोश कहलाता है। समष्टि स्थूल सृष्टिरूप विराट् ही ईश्वरका स्थूल शरीर है। यही विराट् ईश्वरका आनन्दमय कोश है।

पञ्चकोश—माता-पिताके उपभुक्त अन्न-रसके परिणाम शुक्र तथा शोणितके सम्बन्धसे माताके उदरसे उत्पन्न एवं जन्मके अनन्तर भी दुग्ध-शाकादिरूप अन्नसे वर्धित और मरणानन्तर भी अन्नरूप पृथिवीमें लय

होनेवाला यह स्थूल देह ही अन्नमय कोश कहलाता है। रजोगुणके अवस्था-विशेष जो कि आपाद मस्तकपर्यन्त स्थूल देहमें व्याप्त होकर अपने बलसे कर्मेन्द्रियोंको अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त करनेवाले हैं वे पञ्च प्राण और पञ्च कर्मेन्द्रिय—इनका नाम प्राणमय कोश है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय एवं मन—कर्मेन्द्रियोंसे व्यापार करानेवाले इच्छादिरूप रजोगुणकी वृत्तिसहित होनेसे सत्त्व और रजोगुणके अवस्थाविशेष ही मनोमय कोश कहे जाते हैं। केवल सत्त्वगुणके अवस्थाविशेषका नाम विज्ञानमय कोश है। इस प्रकार अवस्थाविशेषके भेद होनेसे ये तीनों कोश एक ही सूक्ष्म शरीरमें वर्णन किये गये हैं। आनन्द ही आत्माका स्वरूप है, आत्मस्वरूप आनन्द एवं प्रतिबिम्ब-सहित प्रिय-मोद-प्रमोदरूप वृत्तिके लयकी अवधिभूत जो अविद्या है वही कारण शरीर है। यही आनन्दमय कोश है। इष्ट वस्तुके दर्शनसे जो वृत्ति होती है उसका नाम प्रिय है, तल्लाभजन्य वृत्ति मोद है, इसीमें प्रकृष्ट (विशेष) हर्षका नाम प्रमोद है। प्रिय, मोद और प्रमोद ये वृत्तियाँ जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें पुण्यकर्मके फलभूत सुखानुभवकालमें उद्भूत होती हैं। सुषुप्तिमें यह सब वृत्तियाँ अपने कारण अज्ञानमें लय हो जाती हैं। इस प्रकारके अज्ञानका नाम आनन्दमय कोश है। इनमें अन्नमय कोश भोगका स्थान है। सूक्ष्म शरीर भोगका साधन है। इसमें भी प्राणमय कोश क्रियाशक्तिमान् होनेसे कार्यरूप होता है। एवं मनोमय कोश इच्छाशक्तियुक्त होनेसे कारणरूप है। ज्ञानशक्तिसम्पन्न विज्ञानमय कोश कर्तृरूप होता है और आनन्दमय कोश भोक्ता कहलाता है।]

विरोचनका सिद्धान्त (अन्नमयकोशात्मवाद)

विरोचन मतानुसारी कई पामर जन कहते हैं कि अन्नमय कोश (स्थूल शरीर) ही 'आत्मा' है। इसमें यह युक्ति भी देते हैं। (१) जिसमें अहंबुद्धि होती है वही आत्मा है। वह अहंबुद्धि इस स्थूल शरीरमें उत्पन्न होती है। 'अहं मनुष्यः' 'अहं ब्राह्मणः' यह अनुभव हम सबको प्रत्यक्ष होता है। मनुष्यत्वब्राह्मणत्वादि धर्म स्थूल शरीरका ही है।

अतः अहंबुद्धिका विषय यह स्थूल शरीर ही आत्मा है। अथवा जिसमें मुख्या वृत्तिसे प्रतीति हो, वह (स्थूल शरीर) आत्मा है। जैसे स्त्री, धन, पशु आदि ये सब स्थूल देहका उपकार करते हैं इसलिये इनमें प्रीति होती है। यदि ये सब इस स्थूल देहका उपकार न करें तो इनमें प्रीति नहीं होती है। जिसके लिये अन्य (दूसरे) में प्रीति न हो उसी स्थूल देहमें मुख्य प्रेम सबको होता है। तात्पर्य यह कि अपने लिये सबमें प्रीति होती है, किन्तु आत्मा (देह) में प्रीति अन्यके लिये नहीं होती; अतः मुख्य आत्मा स्थूल देह ही है। इसीलिये वस्त्राभरण, अन्न-पानादि नाना उपकरणोंसे इस स्थूल शरीरको ही अलंकृत करके पोषण करना परम पुरुषार्थ है, यह असुरराज विरोचनका सिद्धान्त (मत) है।

[**चार्वाकमत**—इनका कहना है कि वायु आदि भूतचतुष्टयका संघात ही देहात्मरूपमें बन जाता है। इसमें ये युक्तियाँ देते हैं कि (१) अहंबुद्धिका जो विषय है वही आत्मा है। 'अहं मनुष्यः' 'अहं स्थूलः' 'अहं कृशः' 'अहं ब्राह्मणः' इत्यादिके अनुभवमें मनुष्यत्वादि धर्मविशिष्ट स्थूल देह ही विषय होता है अतः यही स्थूल देह आत्मा है। (२) अथवा परम प्रेमका जो विषय है वह आत्मा है। इस स्थूल देहके उपकारक होनेके कारण पुत्र, मित्र, कलत्रादि प्रिय होते हैं इसलिये इनमें प्रेम गौण है, गौण होनेसे प्रेम है किन्तु परम प्रेमका आस्पद होनेसे यह स्थूल देह ही आत्मा है। (३) इस स्थूल देहके अलंकरण-पोषण-पालन आदिसे जन्य भोग ही परमपुरुषार्थ है। (४) मरण ही मोक्ष है। (५) प्रत्यक्ष ही प्रमाण है अन्य वेदादि प्रमाण नहीं है।

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतशरीरस्य पुनरागमनं कुतः॥

चार्वाकमत-खण्डन

यह चार्वाक मत असंगत है—(१) 'अहं पश्यामि' 'अहं वदामि' इत्यादि व्यवहारमें इन्द्रियोंको भी अहंबुद्धिके विषयरूपमें देखा जाता

है। (२) 'मम देहः कृशः' इत्यादि व्यवहारमें यह स्थूल देह ममताका भी विषय होता है। लोकमें देखा जाता है कि जो ममताका विषय होता है वह अहंताका विषय नहीं हो सकता। इस प्रकार स्थूल देहमें अहंबुद्धिविषयताका व्यभिचार होनेसे यह स्थूल देह आत्मा नहीं है। (३) पुत्र-कलत्रादिकी अपेक्षा स्थूल देहमें अधिक प्रेम होनेपर भी देहसे अधिक प्रेम इन्द्रियोंमें देखा जाता है। अतः परमप्रेमके आस्पदत्वका अभाव होनेसे भी स्थूल देह आत्मा नहीं हो सकता। (४) आत्मा तो चेतन ही हो सकता है। जड भूतोंके संघातरूप देहमें चैतन्याभाव होनेके कारण भी देह आत्मा नहीं है। (५) कत्था, सुपारी आदिके चूर्णसे युक्त ताम्बूलमें जैसे लालिमा उत्पन्न करनेकी शक्ति है उसी प्रकार भूतसमुदायात्मक देहमें ज्ञानशक्ति है यह कहना भी उचित नहीं है। यदि जड भूतोंके समुदाय देहमें ज्ञानशक्ति है तब तो भूतोंके समुदायरूप घटमें भी चैतन्य होना चाहिये। किन्तु घटादिमें चैतन्य नहीं है। इसलिये भी स्थूल देह आत्मा नहीं है। (६) सुषुप्ति, मूर्च्छा-मरण आदि अवस्थामें घटादिके समान देह भी जड होता है। अतः जड देह आत्मा नहीं हो सकता। (७) यदि देह आत्मा होता तो बाल देहसे भिन्न यौवन अवस्थाके देहमें 'सोऽहम्' यह प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिये, किन्तु प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिये भी देह आत्मा नहीं है। (८) जन्म-मरणादियुक्त देहकी जन्मसे पूर्व और मरणके पश्चात् सत्ता नहीं रहती, किन्तु आत्मा सदा बना रहता है। अन्यथा कृतनाश और अकृताभ्यागमका भी प्रसंग होगा। अतः देह आत्मा नहीं है। (९) देहके अलंकरण-पालन-पोषणजन्य भोग ही परमपुरुषार्थ है यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है। जो इच्छाका विषय है वही पुरुषार्थ कहा जाता है। यह इच्छा सबको सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्तिकी ही होती है। इसीका नाम पुरुषार्थ है। इसमें भी सर्व सुखकी अपेक्षा जो अधिक सुख और आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति है, इसीको परम पुरुषार्थ कहते हैं। इस प्रकार निरतिशय सुखकी प्राप्ति और आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति मोक्षमें ही होती है। विषयभोगमें तो अनित्यत्वादि दोष

होनेसे परमपुरुषार्थ नहीं होता। (१०) देहको आत्मा माननेपर मरणके अनन्तर देह जल जानेपर मोक्षान्वयी देहरूप आत्माके अभावमें मरण मोक्ष है यह शब्द ही निरर्थक हो जाता है। (११) भावी भोजनादिमें तृप्तिका ज्ञान तो अनुमानसे सिद्ध होता है। देशान्तरमें मृत पिताके मरणका ज्ञान तो आप्तवाक्यरूप शब्दप्रमाणसे सिद्ध होता है। अतः प्रत्यक्षमात्र ही प्रमाण है यह कहना हठ ही है। इस प्रकार देहात्मवादी चार्वाकका मत असंगत है।]

इन्द्रियात्मवाद

दूसरे किसीका मत है कि स्थूल देह आत्मा नहीं है, किन्तु जिसके सद्भावमें स्थूल देहका जीवन-व्यवहार होता है और जिसके अभावमें मरण-व्यवहार होता है वही आत्मा है। वह स्थूल देहसे पृथक् है। जीवन-मरणका व्यवहार इन्द्रियोंके अधीन होता है। शरीरमें जबतक इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारमें सक्षम होती हैं तबतक यह जीता है यह व्यवहार होता है। जिस-किसी इन्द्रियका नाश होनेपर 'अयं मृतः' यह व्यवहार होता है। और भी बात है कि 'अहं पश्यामि' 'अहं वदामि' इत्यादि व्यवहार 'अहं' ज्ञानेन्द्रियमें ही होता है। अतः अहंबुद्धिका विषय इन्द्रियाँ ही आत्मा है।

इन्द्रियात्मवादका खण्डन

[चार्वाकके एकदेशी लोकायतिक इन्द्रियात्मवादी हैं। इनका मत भी असंगत ही है। (१) इनका कहना है कि जिसके अभावमें शरीर नहीं रहे वह आत्मा है। श्रोत्र, नेत्र, वाक्, पादादिके अभावमें भी बधिर, अन्ध, मूक, पङ्गुरूपमें शरीर जीता ही है। अतः इन्द्रिय आत्मा नहीं है। (२) 'अहं पश्यामि' 'अहं वदामि' इत्यादि व्यवहारमें इन्द्रिय 'अहं' बुद्धिका विषय होता है। अतः इन्द्रिय ही आत्मा है—ऐसा जो कहा जाता है, इसपर कहना यह है कि 'चक्षुष्मानहं पश्यामि' इतनामात्र वक्ताका अभिप्राय है। मैं चक्षुरूप हूँ यह अभिसन्धि नहीं है। अतः वहाँ अहं-

अनुभवका विषय चक्षु आदि इन्द्रियोंसे पृथक् ही होता है। और भी बात है कि 'मम चक्षुस्तीक्ष्णम्' 'मम चक्षुर्मन्दम्' इत्यादि स्थलमें चक्षु आदि इन्द्रिय ममताका विषय देखा जाता है इससे उनमें अहंताका व्यभिचार होता है। अतः इन्द्रियाँ आत्मा नहीं है। (३) जो जिसको जानता है वह वेत्ता वेद्यसे विलक्षण होता है। (४) मनके व्याकुल होनेपर श्रोत्रादि जड इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंको ग्रहण नहीं करतीं। इस कारण भी इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हो सकती हैं (५) उपर्युक्त इन कारणोंके रहते हुए भी जो हठसे इन्द्रियोंको चेतन कहते हैं, उनसे यह पूछना चाहिये कि एक इन्द्रिय चेतन है अथवा सब इन्द्रियोंका समुदाय चेतन है, अथवा प्रत्येक सब इन्द्रियाँ चेतन हैं। प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि यदि इन्द्रियको चेतन मानो तो इन्द्रियके अभावमें भी ज्ञान और जीवन देखा जाता है। अतः एक इन्द्रिय चेतन है यह प्रथम पक्ष असंगत है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियसमुदायमें एक इन्द्रियका नाश होनेसे समुदायका नाश उपस्थित होता है। अतः समुदायके अन्तर्गत एक इन्द्रियका नाश होनेपर समुदायके नाशसे ज्ञान एवं जीवनका विलय होना चाहिये। किन्तु विलय होता नहीं है। अतः इन्द्रियसमुदाय चेतन है—यह कहना भी असंगत है। तृतीय पक्षमें प्रत्येक इन्द्रियको आत्मा स्वीकार करनेपर एक देहमें दस चेतन आत्मा स्वीकार करना होगा। दसोंकी विरुद्ध इच्छा होनेसे विरुद्ध इच्छावाले नाना चेतनोंसे अधिष्ठित यह शरीर दस मतवाले हाथियोंके बन्धन-स्तम्भके तुल्य उन्मथित हो जायगा। इस प्रकार इन्द्रियोंके अचेतन होनेसे इनका आत्मत्व युक्त नहीं है। (६) श्रुतियोंमें प्रसिद्ध इन्द्रियोंके संवादको इन्द्रियाभिमानी देवताविषयक जानना चाहिये। अतः वे श्रुतियाँ इन्द्रियोंके चेतनत्वमें प्रमाण नहीं हैं। उपर्युक्त कारणोंसे इन्द्रियात्मवाद असंगत है।]

प्राणात्मवाद

हिरण्यगर्भकी उपासना करनेवाले प्राणको ही आत्मा कहते हैं। इस विषयमें यह युक्ति भी देते हैं कि मरणसमयमें मूर्च्छितके प्राण रहनेपर 'यह जीवित है' कहते हैं तथा प्राणके अभावमें 'मर गया है' यह निश्चय करते हैं। तथा चक्षु, श्रोत्र और वागादि इन्द्रियोंके अभावमें एवं तत्तद् इन्द्रियोंके व्यापारसे उपरम होनेपर भी अन्ध, बधिर तथा मूकोंके शरीर यथावत् स्थित ही रहते हैं। प्राणोत्क्रमण होनेपर तो शरीर तत्क्षण ही गिरकर भयङ्कर श्मशानके तुल्य अमङ्गल हो जाता है। और भी बात है कि 'चक्षुष्मानहं पश्यामि' 'श्रोत्रवानहं शृणोमि' इस व्यवहारसे इन्द्रियोंसे विलक्षण आत्मा सिद्ध होता है। वह आत्मा कौन है इस जिज्ञासामें सुषुप्तिमें समस्त इन्द्रियोंके उपरम होनेपर भी प्राण जागता है। प्राण रहनेसे ही 'अयं जीवति' यह जीवित है यह व्यवहार होता है। स्थूल शरीर-से प्राणका वियोग होनेपर तो 'अयं मृतः' यह मर गया कहते हैं। तात्पर्य यह कि जीवन-मरणका व्यवहार इस शरीरमें प्राणके सद्भाव और असद्भाव-के ही अधीन है—प्राण रहते जीवन एवं प्राणके अभावमें मरण होता है। अतः प्राण ही आत्मा है यह निश्चित है।

प्राणात्मवादका खण्डन

[(१) समष्टि प्राण हिरण्यगर्भ-उपासकोंका मत असंगत है। बाह्य वायुके समान प्राण भी वायुविशेष होनेसे आत्मा नहीं है। (२) प्राणका अदर्शन ही मरणमें कारण होता है यह नियम नहीं है। वृक्षादिमें प्राणके न देखे जानेपर भी जीवन देखा जाता है। कभी-कभी मूर्च्छावस्थामें मनुष्यको भी प्राणका अभाव देखा जाता है तथापि मनुष्य मरता नहीं है, किन्तु जीवित ही रहता है। इसलिये भी प्राण आत्मा नहीं है। (३) सुषुप्ति अवस्थामें प्राण रहनेपर भी धनापहारी चोरोंका निवारण नहीं करता तथा आये हुए बन्धुजनोंका सत्कार भी नहीं करता। अतः प्राण जड है, जड होनेसे प्राण आत्मा नहीं है। (४) देहसे बाहर प्राण निकलनेपर देहका मृतत्व प्रसिद्ध है, अतः प्राण आत्मा है यह कहना भी असंगत है। देहसे जाठराग्निके निकलनेपर प्राण रहते भी मरण प्रसिद्ध है। अतः प्राणोत्क्रमणमें मरण-

प्रसिद्धिका व्यभिचार होता है। श्रुतियोंमें प्राणको श्रेष्ठ कीर्तन किया गया है, यह प्राणोपासनाविधिके स्तुत्यर्थ अर्थवाद है। (५) श्रुतियोंमें प्राणमयादि कोशोंको आत्मा कहा गया है वह स्थूलारुन्धतीन्यायसे सर्वान्तर प्रत्यगभिन्न अधिष्ठानरूप ब्रह्मके दर्शनार्थ है यह जानना चाहिये। श्रुतिमें इन्द्रियोंके साथ प्राणका संवाद तथा देहमें प्रवेशका वर्णन भी प्राणाभिमानी देवताके अभिप्रायसे ही है। 'क्षुधाके कारण मेरा प्राण निकलता है' 'भोजनसे मेरा प्राण तृप्त होता है' इत्यादि व्यवहारसे प्राण ममताका विषय होता है, अहंताका विषय नहीं होता है। अतः प्राण आत्मा नहीं है। अपने प्राणके बाहर-भीतर आने-जानेका ज्ञान भी होता है, अतः जिसको प्राणके आने-जानेका ज्ञान होता है वह प्राणसे अन्य साक्षी आत्मा है यह बात सिद्ध हो गयी।]

मनआत्मवाद

कोई कहते हैं कि प्राण जड है। अतः जैसे घटादि आत्मा नहीं है उसी प्रकार वह आत्मा नहीं हो सकता। बन्ध-मोक्ष मनके अधीन हैं। विषयासक्त मन बन्धका हेतु है तथा विषयवासनाशून्य मन मोक्षका कारण है। मनके सम्बन्धसे ही इन्द्रियोंमें अपने-अपने विषयके ज्ञानका सामर्थ्य होता है। अन्यथा मनके अभावमें विषयग्रहणका सामर्थ्य नहीं रहता। अतः समस्त व्यवहारका कारण होनेसे मन ही आत्मा है।

मनआत्मवादका खण्डन

[(१) नारदपाञ्चरात्रतन्त्रानुसारी मनको ही आत्मा कहते हैं। किन्तु मन भी आत्मा नहीं हो सकता। (२) मन भी टङ्कवास्यादि (वसुला आदि शस्त्रविशेष) के समान करण होनेसे आत्मा नहीं है। सुषुप्ति आदिमें मनके अभावमें भी सामान्य चेतनकी सत्ता रहती ही है। "सति मनसि चैतन्यं तदभावे तदभावः" यह अन्वय-व्यतिरेक भङ्ग होनेसे मन चेतन नहीं ठहरता किन्तु जड है। इसलिये मन आत्मा नहीं हो सकता। (३) 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, अब वापस आ गया है' इस व्यवहारसे मन

ममताका विषय भी होता है, अहंताका विषय नहीं होता। (४) अतः मनके स्थैर्य और चाञ्चल्यादिका वेत्ता साक्षिभूत आत्मा मनसे विलक्षण सिद्ध हो जाता है। (५) चैतन्याभाससहित ही मन भोक्ता है, स्वतन्त्र भोक्ता नहीं है। अतः अभोक्ता होनेसे मन आत्मा नहीं है।]

विज्ञानवादी बौद्धका मत

क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि मनका व्यापार बुद्धिके अधीन होता है। क्योंकि मन बुद्धिके आकारका ही है, अतः क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि ही आत्मा है। मन आत्मा नहीं है। इनके कथनका अभिप्राय यह है कि सकल पदार्थ विज्ञानके आकारके ही होते हैं। वह विज्ञान प्रकाशरूप है। प्रतिक्षण विज्ञान उत्पन्न होकर विनष्ट होता रहता है। पूर्व विज्ञानके समान ही अन्य विज्ञान उत्पन्न होता है। तदनन्तर पूर्व विज्ञानका नाश हो जाता है। उसी प्रकार तृतीय विज्ञान उत्पन्न होनेपर द्वितीय विज्ञानका नाश होता है। चतुर्थ विज्ञान उत्पन्न होनेसे तृतीय विज्ञानका नाश होता है। इस प्रकार नदी-प्रवाहवत् विज्ञानकी धारा अविच्छिन्नरूपसे चलती रहती है। वह विज्ञानकी धारा दो प्रकारकी होती है। एक आलयविज्ञानधारा, दूसरी प्रवृत्तिविज्ञानधारा। 'अहं' 'अहं' इस विज्ञानधाराको आलयविज्ञान-धारा कहते हैं। उसीको बुद्धि कहते हैं। 'अयं घटः' 'अयं पटः' इस विज्ञानधाराको प्रवृत्तिविज्ञानधारा कहते हैं। आलयविज्ञानधारासे प्रवृत्ति-विज्ञानधारा उत्पन्न होती है। मनका स्वरूप भी प्रवृत्तिविज्ञानधाराके अन्तर्भूत होता है। अतः मन आलयविज्ञानधारारूप बुद्धिका कार्य है। वह बुद्धि ही आत्मा है। आलयविज्ञानधारासे प्रवृत्तिविज्ञानधाराके बाध-चिन्तनसे निर्विशेष क्षणिक विज्ञानधाराकी स्थिति सिद्ध होती है। वह स्थिति ही इनके मतमें मोक्ष है। इस प्रकार विज्ञानवादी बुद्धिको क्षणिक और स्वयंप्रकाशरूप कल्पना करके उस बुद्धिको ही आत्मा कहते हैं।

विज्ञानवादीके मतका खण्डन

[बुद्धके शिष्य योगाचारके अनुसारी क्षणिक विज्ञानस्वरूप बुद्धिको ही

२३२ : वेदान्त-तत्त्व-विचार

आत्मा कहते हैं। किन्तु इनका मत भी असंगत है। (१) जैसे रूपादिके ज्ञानरूप कार्यके प्रति नेत्रादि इन्द्रियाँ साधन हैं वैसे ही बुद्धि निश्चयरूप कार्यके प्रति साधन है अतः वह आत्मा नहीं हो सकती। किन्तु सर्व पदार्थों-के विषयमें निश्चयात्मिका बुद्धिका जो साक्षी है वही आत्मा है। (२) वह आत्मा स्वयं स्वप्रकाशरूप होनेसे सदा भासित होता है। अतः भास्य-रूपादिके भासक सूर्यादि जैसे भास्यसे विलक्षण हैं, उसी प्रकार भास्य बुद्धिका भासक आत्मा बुद्धिसे विलक्षण सिद्ध होता है। जैसे दीपादिका प्रकाश भास्य घटादिके सम्बन्धसे घटादिके आकारका होकर मिला-जुला भासमान होनेपर भी वस्तुतः घटादिसे विलक्षण ही होता है। उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा बुद्धिवृत्तिसे सम्बन्धित होकर तदाकाररूपमें एकरूपसे भासमान होते हुए भी परमार्थतः बुद्धिवृत्तिसे विलक्षण नित्य, शुद्ध, असंग, चिन्मात्ररूप है। (३) अपञ्चीकृत भूतोंके समष्टि सत्त्वगुणके कार्यभूत अन्तःकरणकी निश्चयात्मिका वृत्तिका नाम बुद्धि है। संकल्प-विकल्परूप वृत्तिको मन कहते हैं। अतः बुद्धि अन्तःकरणसे पृथक् नहीं है। इसीलिये भौतिक अन्तःकरणसे अभिन्न बुद्धि भी भौतिक होनेसे देह, इन्द्रिय एवं मनके समान अनात्मा ही सिद्ध होती है। (४) कठोपनिषद्की तृतीय वल्लीमें आत्माका रथके स्वामी और बुद्धिका सारथिके रूपमें वर्णन देखा जाता है। (५) 'मेरी बुद्धि इस समय मन्द है, इस समय तीक्ष्ण है' इत्यादि व्यवहारमें बुद्धि ममताका विषय है, अहंताका विषय नहीं है। अतः बुद्धि आत्मा नहीं है। (६) आत्मा क्षणिक है यह विज्ञानवादियोंका कहना भी अत्यन्त असंगत है। आत्माको क्षणिक माननेसे उत्तमर्ण (ऋणदाता) गतवर्षमें दिये हुए धनको इस वर्षमें अधमर्ण (ऋण लेनेवाले) से नहीं ले सकता है। प्रथम क्षणमें भोजन करनेवाला दूसरे क्षणमें 'मैं तृप्त हूँ' यह भी नहीं कह सकता है। क्योंकि आत्मा क्षणिक होनेसे गत वर्षमें धन देनेवाला उत्तमर्ण और पूर्व क्षणमें भोजन करनेवाला पुरुष इस कालमें नहीं है। अतः आत्मा क्षणिक नहीं है। (७) आत्माको क्षणिक माननेसे मोक्षका समस्त साधन-कलाप व्यर्थ हो जायगा।]

आनन्दमय कोश ही आत्मा है

पूर्वमीमांसाके वार्तिककार भट्ट कहते हैं कि विद्युल्लेखाके समान आत्मा क्षणिक नहीं है, किन्तु स्थिर है। वह आत्मा जडरूप तथा प्रकाशरूप भी है। इनका आशय यह है कि सुषुप्तिसे उठकर मनुष्य कहता है कि—'इतने समयतक मैं जड और निस्संज्ञ हुआ सोता रहा' इससे आत्मा जडरूप सिद्ध होता है। और सुषुप्तिसे उठनेपर स्मृति भी होती है। अननुभूत वस्तुकी स्मृति नहीं होती है। सुषुप्तिमें आत्मस्वरूपसे भिन्न कुछ भी ज्ञानका साधन नहीं है। अतः सुषुप्तिके अनन्तर भविष्यमें होनेवाली स्मृतिका कारण सौषुप्त ज्ञानको ही कहना चाहिये। सुषुप्ति कालमें जो ज्ञान है वह आत्मस्वरूप ही है। इस प्रकार आत्मा खद्योत (जुगुनू कीटविशेष) के समान प्रकाशरूप एवं अप्रकाशरूप भी है। ज्ञानरूप होनेसे प्रकाशरूप तथा जड होनेसे अप्रकाशरूप है। आनन्दमय कोश ही प्रकाशरूप और अप्रकाश-रूप दोनों है। सुषुप्तिमें चैतन्याभाससहित अज्ञान ही आनन्दमय कोश है। इसमें चिदाभास प्रकाशरूप है और अज्ञान अप्रकाशरूप होता है। अतः भट्टके मतमें आनन्दमय कोश ही आत्मा है।

माध्यमिक बौद्धमत (आनन्दमयकोश आत्मा)

शून्यवादी बौद्धोंका कहना है कि आत्मा निरंश है। अतः एक ही आत्मामें प्रकाशरूपता एवं अप्रकाशरूपता नहीं बन सकती है। खद्योत (जुगुनू) तो सावयव है अतः उसका एक अवयव प्रकाशरूप और दूसरा अवयव अप्रकाशरूप होता है। किन्तु निरंश आत्मामें विरुद्ध दो रूप कहना युक्त नहीं है। यदि दो रूप सिद्धिके लिये सावयव स्वीकार करें तो सावयव घटादिकी उत्पत्ति और विनाशके तुल्य आत्माकी भी उत्पत्ति और विनाशका प्रसंग उपस्थित होगा। जो वस्तु उत्पत्ति-विनाशवान् होती है वह उत्पत्तिसे प्राक् और विनाशके पीछे असत् होती है। आदि-अन्तमें जो असत् होती है वह वस्तु मध्यमें भी असत् ही होती है—"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा"। अतः उत्पत्ति-

विनाशवान् होनेसे आत्मा असत्-रूप होगा। उसी प्रकार आत्मासे भिन्न सकल पदार्थ उत्पत्ति-विनाशवाला होनेसे असत्-रूप ही है। इसीलिये आत्मा और अनात्मा समस्त पदार्थ असत्-रूप होनेसे शून्य ही परम तत्त्व है। यह माध्यमिक बौद्धका मत है।

ये लोग भी अज्ञानको ही आनन्दमय कोश प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि दृष्टिभेदसे अज्ञान तीन रूपसे प्रतीत होता है। (१) अद्वैत-शास्त्रसंस्काररहित व्यक्तिको जगदाकाररूपमें परिणत अज्ञान सद्रूप भान होता है। (२) अद्वैत-शास्त्रानुसारी युक्तिकुशल पण्डितोंको अज्ञान और अज्ञानका कार्य जगत् सदसत्से विलक्षण अनिर्वचनीय प्रतीत होता है। (३) ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त जीवन्मुक्त विद्वान्को अज्ञान तथा अज्ञानका कार्य तुच्छरूप प्रतीत होता है। तुच्छ, असत् और शून्य तीनों शब्द समानार्थक हैं। पञ्चदशीमें कहा भी है—

> माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात्।
> अनुभूतिस्तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम्॥
> जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः।
> आबालगोपं स्पष्टत्वादानन्त्यं तस्य साब्रवीत्॥
> इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत् सर्वैरप्यनुभूयते।
> युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतिः॥
> नासदासीद्विभातत्वात् नो सदासीच्च बाधनात्।
> विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः॥
> तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
> ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥

इस प्रकार जीवन्मुक्तोंको अज्ञान तुच्छरूपसे प्रतीयमान होते हुए भी मोहको प्राप्त शून्यवादी परमपुरुषार्थ लाभ नहीं करते। किन्तु तुच्छरूप आनन्दमय कोशको ही आत्मा कहते हैं।

भट्टमत-खण्डन

[यह आत्मा चिज्जडात्म है यह पक्ष भी असंगत है। क्योंकि 'अयं अन्धकारः प्रकाशः' 'अयं पुरुषः स्थाणुः' इनके समान एक वस्तुमें चिज्जडका विरोध होता है। दो अंश स्वीकार करके दोनों अंश अनुभव-गोचर नहीं होते। किन्तु जडांश ही अनुभव होता है, चेतनांश अनुभव नहीं होता यह कहना युक्त नहीं है। जैसे दण्डमात्रके दर्शनसे यह दण्डी है यह ज्ञान नहीं होता है। किन्तु दण्ड एवं पुरुष दोनोंके साथ दर्शनसे यह दण्डी है ऐसा ज्ञान होता है। उसी प्रकार जडांशमात्र दर्शनसे चिज्जडात्मक आत्मा है यह सिद्ध नहीं होता। चेतनांशका भी अनुभव स्वीकार करनेपर जाड्यांश उसमें कल्पित है यह कहना चाहिये। हठसे दोनों अंशोंको सत्य स्वीकार करनेपर जड और चेतनका परस्पर कौन सम्बन्ध होगा? संयोग सम्बन्ध अथवा तादात्म्य अथवा विषयविषयीभाव? यह पूछना चाहिये।

प्रथम पक्षमें अनित्य सावयव ही दो वस्तुका संयोग सम्बन्ध होता है इस नियमसे आत्माके अनित्य होनेका प्रसंग होगा। द्वितीय पक्ष स्वीकार करनेपर चिज्जड एक ही आत्माका स्वरूप होनेसे चिदंश जड होगा तथा जडांश भी चित् होगा। तृतीय पक्ष माननेपर घट एवं घट-ज्ञानके दोनों अंश अनात्मा होंगे। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० ३।९।२८) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० ३।१) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० ब्र० १) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध ज्ञानमात्रस्वरूप आत्माका अर्धांश जड है इस अभ्युपगममें कोई प्रमाण नहीं है। सुप्तोत्थितको "जडो निःसंज्ञोऽहमस्वाप्सम्" यह आत्माका जडत्व सम्पादन करनेवाली स्मृति कही गयी, उसका तात्पर्य यह है कि चेतन आत्मा सौषुप्त अज्ञानको ही विषय करता है। अतः आत्माके जड तथा चेतन दो अंश हैं यह मत असंगत है।

'सब शून्य है, शून्य ही पर तत्त्व है, सुषुप्तिकालीन अज्ञानरूप आनन्दमय कोश ही आत्मा है' यह माध्यमिक मत भी अत्यन्त असंगत है।

क्या शून्य साक्षिसहित है, अथवा साक्षिरहित है किंवा स्वप्रकाश है ? यह तीन विकल्प होता है। प्रथम पक्षमें जो शून्यका साक्षी है, वही शून्यसे विलक्षण आत्मा सिद्ध होता है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करनेपर साक्षिरहित होनेसे शून्य ही सिद्ध नहीं होता है। तृतीय पक्षमें स्वप्रकाश माननेपर हमारा अभीष्ट ब्रह्म ही 'शून्य' इस नामान्तरसे कहा जाता है यह सिद्ध होता है। ऐसी स्थितिमें शून्यवाद असंगत है।

"असद्वा इदमग्र आसीत्" "असदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादि वाक्योंका पूर्वापर विचार करनेपर विरोध होनेसे ये शून्यवादका प्रतिपादन नहीं करते हैं। किन्तु नैयायिक, वैशेषिक और बौद्धादि प्रागभावादिको जगत्के कारण वर्णन करते हैं, उन्हींका अनुवाद करके उनके विपरीत सत् कारणके कहनेमें श्रुतिका तात्पर्य है। **'असत्–अनभिव्यक्तनामरूपात्मकं, इदं–जगत्, अग्रे–प्राक् सृष्टेः, आसीत्'** यह श्रुतिका अर्थ है। अभिप्राय यह कि सृष्टिके पूर्व यह जगत् नाम-रूपसे व्यक्त नहीं था। इस प्रकारसे भी शून्यवाद असंगत है। बौद्ध चार हैं—(१) माध्यमिक शून्यवादी, (२) योगाचार क्षणिक विज्ञानवादी, (३) सौत्रान्तिक अनुमेयबाह्यपदार्थवादी, (४) वैभाषिक प्रत्यक्षबाह्यार्थवादी।]

प्रभाकर एवं नैयायिकोंका मत (आनन्दमयकोश आत्मा)

पूर्वमीमांसकके एकदेशी प्रभाकर तथा नैयायिकोंका कहना है कि आत्मा शून्य नहीं है। आत्माको शून्यरूप कहनेवालोंसे पूछना चाहिये कि शून्यरूपको आप अनुभव करते हैं कि नहीं। यदि शून्यरूप अनुभूत होता है तो जो शून्यरूपका अनुभव करता है वह ही आत्मा है। और वह शून्यसे विलक्षण भी है। यदि शून्यका अनुभव नहीं होता तब तो शून्य ही नहीं है। इस रीतिसे शून्यसे विलक्षण आत्मा सिद्ध होता है। उस आत्मा-का मनसे संयोग होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञानरूप गुणसे आत्मा चेतन होता है। स्वरूपसे तो आत्मा जड है। सुख-दुःख, इच्छा-प्रयत्न, धर्माधर्म भी आत्माके गुण हैं।

इनके मतमें भी आनन्दमय कोश ही आत्मा है। विज्ञानमय कोशमें स्थित बुद्धिको भी आत्माका ज्ञानरूप गुण ही कहते हैं। क्योंकि आनन्दमय कोशमें चैतन्य छिपा रहता है। विवेकहीनको वह प्रतीत नहीं होता। अतः प्रभाकर और नैयायिक सुषुप्तिमें आत्माको ज्ञानहीन मानते हुए आत्माको जड कहते हैं। इसलिये गूढ चैतन्य आनन्दमय कोशमें ही उनको आत्मत्व-की भ्रान्ति है। दूसरी बात यह कि उनके मतमें आत्मस्वरूप नित्य ज्ञान जीवमें नहीं माना जाता किन्तु जीवमें अनित्य ज्ञान माना जाता है। वह अनित्य ज्ञान सिद्धान्तमें अन्तःकरणकी वृत्तिरूप बुद्धिमें होता है। इस प्रकार प्रभाकर और नैयायिकोंके मतमें आनन्दमय कोश आत्मा है। बुद्धि उस आत्माका गुण है।

यह मत भी समीचीन नहीं है। क्योंकि ज्ञानसे भिन्न जो-जो जड वस्तु घटादि है, वह सब अनित्य है। यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं हो तो वह घटादिके तुल्य जड और अनित्य होगा। आत्माको अनित्य स्वीकार करने-पर मोक्षार्थीका अभाव होगा तथा मोक्षके सभी साधन निष्प्रयोजन हो जायँगे।

इस प्रकार वेदान्त-वाक्योंमें श्रद्धा न रखनेवाले गुरु-सम्प्रदायशून्य बहिर्मुख पुरुष पञ्चकोशमेंसे ही एक किसीको अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार आत्मा मानते हुए मुख्य आत्मा साक्षीको नहीं जानते हैं। अतः अन्न-मयादि आत्माका आच्छादन करनेवाले होनेसे इनका नाम कोश कहा गया है।

ईश्वरीय पञ्चकोशसे ईश्वरस्वरूपका आच्छादन

जैसे जीवके पञ्चकोश जीवके यथार्थ स्वरूप साक्षीको आच्छादन करते हैं वैसे ही ईश्वरके समष्टि पञ्चकोश ईश्वरके यथार्थरूपका आच्छादन करते हैं। ईश्वरका यथार्थ स्वरूप तो जो तत्पदका लक्ष्य है वही है। इस श्रौतार्थ-को छोड़कर कोई-कोई मायिक आनन्दमयकोशविशिष्ट अन्तर्यामीको ही, जो कि तत्पदवाच्य है, परमतत्त्व कहते हैं। तथा दूसरे कोई हिरण्यगर्भ,

वैश्वानर, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, देवी, सूर्यादिमें तथा कोई खड्ग, कुदाल, अश्वत्थ, अर्क और वेणु आदिमें परमात्मतत्त्वकी भ्रान्तिमें पड़े हैं। यद्यपि समस्त पदार्थोंमें लक्ष्य भाग परमात्मासे भिन्न नहीं है, तथापि तत्तद्उपाधिविशिष्टको ही परमात्मा मानते हैं। यह मत उनकी भ्रान्ति ही है। पञ्चकोशसे आवृत जीव और ईश्वरके परमार्थस्वरूपसे बहिर्मुख देहादिमें आत्मत्वकी भ्रान्तिसे पुण्य-पापका आचरण करते हैं तथा अन्तर्यामीसे लेकर वंशपर्यन्त पदार्थोंमें ईश्वरबुद्धिसे आराधना करके सुख-प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। जैसी उपाधिकी आराधना करते हैं तदनुसार फल मिलता है। क्योंकि कारण, सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रपञ्च ईश्वरके शरीरमें अन्तर्भूत है। अतः तत्तद्उपासनाके अनुसार फल प्राप्त होता है।

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथाऽन्यथा।
मन्त्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे॥
अन्तर्यामिणमारभ्य स्थावरान्तेशवादिनः।
सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदेवत्वदर्शनात्॥

—इत्यादि। (पञ्चदशी)

परन्तु मोक्ष तो ब्रह्मज्ञानके विना नहीं सिद्ध होता है। जो व्यक्ति मोक्ष चाहता है, वह विवेकसे जीव तथा ईश्वरके स्वरूपको पञ्चकोशोंसे पृथक् करे। जैसे मुञ्जासे इषीकाको पृथक् किया जाता है, वैसे ही विवेकसे जीव और ईश्वरके स्वरूपको पृथक् करके जानना चाहिये।

[जैसे जीवके पञ्चकोश जीवके अपने प्रत्यगात्मा एवं जीवदृष्टिको प्रत्याच्छादन करते हैं, उस प्रकार ईश्वरके पञ्चकोश ईश्वरके अपने स्वरूप तथा ईश्वरदृष्टिको प्रत्याच्छादन नहीं करते हैं। क्योंकि ईश्वर आवरण-रहित नित्य-मुक्तस्वभाव होते हैं। अतः ईश्वरको कुछ कर्तव्य नहीं होता है। जैसे जीव व्यष्टि पञ्चकोशसे प्रत्यगात्माको विवेचन करता है उसी प्रकार जीवका ही कर्तव्य है कि समष्टि पञ्चकोशसे ब्रह्मका भी विवेचन करे। सद्रूप, चिद्रूप, आनन्दस्वरूप और अद्वय—ये चार लक्षण आत्माके हैं। तथा अनृत, जड, दुःखरूप और सद्वय—ये देहके चार विशेषण हैं। इनमें सद्रूप और चिद्रूपसे देहादिके अनृत एवं जडरूप आच्छादित (ढके हुए) होते हैं। इसीलिये देह सद्रूप और चिद्रूप भान होता है। और देहादिके सद्वय एवं दुःखरूपसे आत्माका आनन्दस्वरूप तथा अद्वयरूप ढका हुआ है, अतः आत्मा दुःखी और सद्वय भान हो रहा है। इस प्रकार आत्मा और पञ्चकोशोंका अन्योन्याध्यास है। इसलिये मुमुक्षुको पञ्चकोशका विवेचन अवश्य करना चाहिये।]

पञ्चकोश-विवेक-प्रकार

स्वप्नावस्थामें स्थूल देह नहीं भान होता है, किन्तु आत्माका भान होता है। तथा सुषुप्तिमें सूक्ष्म शरीरका ज्ञान नहीं होता है। सुखस्वरूप आत्मा स्वयं स्वप्रकाशरूपसे प्रतीत होता है। सुषुप्तिमें सुखरूप ज्ञानके अभावमें तो 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह स्मृति सुप्तोत्थितको नहीं होती। इस प्रकारकी स्मृति होनेसे ही सुषुप्तिमें सुखानुभव है यह स्वीकार करना चाहिये। वह सुषुप्तिका सुख विषयजन्य नहीं है। क्योंकि वहाँ सब कार्य-जातका प्रविलय हो जाता है।

[प्रातीतिकत्वं वेदान्तसिद्धान्ते जगतः स्फुटम्।
सुषुप्तौ तु जगल्लीनं प्रबोधे जायते पुनः॥
दृष्टिसृष्टिमिमां ब्रह्मानुभवी बहु मन्यते।]

अतः सुषुप्तिमें आत्मस्वरूप सुख ही है। वह आत्मा स्वयंप्रकाश-स्वरूप है। इसलिये सुखस्वरूप आत्मा स्वयंप्रकाशरूपसे सुषुप्तिमें भान होता है। निदिध्यासनके फलभूत निर्विकल्प समाधिमें तो आत्मा अज्ञान-कृत आवरणसे रहित ही प्रकाशित होता है। कारणरूप अज्ञान भी उस अवस्थामें भान नहीं होता है। इस प्रकार देहत्रयका व्यभिचार होता है। एक अवस्थाको छोड़कर अवस्थान्तरमें देहका अभान होता है। अतः देहत्रय परिच्छिन्न और अनित्य है। किन्तु सदा सर्व अवस्थामें आत्माका

भान होता है, अतः आत्मा व्यापक और नित्य है। इस प्रकार देहत्रयसे विलक्षण विवेचन करके आत्माको जानना चाहिये। इसमें स्थूल शरीर अन्नमय कोश है, कारण शरीर आनन्दमय कोश है। सूक्ष्म शरीरमें प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशत्रय अन्तर्भूत है। अतः शरीरत्रयके विवेकसे पञ्चकोशका विवेचन हो जाता है। जैसे पञ्चकोशसे विलक्षण जीवका स्वरूप है, वैसे ही ईश्वरका स्वरूप भी समष्टि पञ्चकोशसे विलक्षण है। चतुर्थ अंशमें चतुर्विध आकाशके दृष्टान्तसे जीव और ईश्वरके लक्ष्य स्वरूपका विवेचन विस्तारसे किया है। आगे षष्ठ अंशमें भी अस्ति-भाति-प्रियरूप-निरूपणके प्रसङ्गमें तथा महावाक्यार्थ-निरूपण-प्रसङ्गमें आत्माके परमार्थ स्वरूपका वर्णन किया जायगा। संग्रहरूपसे यहाँ आत्माका विवेचन किया गया है।

[**स्थूल शरीरका विवेचन**—जैसे घटके उत्पत्ति एवं विनाशके पहिले तथा पश्चात् भी विद्यमान रहनेसे और एक होनेसे आकाश घटादिसे भिन्न तथा अव्यभिचारी है। उसी प्रकार स्थूल देहके जनन-मरणसे प्राक् एवं ऊर्ध्व विद्यमान रहने तथा एक होनेसे आत्मा स्थूल देहसे भिन्न और अव्यभिचारी है। घटके समान स्थूल देह जनन-मरणसे प्राक् तथा ऊर्ध्व अविद्यमान है तथा अनेक है अतः आत्मासे भिन्न है और व्यभिचारी भी है। जो वस्तु अधिक देशकालवर्ती होती है उसको अव्यभिचारी कहते हैं। आत्मा सर्व शरीरवर्ती एवं एक है। अतः आत्मा आकाशके तुल्य व्यापक है, इसीलिये सर्व देशवर्ती भी है। सर्व शरीरमें आत्मा एक ही है। देहके उत्पत्ति-विनाशके पहिले एवं पीछे भी आत्माका अस्तित्व बना ही रहता है। अतः आत्मा कालत्रयमें बाधित नहीं होता तथा सर्व कालवर्ती है। इस प्रकार सर्व देशकालवर्ती होनेसे आत्मा अव्यभिचारी है। जो वस्तु स्वल्प देश तथा स्वल्प कालमें वर्तमान रहती है उसको व्यभिचारी कहते हैं। घटके समान देह भी परिच्छिन्न एवं स्वल्प देशवर्ती है। उत्पत्ति-विनाशवान् होनेसे सर्व कालवर्ती भी नहीं है। किन्तु स्वल्प देश तथा स्वल्प कालवर्ती होनेसे व्यभिचारी होता है। इस प्रकार देह और आत्माके

व्यभिचारी और अव्यभिचारी होनेसे विलक्षण धर्मके कारण परस्पर भेद सिद्ध हो जाता है। अतः 'नाहं स्थूलदेहः' 'नापि मदीयोऽसौ देहः' मैं स्थूल देह नहीं हूँ; यह देह भी मेरा नहीं है, किन्तु भूतोंका कार्य होनेसे भौतिक है। स्थूल देहसे पृथक् होनेके कारण ही देहके आश्रित नाम, रूप, जाति और आश्रमके धर्म भी मुझमें नहीं हैं। इन धर्मोंसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह स्थूल शरीरका विवेक हुआ।

सूक्ष्म शरीरका विवेचन—सुषुप्ति, मूर्च्छा, मरण, प्रलय और ज्ञान—इन पाँच अवस्थाओंमें लिङ्ग शरीर अपने कारण अज्ञानमें लीन हो जाता है। अतः सूक्ष्म देह व्यभिचारी तथा असत् है। आत्मा सर्व कालमें भी प्रकाशमान रहनेके कारण अव्यभिचारी है। अतः सद्रूप है। सद्रूप होनेसे आत्मा लिङ्ग देह नहीं हो सकता है। लिङ्ग देहका भी आत्मासे सम्बन्ध नहीं है। यह लिङ्ग शरीर भी अपञ्चीकृत पञ्चभूतका कार्य है। अतः मैं लिङ्ग देह नहीं हूँ। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि देहके धर्म हैं, आत्माके नहीं। इन सबका साक्षी मैं इन सबसे भिन्न हूँ। यह सूक्ष्म शरीरका विवेक है।

कारण शरीरका विवेचन—अज्ञान ही कारण शरीर है। मैं कारण देह भी नहीं हूँ न कारण देह मेरा है। इनके धर्म भी मुझमें नहीं हैं। इनका साक्षी मैं इन दोनोंसे भिन्न हूँ।

जाग्रत् अवस्थाका विवेचन—अवस्थाका अर्थ है दशा—भोग-कालविशेषरूप। स्वप्न-सुषुप्तिसे विलक्षण इन्द्रियजन्य ज्ञान तत्संस्कारके आधारभूत कालविशेषका नाम जाग्रत् अवस्था है। इस अवस्थामें चतुर्दश त्रिपुटीसे जीव व्यवहार करता है। इस अवस्थामें छः विशेषताएँ हैं। (१) अवस्थावान् जीवका स्थान चक्षु होता है। समस्त शरीरवर्ती भी जीवका जाग्रत्में मुख्य स्थान चक्षु है। (२) शक्ति क्रिया है। (३) वाणी वैखरी होती है। (४) स्थूल भोग होता है। (५) गुण सत्त्व होता है। (६) संज्ञा विश्व होती है। यही जाग्रत् अवस्थाका स्वप्न और सुषुप्तिसे

व्यभिचार है। उसका साक्षिभूत आत्मा सब अवस्थाओंमें वर्तमान रहनेसे सत्यस्वरूप है। जाग्रत् अवस्थामें यही जीवकी विलक्षणता है।

स्वप्नावस्थाका विवेचन—जिस अवस्थामें इन्द्रियोंके उपरम होनेसे इनकी सहायताके बिना ही मन हिता नाम नाड़ीके भीतर जाग्रत्के संस्कारके वशसे विषयाकाररूपसे परिणत होकर स्वयंज्योतिःस्वरूप साक्षीसे अनुभूत हो, उस अवस्थाका नाम स्वप्नावस्था है। (१) इस अवस्थामें जीवका स्थान कण्ठ होता है। (२) शक्ति ज्ञान होती है। (३) वाणी मध्यमा होती है। (४) भोग सूक्ष्म होता है। (५) गुण रजोगुण होता है। (६) नाम तैजस होता है। यही स्वप्नावस्थाकी सामग्री है। जाग्रत् और सुषुप्तिमें स्वप्नावस्था नहीं होती है। आत्मा तो तीनों अवस्थाओंका साक्षी होनेसे स्वप्नावस्थासे भी विलक्षण है।

सुषुप्ति अवस्थाका विवेचन—जिस अवस्थामें केवल सुख एवं अज्ञानका अनुभव हो उसका नाम सुषुप्ति अवस्था है। (१) इसका स्थान हृदय है। (२) शक्ति द्रव्यस्वरूपिणी है। ज्ञानक्रियात्मव्यवहारसे रहित केवल ज्ञानस्वरूप द्रव्यकी सत्ता होनेसे द्रव्य कहते हैं। (३) वाणी पश्यन्ती होती है। (४) भोग आनन्द एवं (५) गुण तमोगुण, और (६) संज्ञा प्राज्ञ होती है। जाग्रत् तथा स्वप्नमें सुषुप्ति अवस्था नहीं होती है। आत्मा तीनों अवस्थाओंका साक्षी होनेसे सुषुप्तिसे भी विलक्षण है।]

महावाक्यार्थ-निरूपण

महावाक्योपदेश

इस प्रकार पञ्चकोशोंसे पृथक् आत्मा है यह आत्मज्ञान होनेपर भी कृतकृत्यता नहीं होती। अतः जीव-ब्रह्मका अभेद निश्चय करनेके लिये पुनः विचार करना चाहिये। इसलिये शिष्यकी कृतकृत्यता-सिद्धिके लिये महावाक्यका उपदेश किया है। पञ्चकोशसे विलक्षण आत्मज्ञान होनेपर भी ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न जाने।

'कर्ता-भोक्ता आत्माका ब्रह्मसे अभेद सम्भव नहीं' यह प्रश्न है

प्रश्न—यह आत्मा पुण्य-पाप करके स्वर्ग-नरक-पृथिवी आदि लोकोंमें नाना प्रकारके सुख-दुःखोंको भोगता है। उस आत्माका ब्रह्मके साथ ऐक्य सम्भव नहीं हो सकता है। यह शिष्यका प्रश्न है।

अकर्ता-अभोक्ता नित्यमुक्त आत्माका सदा ब्रह्मसे अभेद ही है

उत्तर—ब्रह्मस्वरूप आत्मासे भिन्न जो भी दृश्य और शास्त्रोंसे श्रुत पुण्य-पाप तथा इनका फल स्वर्ग-नरक है यह सब मिथ्या है, यह जानो। मिथ्या वस्तु अधिष्ठानको दूषित नहीं करती है। स्वप्नमें भिक्षा माँगनेपर भी राजा दरिद्र नहीं होता। मरु-मरीचिकाके जलसे पृथिवी आर्द्र नहीं होती। मिथ्या सर्पसे रज्जु विषयुक्त नहीं होता। इसी प्रकार मिथ्याभूत सकल शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता भी वस्तुतः आत्मा अकर्ता ही है। इसमें **"असंगो ह्ययं पुरुषः" "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" "निष्कलं निष्क्रियम्"** इत्यादि सहस्रों श्रुतियाँ प्रमाण हैं। इस प्रकार तुम्हारा स्वरूप अत्याश्चर्य और निरुपम है। इसका तात्पर्य यह कि तुम्हारे ब्रह्मसे अभिन्न स्वरूपमें स्थूल-सूक्ष्म शरीर, कर्म एवं कर्मोंका फलरूप जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख आदि समस्त जगत् अविद्या-अविवेक-अज्ञानसे कल्पित है। ब्रह्मस्वरूप तुम्हारा इन कल्पित सामग्रियोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। इसीलिये आत्मा तो ज्ञानसे पूर्व भी ब्रह्मस्वरूप ही था। तीन कालमें भी आत्माका इस शरीर तथा शरीरके धर्मोंसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आत्मा सदा नित्य मुक्त ही है। आत्मा और ब्रह्ममें कदापि भेद नहीं है।

जीवन्मुक्तका निश्चय और वेदान्त-श्रवणका फल

यदि आत्मा सदा नित्य मुक्त ब्रह्मस्वरूप ही है, तब तो अज्ञान तथा अज्ञानके कार्यका अभाव होनेसे ज्ञान एवं ज्ञानके साधन श्रवणादि, व्यर्थ होंगे। यह शिष्यका प्रश्न है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि जीवन्मुक्त मुनीकी

दृष्टिसे अज्ञान और अज्ञानकार्य सब तुच्छ ही है। जीवन्मुक्तका निश्चय दिखाते हैं। यह प्रपञ्च गगनारविन्दके समान है ही नहीं। अतः जगत्का कर्ता ईश्वर भी नहीं है। साक्षीके विषयभूत अज्ञानादिको साक्ष्य कहते हैं। इस प्रकार साक्ष्यका अभाव होनेसे साक्षी भी नहीं है। दृश्योंके अवभासको दृक् कहते हैं। देहादि दृश्यके अभावमें दृक् भी नहीं हो सकता है।

यद्यपि केवल कूटस्थ चैतन्यका ही साक्षी एवं दृक् यह नाम है, इनका निषेध नहीं किया जा सकता, तथापि साक्ष्यकी अपेक्षासे साक्षी और दृश्यकी अपेक्षासे दृक् कहा जाता है। साक्ष्य तथा दृश्यके अभावमें साक्षी एवं दृक् इस व्यपदेश (नाम) मात्रका निषेध किया जाता है। स्वरूपका निषेध नहीं किया गया है। यदि बन्ध हो तो बन्धकी निवृत्तिरूप मोक्ष होगा। बन्ध भी नहीं और मोक्ष भी नहीं है। यदि अज्ञान हो तो ज्ञानसे उसका नाश हो। अज्ञानके अभावमें उसका नाशक ज्ञान भी नहीं है। इन सबको जानकर कर्तव्यको त्याग दे अर्थात् मेरा यह कर्तव्य है, इस बुद्धिको त्याग दे। क्योंकि यह लोक तथा परलोक दोनों तुच्छ हैं तब इनकी प्राप्तिके लिये कुछ कर्तव्य भी अनुष्ठेय नहीं है। आत्मामें बन्ध नहीं है तब मोक्षके लिये कुछ कर्तव्य भी नहीं है।

इस प्रकार नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप आत्माको जानकर जब निश्चल (स्थिर) होता है, तब समस्त कर्मोंको त्यागकर अक्रिय ब्रह्मस्वरूप मोक्ष लाभ करता है इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञान होनेके पहिले भी नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप ही था। तथापि आत्माको कर्ता-भोक्ता मानकर मिथ्या आग्रह (हठ) से सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्तिके लिये अनेक साधनोंके अनुष्ठानसे व्यर्थ दुःख (क्लेश) अनुभव करता था। पुरुषको जब अनेकजन्मार्जित पुण्यपुञ्जसे उत्तम गुरु मिल जाता है, तब वह गुरु वेदान्त-वाक्योंका उपदेश करता है। वेदान्त-वाक्यके श्रवणसे 'मैं कर्ता-भोक्ता नहीं, किन्तु मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। अतः मुझे कोई कर्तव्य नहीं है।' इस प्रकारका ज्ञान मनुष्यको उदय हो जाता है। यही ज्ञान वेदान्त-श्रवणादिका फल है। ब्रह्म-प्राप्ति वेदान्त-श्रवण का फल नहीं है। क्योंकि ब्रह्म तो स्वस्वरूपसे नित्य प्राप्त ही है।

ज्ञानी और अज्ञानीके लक्षण

अकर्तव्यताबुद्धि होना ज्ञानीका लक्षण है। कर्तव्यताबुद्धि होना अज्ञानीका चिह्न है। जो अपनेसे पृथक् किसी वस्तुको प्राप्तव्य मानकर उसकी प्राप्तिके लिये मुझको यत्न करना चाहिये यह समझता है वह अज्ञानी है। तथा 'आत्मासे भिन्न अन्य कुछ भी प्राप्तव्य वस्तु नहीं है' इस दृढ निश्चयसे जो अन्य-रूपान्तरकी इच्छा नहीं करता एवं शान्तसंकल्प हो किसी विषयकी कामना नहीं करता है वही ज्ञानी है।

[ज्ञानी अपनेसे भिन्न द्वितीय किसी वस्तुका दर्शन-श्रवण करता ही नहीं है। इस अर्थका स्पष्टीकरण गीतामें भगवान्‌ने स्वयं किया है उसको मुमुक्षुओंके बुद्धि-वैशद्यके लिये यहाँ लिखा जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(गीता ५।७)

निष्काम कर्मयोग अथवा ब्रह्मनिष्ठारूप संन्यासयोगसे युक्त, इसीलिये विशुद्धात्मा अर्थात् राग-द्वेषादिसे रहित, अतः विजितात्मा—विषयोंमें तुच्छ बुद्धि होनेसे अभावरूपताको सम्पादित किया हुआ है आत्मा—बाह्यवासनारूप स्वभाव जिसका, अतएव जितेन्द्रिय—विषयोंके ग्रहणमें विमुख किया है इन्द्रियोंको जिसने, अतएव सर्वभूतात्मभूतात्मा—ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंके आत्मभूत—स्वरूपभूत है आत्मा—प्रत्यग्रूप आत्मा जिसका, इस प्रकार सर्वात्मभावको प्राप्त ब्रह्मवित् प्रारब्धवशात् शरीर-यात्रा-निर्वाहके लिये कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता—"**अकर्त्ताहमभोक्ताहमसङ्गः परमेश्वरः**" इस प्रकार दृढ निश्चयवान् कर्मोंके फलसे बँधता नहीं है।]

गोप्यतत्त्वोपदेश

चैतन्यस्वरूप एक अखण्ड असंग जन्मादिभावविकारशून्य अदृश्य नामरूपरहित अद्वितीय स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप ब्रह्म है। न उसमें मूलाज्ञान है। न स्थूल-सूक्ष्म शरीर है। एवं न समष्टि-व्यष्टिरूप प्रपञ्च है, न सूत्रात्मा

है और न विराट् ही है। न उसमें विश्व, तैजस और प्राज्ञ ही है। न भोग है न योग है, न बन्ध है न मोक्ष है। किञ्चिद् भी द्वैत ब्रह्ममें नहीं है। अथापि उसी ब्रह्ममें सब कुछ है। जाग्रत् कालमें यह सकल दृश्य जगत् उसी ब्रह्ममें बुद्धिसे परिकल्पित प्रतीयमान हो रहा है। स्वप्नकालमें भोग तथा भोग्यादिका अभाव होनेपर भी बुद्धिपरिकल्पित नानाविध प्रपञ्च भासित हो रहा है। सुषुप्तिकालमें जब बुद्धि लीन हो जाती है तब सकल दृश्य द्वैत प्रपञ्चसे रहित अद्वैत चिन्मात्र ब्रह्म ही प्रकाशित होता है। बुद्धिकल्पित सब मनोरथ मिथ्या ही है। निश्चल कूटस्थ ब्रह्म ही उस बुद्धिको प्रकाशित करता है। [निश्चल कूटस्थ ब्रह्म बुद्धिको प्रकाशित करता है यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अतः क्षणिक विज्ञानवादीके मतमें अतिव्याप्ति भी नहीं होती। क्योंकि उनके मतमें बुद्धिसे भिन्न बुद्धिका प्रकाशक अन्य कोई पदार्थ नहीं है।]

जिसके हृदयमें दृढतर ज्ञान उदय होता है, उसके हृदयके अज्ञानान्धकार-का निःशेष ध्रुव विनाश हो जाता है। वह सदा असंग एकरस स्वयंप्रकाश ब्रह्मको आत्मरूपसे ही अनुभव करता है। उसकी दृष्टिमें भूत, भविष्य एवं वर्तमान द्वैतप्रपञ्च है ही नहीं। उसकी दृष्टिमें यह समस्त जगत् मनोरथमात्र ही है। ज्ञानी इस प्रकार जगत्‌की प्राप्ति या निवृत्तिकी इच्छा ही नहीं करता है। ज्ञानीको कोई आशा भी नहीं होती है। ज्ञानी देखता हुआ भी नहीं देखता है। सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। रस लेता हुआ भी असंग ही रहता है। स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता है। सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता है। बोलता हुआ भी नहीं बोलता है। ग्रहण करता हुआ भी नहीं ग्रहण करता है। त्यागता हुआ भी नहीं त्यागता है। चलता हुआ भी नहीं चलता है। युवतीका अनुभव करता हुआ भी संन्यासी है। हे सौम्य! यह महत् आश्चर्य है इसको जानो—ऐसा गुरुने कहा।

[इस समय योगयुक्तत्व, विशुद्धात्मत्व, विजितेन्द्रियत्व, सर्वभूतात्म-भूतत्वरूप पञ्चलक्षणविशिष्ट, आहारादि विषयमें प्रवृत्त ब्रह्मवित्‌को दर्शन-श्रवणादि इन्द्रिय-व्यापारमें 'नाहं कर्ता' यह दृढ-बुद्धि है सो उचित ही है। इसको दो श्लोकोंसे कहते हैं—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ् शृण्वन् स्पृशञ् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ् श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
(गीता ५। ८-९)

इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियादिके व्यापारमें 'अहं-मम' इस भावना-को त्यागकर ज्ञानी तूष्णीं—शान्त रहता है।

यहाँ यह रहस्य है कि ज्ञानीको सदा 'असङ्ग निर्विकार चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही मैं हूँ' यह दृढ निश्चय होनेसे वह परमार्थतः कोई भी क्रिया नहीं करता है। प्रारब्धके वशसे उसके देहेन्द्रियादिद्वारा क्रियाएँ होती रहती हैं। ज्ञानीकी क्रियाएँ उसके प्रारब्धफलोपभोगरूप ही हैं। परन्तु प्रारब्धबलसे उन-उन भोगोंको भोगते हुए भी ज्ञानीको भोगमें राग नहीं होता है।

राग इन्द्रियोंकी क्रिया नहीं है। इन्द्रियाँ तो दर्शनादि क्रियामात्रमें चरितार्थ होती हैं। आत्माकी क्रिया भी राग नहीं है। आत्मा तो साधारण-तया सर्व दृश्योंका अवभासक निर्विकार प्रकाशस्वरूप है। परिशेष रहा मन, मन ही विषयनिष्ठ गुण-दोषोंका विवेचन करके अपने अनुकूल विषयोंमें राग करता है। वह राग ज्ञानीको नहीं होता, क्योंकि ज्ञानीका मन अन्तर्मुख होनेसे शान्त रहता है। **"रागो लिङ्गमबोधस्य"** यह बात शास्त्रमें प्रसिद्ध है।

यद्यपि सर्वथा रागके अभावमें ज्ञानीकी शरीर-स्थितिके कारणभूत भोजनादिमें प्रवृत्ति नहीं होगी—यह शङ्का होती है। तथापि यह शङ्का नहीं करनी चाहिये। कर्मानुसार प्राणियोंके फलदाता ईश्वरके इच्छानुसार ज्ञानीकी भी प्रारब्धवश प्रवृत्ति बनती है। अन्यथा ज्ञानीकी प्रारब्धानुभवके विना भोजनादिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसे इच्छा नहीं होनेपर भी प्रारब्धजनित रोगादि होता है, उसी प्रकार प्रारब्ध-भोगमें भी मिथ्या ज्ञानके अभावमें अदृढ आभासमात्र प्रतीतिके समान रागमें भी आभास—

रागाभास होता है। अदृढत्वके ही कारण वह राग स्वनिवृत्तिके लिये वेदान्त-विचारकी अपेक्षा नहीं रखता है।

तात्पर्य यह कि ज्ञानीको जो राग होता है वह अदृढ होनेसे रागाभास है। वह स्वाधीन राग भर्जित बीजके तुल्य जन्मादिमें दुर्बल है, किन्तु शरीर-स्थितिमात्रमें शास्त्रीय भोगोंका हेतु है, व्यसनकारणीभूत शास्त्रनिषिद्ध भोगका हेतु नहीं होता है। और भी बात है कि ज्ञानीको विषयमें सत्यता-की भ्रान्ति नहीं होती, बल्कि विषयोंमें दृढतर मिथ्यात्व निश्चयसे जनित तीव्र-तर वैराग्यके बलसे दृढतर राग भी नहीं होता।

अथवा जैसे शाखाके अग्रभागमें या रस्सीके अवलम्बसे नृत्य करते हुए नर्तकका चित्त अपने अवलम्बमें ही जागरूक होता है या जैसे दुग्धपूर्ण घट या जलपूर्ण घटको सिरपर धारणकर सखियोंसे बात करती हुई भी स्त्रियोंका मन घटमें ही एकाग्र होता है, उसी प्रकार ज्ञानियोंका चित्त भी प्रारब्धवश विषयोंमें प्रवृत्त भी विशेषतः लक्ष्य—आत्मस्वरूपमें ही स्थित रहता है। किञ्च ज्ञानियोंके देह-इन्द्रियादिकी क्रिया रागके बिना ही प्रारब्धके अधीन होती है क्योंकि भोगाभासमें दृढतर राग सम्भव नहीं होता।

उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रियोंके अपने-अपने व्यापारमें व्यापृत होनेपर भी मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ, इन्द्रियाँ भी मेरी नहीं हैं। मैं तो साक्षी कूटस्थ असङ्ग हूँ। इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें प्रवृत्त हों अथवा निवृत्त हों—उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।' इस प्रकार ज्ञानियोंका निश्चय होनेसे कर्म करते हुए देखे जानेपर भी परमार्थतः वे कुछ भी कर्म नहीं करते हैं।]

लय-चिन्तन-क्रम

समस्त प्रपञ्चको ईश्वरस्वरूपसे चिन्तन करे

इस प्रकार परमार्थ तत्त्व उपदेश करनेपर भी शिष्यके मुखपर अप्रसन्नता देखकर, 'निश्चय ही यह अकृतार्थ है; क्योंकि इसके मुखपर अप्रसन्नता है' इस बातको जानकर गुरु लय-चिन्तनके प्रकारका उपदेश करते हैं। जैसे मिट्टी-

का कार्य घट बाहर-भीतर मिट्टी ही होता है। जैसे जलका कार्यभूत फेन बुद्बुद आदि सब जल ही होता है। उसी प्रकार जो जिसका कार्य है वह कारणके स्वरूपके सदृश ही होता है। कार्य कारणके स्वरूपसे भिन्न नहीं होता है।

सकल प्रपञ्चका मूल कारण ईश्वर है। अतः समस्त कार्य प्रपञ्च भी ईश्वरके स्वरूपसे पृथक् नहीं है। सकल प्रपञ्चका भी स्वरूप ईश्वर ही है। **'स चेश्वरोऽहमेव'** 'वह ईश्वर मैं ही हूँ' ऐसा जानकर समस्त प्रपञ्चका अपनेमें लय-चिन्तन करे।

स्थूल प्रपञ्चके पञ्चीकृत भूतस्वरूपका और सूक्ष्मसृष्टिके अपञ्चीकृत भूतस्वरूपका चिन्तन करे।

यह समस्त स्थूल ब्रह्माण्ड पञ्चीकृत भूतका कार्य है। इसमें जो पृथिवीका कार्य है उसको पृथिवीरूप, जलके कार्यको जलस्वरूप तथा जिस भूतका जो कार्य है, उसको तद् भूतस्वरूप चिन्तन करता हुआ समस्त ब्रह्माण्डको पञ्चीकृत भूतस्वरूप ही चिन्तन करना चाहिये। उसी प्रकार पञ्चीकृत सकलभूत अपञ्चीकृत भूतका कार्य होनेसे अपञ्चीकृत स्वरूपसे इनका चिन्तन करे। अन्तःकरणादि सूक्ष्म सृष्टि अपञ्चीकृत भूतका कार्य होनेसे उसका अपञ्चीकृत स्वरूपसे चिन्तन करे। अन्तःकरण सर्वभूतोंके समष्टि सत्त्वगुणका कार्य होनेसे सत्त्वगुणस्वरूप ही है।

तथा प्राण भी पूर्वोक्त पञ्चभूतोंके समष्टि रजोगुणका कार्य होनेसे रजोगुणस्वरूप ही है। पाय्विन्द्रिय (गुद) पृथिवीके रजोगुणका कार्य होनेसे रजोगुणस्वरूप ही है। घ्राणेन्द्रिय पृथिवीके सत्त्वगुणका कार्य होनेसे सत्त्वगुण ही है। रसनेन्द्रिय और उपस्थेन्द्रिय क्रमसे जलके सत्त्वगुण एवं रजोगुणके कार्य होनेसे तत्स्वरूप ही हैं। चक्षु एवं पादेन्द्रिय क्रमसे तेजके सत्त्वगुण तथा रजोगुणके कार्य होनेसे सत्त्वगुण एवं रजोगुणस्वरूप ही हैं। त्वगिन्द्रिय एवं पाणीन्द्रिय क्रमसे वायुके सत्त्वगुण और रजोगुणस्वरूप हैं। श्रोत्रेन्द्रिय तथा वागिन्द्रिय आकाशके सत्त्वगुण एवं रजोगुणके स्वरूप हैं। इस प्रकार सूक्ष्म सृष्टि अपञ्चीकृत भूतस्वरूप ही है ऐसा चिन्तन करे।

अपञ्चीकृत भूतोंका प्रकृति (प्रधान) में और प्रधानका ब्रह्ममें लय-चिन्तन करे।

प्रथम कहे हुए चिन्तनके बाद अपञ्चीकृत भूतोंके भी लयका चिन्तन करना चाहिये। पृथिवी जलका कार्य होनेसे जलस्वरूप है। जल तेजका कार्य होनेसे तेजरूप है। तेज वायुका कार्य होनेसे वायु है। वायु आकाशका कार्य होनेसे आकाश है। आकाश तमोगुणप्रधान प्रकृतिका कार्य होनेसे प्रकृतिका ही स्वरूप है। प्रकृति मायाकी अवस्थाविशेष होनेसे मायारूप ही है। एक ही वस्तुका प्रधान, प्रकृति, माया, अविद्या, अज्ञान और शक्ति इत्यादि अनेक शब्दोंसे कथन किया गया है। वही वस्तु समस्त कार्यसमूहको अपनेमें उपसंहार करके प्रलयकालमें उदासीनरूपसे वर्तमान रहनेके कारण प्रधान शब्दसे कही जाती है। वही वस्तु प्रपञ्च सृष्टिके उपादानयोग्य तमोगुणप्रधान स्वरूपसे विद्यमान होनेपर प्रकृति शब्दसे व्यवहृत होती है। ["सकलमिदं जगत् यस्मात् प्रकर्षेण क्रियते तादृशं सृष्ट्युपादानभूतं वस्तु प्रकृतिरित्युच्यते। अथवा 'प्र' इति सत्त्वगुणः, 'कृ' इति रजोगुणः 'ति' इति सत्त्वरजस्सहिततमोगुण उच्यते। तथा च तमोगुणप्रधाना प्रकृतिरिति सिद्ध्यति।"] देश-कालादि सामग्री विना ही इन्द्रजालसे दुर्घट अनेक पदार्थोंके उत्पादन-कालमें उस इन्द्रजालको 'माया' शब्दसे कहते हैं। उसी प्रकार असङ्ग अद्वितीय ब्रह्ममें दुर्घट इच्छा उत्पादन करनेके कारण उस प्रकृतिको 'माया' शब्दसे कहा जाता है। वही वस्तु ब्रह्मस्वरूपकी आवरक होनेसे अज्ञान कहलाती है। इस प्रकार प्रकृतिके अवस्थाविशेषके कारण अनेक नाम हैं, तथापि वह प्रधानस्वरूप ही है। वह प्रधान ब्रह्मचैतन्यस्वरूपकी शक्ति है। जैसे पुरुषकी सामर्थ्यरूप शक्ति पुरुषसे पृथक् नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्मचैतन्यगत प्रधानरूपा शक्ति भी ब्रह्मचैतन्यस्वरूपसे पृथक् नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मचैतन्यमें समस्त अनात्म पदार्थोंके लयका चिन्तन करना चाहिये। तदनन्तर "तादृशमद्वितीयं ब्रह्माहमेव" 'उस प्रकारका अद्वितीय ब्रह्म मैं ही हूँ' यह चिन्तन करे। जिस मन्दबुद्धिको बुद्धिमान्द्यरूप प्रतिबन्धके कारण वेदान्त-विचारमें प्रवृत्ति नहीं होती अथवा

विचार करनेपर भी साक्षात्कार नहीं होता उसके लिये लय-चिन्तनरूप ध्यान कहा गया है।

[यदि ब्रह्मकी शक्तिको ब्रह्मसे भिन्न कहें तब तो अद्वैतश्रुतिका विरोध होगा और यदि अभिन्न कहें तब ब्रह्मस्वरूप होनेसे ब्रह्मसे पृथक् शक्तिका कथन व्यर्थ होगा। अतः ब्रह्मकी शक्तिको भेदाभेदरूप ही कहना उचित होगा। किन्तु भेदाभेद दोनों तम और प्रकाशके समान विरुद्ध होनेसे एक आश्रयमें नहीं रह सकते ? इस शङ्काका समाधान यह है कि रज्जुसे जैसे सर्पका कल्पित सम्बन्ध है उसी प्रकार ब्रह्मसे शक्तिका कल्पित भेद है; वास्तवमें तो अभेदरूप अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध ही स्वीकार किया जाता है। इससे शक्तिके अपने आश्रयसे वास्तवमें भेदका अभाव होनेसे किसी भी प्रमाणसे शक्तिको अपने आश्रयसे भिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः प्रलयकालमें माया होनेपर भी उससे ब्रह्ममें सद्वितीयत्व नहीं होता है। सृष्टिकालमें भी मायाका कार्य द्वैतप्रपञ्च प्रतीयमान होनेपर भी उस प्रपञ्चसे ब्रह्ममें सद्वितीयत्व नहीं होता है। जैसे रज्जुमें कल्पित सर्पादिसे, रज्जुसे अभिन्न होनेसे, रज्जुके स्वरूपमें कोई विकार नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्ममें कल्पित प्रपञ्चसे, परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपसे पृथक् न होनेसे, ब्रह्ममें कोई विकार नहीं होता है। अतः ब्रह्म सदा अद्वितीय ही है।

यहाँ आदि शब्दसे वर्तमान, भूत और भविष्य तीन प्रकारके प्रतिबन्ध ग्रहण करने चाहिये। इनमें विषयासक्ति, बुद्धिमान्द्य, कुतर्क एवं विपर्यय नामक दुराग्रह—ये चार वर्तमान प्रतिबन्ध हैं। वस्तुमें 'अहं-मम' इस दृढ वासनाका नाम विषयासक्ति है। परोक्त (आचार्यादिके कहे हुए) उपदेशके अर्थग्रहणके सामर्थ्याभावको बुद्धिमान्द्य कहते हैं। आचार्यादि आप्त पुरुषोंके द्वारा कहे हुए वाक्यार्थोंमें अविश्वाससे अन्यथा कल्पना करनेका नाम कुतर्क है। देहादिमें आत्मबुद्धिरूप विपर्यय नामक दुराग्रह है।

ये चार वर्तमान प्रतिबन्ध हैं। धन-पुत्र-कलत्रादि इष्ट वस्तुका नाश होनेपर भी उनका चिन्तन करना भूत प्रतिबन्ध है। ब्रह्मलोकादि-प्राप्तिकी इच्छा भावी प्रतिबन्ध कहलाता है। ये सब ज्ञानमें प्रतिबन्ध हैं।]

ज्ञान-ध्यानके भेद और अहंग्रह-ध्यान

ज्ञान प्रमाण एवं प्रमेयके अधीन होता है, विधि या पुरुषकी इच्छाके अधीन नहीं होता। ध्यान विधि, पुरुषकी इच्छा, श्रद्धा और हठात्कारके अधीन होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञानमें चक्षु आदि इन्द्रिय प्रमाण है, घटादि प्रमेय है। घटसे चक्षुका संनिकर्ष होनेपर पुरुषेच्छाके बिना भी घटका प्रत्यक्ष होता है। "चतुर्थ्यां चन्द्रो न द्रष्टव्यः" चतुर्थीको चन्द्रमा देखनेका निषेध है। दिनमें मनुष्य यह निश्चय करता है कि मैं चन्द्रमा नहीं देखूँगा, तथापि जिस-किसी कारणसे चक्षु और चन्द्रमा—प्रमाण—प्रमेयका संनिकर्ष होनेपर चन्द्रका प्रत्यक्ष हो ही जाता है। इस प्रकार ज्ञान प्रमाण-प्रमेयमात्रके अधीन है, विधि एवं पुरुषेच्छादिके अधीन नहीं है।

[ज्ञान तीन प्रकारका है—भ्रमज्ञान, स्मृतिज्ञान और प्रमाज्ञान। इनमें भ्रमज्ञान केवल कल्पित वस्तुके अधीन होता है। स्मृतिज्ञान अपने विषयके सदृश वस्तुदर्शनसे अथवा तत्सम्बन्धी वस्तुदर्शनसे उदय हुई जो पूर्वानुभूत वस्तुविषयक मनोवृत्ति है उसके अधीन होता है। प्रमाज्ञान तो अन्तर्गत सुखादिविषयक ज्ञान है। वह न्याय एवं वाचस्पतिके मतसे तो मनोरूप प्रमाण तथा सुखादिरूप प्रमेयके अधीन होता है। सिद्धान्तमें तो मनको प्रमाण न स्वीकार करनेसे सुखादि ज्ञानको केवल प्रमेयके अधीन कहते हैं। बाह्य प्रमाज्ञान तो प्रत्यक्ष-अनुमानादिरूप प्रमाणके और प्रमेय-रूप वस्तुके सम्बन्धाधीन है।

शब्दप्रमाणजन्य ब्रह्मज्ञानरूप शाब्दी प्रमा तो महावाक्यरूप शब्द-प्रमाण एवं प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप प्रमेयके लक्षणावृत्तिरूप परम्परासम्बन्ध-ज्ञानके अधीन होती है। इतर लौकिक पदार्थविषयक शाब्दी प्रमा तो कहीं शक्तिवृत्तिरूप सम्बन्ध-ज्ञानके अधीन होती है तथा कहीं लक्षणावृत्ति-रूप सम्बन्ध-ज्ञानाधीन होती है।

इस प्रकार कुछ ज्ञान ज्ञेय वस्तुके अधीन होता है। कोई ज्ञान प्रमाण-प्रमेयके सम्बन्धाधीन होता है। अथवा उसके सम्बन्ध-ज्ञानके अधीन होता है। भ्रमप्रमाके साधारण ज्ञानके विषयको प्रमेय कहते हैं। इसमें ज्ञेयत्व भी है। इस प्रकार सब ज्ञान वस्तुके अधीन ही है। यहाँ 'वस्तु' शब्दसे ईश्वररचित अथवा मनोमय (परोक्ष ज्ञानके विषय) या भ्रमरूप वस्तुसे अथवा प्रमाणद्वारा साक्षात् वृत्तिका सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है। अतः ज्ञान विधि आदिके अधीन नहीं है। ध्यानरूप उपासना भी वस्तुके अधीन नहीं होती, किन्तु कर्ताके अधीन होती है। यद्यपि ध्यान भी मनोवृत्त्यात्मक ही है तथापि वह पुरुषके इच्छाधीन होता है, वस्तुके अधीन नहीं होता। अतः ध्यान मानस होनेपर भी ज्ञान नहीं है, किन्तु क्रिया है।

ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञानमें प्रत्यगभिन्न ब्रह्म प्रमेय और वेदान्त-महावाक्य प्रमाण है। गुरुमुखसे वेदान्त-वाक्य-श्रवण करनेसे महावाक्य-द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। महावाक्यरूप प्रमाणके बिना केवल इच्छादिसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है। उपासना अवश्य ही विधिकी अपेक्षा रखती है। शास्त्रविधिसे की हुई उपासना ही फलवती होती है। विधिके बिना स्वेच्छासे स्वसंकल्पानुसार जो कुछ ध्यान किया जाता है वह इष्टफलदाता नहीं होता।]

सालग्राम शिलामें विष्णुरूपके ध्यानसे उत्तम फल प्राप्त होता है। उसमें पुरुष शास्त्रानुसार विष्णुके चतुर्भुज शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और लक्ष्मीसहित रूपका ध्यान करता है। चक्षुसे तो सालग्रामको शिला ही जानता है तथा शास्त्रविधिमें विश्वास होनेसे तथा ध्यानके फलमें इच्छा होनेसे सालग्रामका विष्णुरूप ही ध्यान करता है।

ये ध्यान अनेक प्रकारके होते हैं। सालग्राम शिलामें विष्णुके समान अन्यमें अन्य बुद्धि करनेका नाम प्रतीक ध्यान है। वैकुण्ठवासी विष्णुमें चतुर्भुजत्वादि रूपसे ध्यान अन्यमें अन्य ध्यानके तुल्य प्रतीक नहीं है,

किन्तु वह ध्येय वस्तुके स्वरूपानुरूप ध्यान है। वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णुका स्वरूप प्रत्यक्षगोचर नहीं है, किन्तु शास्त्रैकसमधिगम्य है। शास्त्रोंमें विष्णुका स्वरूप चतुर्भुज शङ्ख-चक्रादियुक्त वर्णन है। अतः विष्णुका यह ध्यान ध्येय वस्तुके स्वरूपानुसार ही है। विधि-शास्त्रमें विश्वासके अभावमें ध्यान सिद्ध नहीं होता है। **'इदमुपासीत'** इस रूपसे पुरुषके प्रवर्तक वचनको विधि कहते हैं। उस वचनमें श्रद्धाका नाम विश्वास है। अन्तःकरणके रजोगुणके परिणामरूप कामात्मिका वृत्तिका नाम इच्छा है। हठसे भी ध्यान सिद्ध होता है। किन्तु ज्ञानमें इन सबकी अपेक्षा नहीं है। निरन्तर ध्येयाकार चित्तवृत्तिका प्रवाह ही ध्यान है। अतः चित्तवृत्तिमें विक्षेप होनेपर हठसे वृत्तिको स्थिर करे। ज्ञानरूप अन्तःकरणके वृत्ति-उदय-कालमें ही विषयका आवरण भङ्ग हो जानेमे वृत्ति-स्थैर्य-सम्पादनका उपयोग नहीं है। अतः ज्ञानमें हठकी अपेक्षा नहीं है।

अहंग्रह-ध्यान—वैकुण्ठवासी चतुर्भुज विष्णुके ध्यानके समान ही **'अहं ब्रह्म'** यह ध्यान भी ध्येय स्वरूपानुसार ही है, प्रतीक ध्यान नहीं है। किन्तु यह अहंग्रह-ध्यान है। ध्येय स्वरूपको अपनेसे अभिन्न रूपसे अनुसन्धान करनेका नाम अहंग्रह-ध्यान है। जिसको वेदान्त-विचारसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता वह वेदकी आज्ञारूप उपासनाके विधि-वाक्यमें श्रद्धा करके निरन्तर हठसे **'अहं ब्रह्मास्मि'** 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अहंग्रह-ध्यान करे। उसको क्रमसे ज्ञानोत्पत्तिद्वारा मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

प्रणवोपासन-निरूपण

प्रणवमें अहंग्रह-ध्यान—प्रकारान्तरसे प्रणवमें अहंग्रह-ध्यान कहते हैं। प्रणवरूप ओङ्कारमें अहंग्रह-ध्यान माण्डूक्यादि श्रुतिके अनुसार श्रीसुरेश्वराचार्यद्वारा कहा गया है। मोक्षकामनावालेको उसका अनुष्ठान करना चाहिये। उसका क्रम यह है कि 'प्रणवरूप जो अक्षर है वह ब्रह्मस्वरूप ही है और उस प्रकारका प्रणवस्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ।'—यों निरन्तर अनवरत ध्यान करता रहे। इसके समान अन्य कोई ध्यान नहीं

है। इस ध्यानका विशेष क्रम श्रीसुरेश्वराचार्यने पञ्चीकरण नामक ग्रन्थमें प्रतिपादन किया है। इसका उपासक अपार संसारको तर जाता है। इसका अधिकारी संन्यासी ही है।

निर्गुण तथा सगुण प्रणवोपासनाके फल

प्रणवकी उपासना अनेकों उपनिषदोंमें वर्णित है। माण्डूक्यमें विशेष रूपसे इसका वर्णन है। इस उपनिषद्‌में भाष्यकार एवं श्रीआनन्दगिरि आचार्यने विस्पष्ट वर्णन किया है। इसमें जो क्रम है वही वार्तिककारने अपने पञ्चीकरणमें भी वर्णन किया है। ऐसे प्रौढ़ ग्रन्थोंके विचारमें असमर्थ साधकोंके अनायास बोधके लिये प्रणवकी उपासनाका क्रम यहाँ निरूपण करते हैं।

उपनिषद्‌में प्रणवोपासना दो प्रकारसे वर्णित है—परब्रह्म रूपसे प्रणवोपासना और अपरब्रह्म रूपसे प्रणवोपासना। निर्गुण ब्रह्मको 'परब्रह्म' कहते हैं, एवं सगुण ब्रह्मको 'अपरब्रह्म'। परब्रह्मका उपासक मोक्ष प्राप्त करता है तथा अपरब्रह्मका उपासक ब्रह्मलोकमें जाता है। इस प्रकार निर्गुण और सगुण भेदसे दो प्रकारकी प्रणवकी उपासना कही गयी है।

निर्गुण प्रणवोपासनाका क्रम

सकल वस्तुकी ओङ्कारस्वरूपता—निर्गुण प्रणवकी उपासनाका यहाँ वर्णन करते हैं, सगुणका नहीं। सगुण उपासनाका फल भी निर्गुण उपासनामें अन्तर्भूत हो जाता है। निर्गुण उपासकको भी यदि ब्रह्मलोककी इच्छा है तो इच्छारूप प्रतिबन्धके कारण वह ज्ञानद्वारा मोक्ष लाभ नहीं करता, किन्तु उसको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। वह ब्रह्मलोकमें हिरण्यगर्भके समान भोगोंका अनुभव करके वहीं ब्रह्मविचारसे ज्ञानोदय होनेसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जिसे ब्रह्मलोककी इच्छा नहीं, उस निर्गुण उपासकको इसी शरीरमें ज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार सगुण उपासनाका फल निर्गुण उपासनामें अन्तर्भूत होनेसे निर्गुण उपासनाका ही वर्णन करते हैं।

कारण-कार्यरूप समस्त वस्तु ओङ्कारस्वरूप ही है। अतः सकल रूप-प्रपञ्च ओङ्कार ही है। सब पदार्थोंमें नाम एवं रूप दो अंश हैं। इनमें रूपात्मक अंश नामात्मक अंशसे पृथक् नहीं है। नामस्वरूप ही रूपांश भी है। पदार्थोंका रूप—आकारविशेष अभिधायक—नाम शब्दसे निरूपित हुआ ही ग्रहण या त्याग किया जाता है। उस-उस वस्तुका नाम जाने बिना केवल आकारमात्रसे व्यवहार नहीं चल सकता। अतः नाम ही सार है। आकारका नाश होनेपर भी नाम शेष रहता है। जैसे घट नष्ट हो जानेपर भी मृत्तिका शेष रहती है, अतः मृत्तिकासे भिन्न घट नहीं है, किन्तु मृत्तिकास्वरूप ही है। उसी प्रकार आकारके नष्ट होनेपर भी मृत्तिकाके समान अवशिष्ट नामसे आकार भिन्न नहीं है, किन्तु आकार भी नामका स्वरूप ही है।

अथवा घट, शराव एवं उदञ्चनमें मृत्तिका अनुगत होती है। घट-शरावादि परस्पर व्यभिचारी हैं। अतः घट-शरावादि मिथ्या हैं, उनमें अनुगत मृत्तिका सत्य है। इसी प्रकार घटका आकार नाना है। उनका अभिधायक—नाम (घट) एक ही है। एक घटका आकार घटान्तरमें नहीं है, अतः आकारका व्यभिचार है। समस्त घटमें एक ही नाम अनुगत है। मिथ्याभूत आकार सत्यभूत नामसे पृथक् नहीं है। इस प्रकार समस्त पदार्थोंके आकार भी तत्तन्नामसे पृथक् नहीं हैं। अतः नामस्वरूप ही आकार है।

समस्त नामस्वरूप प्रपञ्च ओङ्कारसे पृथक् नहीं है, किन्तु ओङ्कार-स्वरूप ही है। वाचक शब्दको ही 'नाम' कहते हैं। लोक तथा वेदमें प्रयुक्त सब शब्द ओङ्कारसे ही उत्पन्न हैं—यह श्रुतियोंमें कहा गया है। **"तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा", "ओङ्कार एवेदं सर्वम्"**। कार्य सभी कारणस्वरूप ही होता है। अतः ओङ्कारके कार्यभूत वाचक शब्दात्मक नाम ओङ्कार-स्वरूप ही हैं। इस प्रकार रूपांश जो पदार्थाकार है वह सब नामस्वरूप ही है। और नाम सब ओङ्कारस्वरूप है। अतः सर्वस्वरूप ओङ्कार ही है।

ओङ्कारका ब्रह्मसे अभेद-चिन्तन

जैसे सर्वस्वरूप ओङ्कार है, वैसे ही सर्वस्वरूप ब्रह्म है। अतः ओङ्कार ब्रह्मरूप ही है। अथवा ओङ्कार ब्रह्मका वाचक है। ब्रह्म ओङ्कारका वाच्य है। वाच्य-वाचकमें भेद नहीं होता है। इससे भी ओङ्कार ब्रह्मस्वरूप है। दूसरी बात यह कि विचार करनेपर जो अक्षर ब्रह्ममें अध्यस्त है उसका अधिष्ठान ब्रह्म होता है। अध्यस्तका स्वरूप अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होता है। इस कारण भी ओङ्कार ब्रह्म ही है। अतः ओङ्कारका ब्रह्मरूपसे चिन्तन करना चाहिये।

ब्रह्मस्वरूप ओङ्कार और आत्माका अभेद-चिन्तन

आत्मस्वरूप ब्रह्मके पादचतुष्टयका निरूपण

ब्रह्मस्वरूप ओङ्कारको आत्मासे अभिन्न चिन्तन करें। क्योंकि आत्मा-का ब्रह्मसे मुख्य अभेद है। ब्रह्मके समान आत्माके भी चार पाद हैं। पादका अर्थ भाग या अंश है। विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तत्पदका लक्ष्यार्थभूत ईश्वरसाक्षी—ये ब्रह्मके चार पाद हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और त्वंपदका लक्ष्य जीवसाक्षी—ये चार पाद आत्माके हैं। जीवसाक्षीको ही तुरीय पदसे कहा जाता है। समष्टि स्थूल प्रपञ्चके अभिमानी चेतनका नाम विराट् है। व्यष्टि स्थूलके अभिमानी चेतनका नाम विश्व है। विराट् और विश्वकी स्थूल उपाधि होनेसे विश्व विराट्-रूप ही है उससे अन्य नहीं है।

विराट्-रूप विश्वके सात अङ्ग हैं—(१) स्वर्गलोक शिर है। (२) सूर्य चक्षु हैं। (३) वायु प्राण है। (४) आकाश उर है। (५) समुद्रादिरूप जल मूत्रस्थान (वस्ति) है। (६) पृथिवी पाद है। (७) आहवनीय—होमाधिकरण अग्नि मुख है। ये विश्वके सात अङ्ग हैं। द्युलोकादि यद्यपि विश्वके अङ्ग नहीं हैं तथापि विराट्के अङ्ग हैं। विश्वका विराट्से अभेद है। अतः माण्डूक्यमें उनको विश्वका ही अङ्ग कहा गया है।

किन्तु यह ध्येय वस्तुके स्वरूपानुरूप ध्यान है। वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णुका स्वरूप प्रत्यक्षगोचर नहीं है, किन्तु शास्त्रैकसमधिगम्य है। शास्त्रोंमें विष्णुका स्वरूप चतुर्भुज शङ्ख-चक्रादियुक्त वर्णन है। अतः विष्णुका यह ध्यान ध्येय वस्तुके स्वरूपानुसार ही है। विधि-शास्त्रमें विश्वासके अभावमें ध्यान सिद्ध नहीं होता है। **'इदमुपासीत'** इस रूपसे पुरुषके प्रवर्तक वचनको विधि कहते हैं। उस वचनमें श्रद्धाका नाम विश्वास है। अन्तःकरणके रजोगुणके परिणामरूप कामात्मिका वृत्तिका नाम इच्छा है। हठसे भी ध्यान सिद्ध होता है। किन्तु ज्ञानमें इन सबकी अपेक्षा नहीं है। निरन्तर ध्येयाकार चित्तवृत्तिका प्रवाह ही ध्यान है। अतः चित्तवृत्तिमें विक्षेप होनेपर हठसे वृत्तिको स्थिर करे। ज्ञानरूप अन्तःकरणके वृत्ति-उदय-कालमें ही विषयका आवरण भङ्ग हो जानेसे वृत्ति-स्थैर्य-सम्पादनका उपयोग नहीं है। अतः ज्ञानमें हठकी अपेक्षा नहीं है।

अहंग्रह-ध्यान—वैकुण्ठवासी चतुर्भुज विष्णुके ध्यानके समान ही **'अहं ब्रह्म'** यह ध्यान भी ध्येय-स्वरूपानुसार ही है, प्रतीक ध्यान नहीं है। किन्तु यह अहंग्रह-ध्यान है। ध्येय स्वरूपको अपनेसे अभिन्न रूपसे अनुसन्धान करनेका नाम अहंग्रह-ध्यान है। जिसको वेदान्त-विचारसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता वह वेदकी आज्ञारूप उपासनाके विधि-वाक्यमें श्रद्धा करके निरन्तर हठसे **'अहं ब्रह्मास्मि'** 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अहं-ग्रह-ध्यान करे। उसको क्रमसे ज्ञानोत्पत्तिद्वारा मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

प्रणवोपासन-निरूपण

प्रणवमें अहंग्रह-ध्यान—प्रकारान्तरसे प्रणवमें अहंग्रह-ध्यान कहते हैं। प्रणवरूप ओङ्कारमें अहंग्रह-ध्यान माण्डूक्यादि श्रुतिके अनुसार श्रीसुरेश्वराचार्यद्वारा कहा गया है। मोक्षकामनावालेको उसका अनुष्ठान करना चाहिये। उसका क्रम यह है कि 'प्रणवरूप जो अक्षर है वह ब्रह्मस्वरूप ही है और उस प्रकारका प्रणवस्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ।'—यों निरन्तर अनवरत ध्यान करता रहे। इसके समान अन्य कोई ध्यान नहीं

है। इस ध्यानका विशेष क्रम श्रीसुरेश्वराचार्यने पञ्चीकरण नामक ग्रन्थमें प्रतिपादन किया है। इसका उपासक अपार संसारको तर जाता है। इसका अधिकारी संन्यासी ही है।

निर्गुण तथा सगुण प्रणवोपासनाके फल

प्रणवकी उपासना अनेकों उपनिषदोंमें वर्णित है। माण्डूक्यमें विशेष रूपसे इसका वर्णन है। इस उपनिषद्में भाष्यकार एवं श्रीआनन्दगिरि आचार्यने विस्पष्ट वर्णन किया है। इसमें जो क्रम है वही वार्तिककारने अपने पञ्चीकरणमें भी वर्णन किया है। ऐसे प्रौढ़ ग्रन्थोंके विचारमें असमर्थ साधकोंके अनायास बोधके लिये प्रणवकी उपासनाका क्रम यहाँ निरूपण करते हैं।

उपनिषद्में प्रणवोपासना दो प्रकारसे वर्णित है—परब्रह्म रूपसे प्रणवोपासना और अपरब्रह्म रूपसे प्रणवोपासना। निर्गुण ब्रह्मको 'परब्रह्म' कहते हैं, एवं सगुण ब्रह्मको 'अपरब्रह्म'। परब्रह्मका उपासक मोक्ष प्राप्त करता है तथा अपरब्रह्मका उपासक ब्रह्मलोकमें जाता है। इस प्रकार निर्गुण और सगुण भेदसे दो प्रकारकी प्रणवकी उपासना कही गयी है।

निर्गुण प्रणवोपासनाका क्रम

सकल वस्तुकी ओङ्कारस्वरूपता—निर्गुण प्रणवकी उपासनाका यहाँ वर्णन करते हैं, सगुणका नहीं। सगुण उपासनाका फल भी निर्गुण उपासनामें अन्तर्भूत हो जाता है। निर्गुण उपासकको भी यदि ब्रह्मलोककी इच्छा है, तो इच्छारूप प्रतिबन्धके कारण वह ज्ञानद्वारा मोक्ष लाभ नहीं करता, किन्तु उसको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। वह ब्रह्मलोकमें हिरण्यगर्भके समान भोगोंका अनुभव करके वहीं ब्रह्मविचारसे ज्ञानोदय होनेसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जिसे ब्रह्मलोककी इच्छा नहीं, उस निर्गुण उपासकको इसी शरीरमें ज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार सगुण उपासनाका फल निर्गुण उपासनामें अन्तर्भूत होनेसे निर्गुण उपासनाका ही वर्णन करते हैं।

कारण-कार्यरूप समस्त वस्तु ओङ्कारस्वरूप ही है। अतः सकल रूप-प्रपञ्च ओङ्कार ही है। सब पदार्थोंमें नाम एवं रूप दो अंश हैं। इनमें रूपात्मक अंश नामात्मक अंशसे पृथक् नहीं है। नामस्वरूप ही रूपांश भी है। पदार्थोंका रूप—आकारविशेष अभिधायक—नाम शब्दसे निरूपित हुआ ही ग्रहण या त्याग किया जाता है। उस-उस वस्तुका नाम जाने बिना केवल आकारमात्रसे व्यवहार नहीं चल सकता। अतः नाम ही सार है। आकारका नाश होनेपर भी नाम शेष रहता है। जैसे घट नष्ट हो जानेपर भी मृत्तिका शेष रहती है, अतः मृत्तिकासे भिन्न घट नहीं है, किन्तु मृत्तिकास्वरूप ही है। उसी प्रकार आकारके नष्ट होनेपर भी मृत्तिकाके समान अवशिष्ट नामसे आकार भिन्न नहीं है, किन्तु आकार भी नामका स्वरूप ही है।

अथवा घट, शराव एवं उदञ्चनमें मृत्तिका अनुगत होती है। घट-शरावादि परस्पर व्यभिचारी हैं। अतः घट-शरावादि मिथ्या हैं, उनमें अनुगत मृत्तिका सत्य है। इसी प्रकार घटका आकार नाना है। उनका अभिधायक—नाम (घट) एक ही है। एक घटका आकार घटान्तरमें नहीं है, अतः आकारका व्यभिचार है। समस्त घटमें एक ही नाम अनुगत है। मिथ्याभूत आकार सत्यभूत नामसे पृथक् नहीं है। इस प्रकार समस्त पदार्थोंके आकार भी तत्तन्नामसे पृथक् नहीं हैं। अतः नामस्वरूप ही आकार है।

समस्त नामस्वरूप प्रपञ्च ओंकारसे पृथक् नहीं है, किन्तु ओंकार-स्वरूप ही है। वाचक शब्दको ही 'नाम' कहते हैं। लोक तथा वेदमें प्रयुक्त सब शब्द ओङ्कारसे ही उत्पन्न हैं—यह श्रुतियोंमें कहा गया है। **"तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा", "ओङ्कार एवेदं सर्वम्"**। कार्य सभी कारणस्वरूप ही होता है। अतः ओंकारके कार्यभूत वाचक शब्दात्मक नाम ओंकार-स्वरूप ही हैं। इस प्रकार रूपांश जो पदार्थाकार है वह सब नामस्वरूप ही है। और नाम सब ओङ्कारस्वरूप है। अतः सर्वस्वरूप ओंकार ही है।

ओङ्कारका ब्रह्मसे अभेद-चिन्तन

जैसे सर्वस्वरूप ओङ्कार है, वैसे ही सर्वस्वरूप ब्रह्म है। अतः ओङ्कार ब्रह्मरूप ही है। अथवा ओङ्कार ब्रह्मका वाचक है। ब्रह्म ओङ्कारका वाच्य है। वाच्य-वाचकमें भेद नहीं होता है। इससे भी ओङ्कार ब्रह्मस्वरूप है। दूसरी बात यह कि विचार करनेपर जो अक्षर ब्रह्ममें अध्यस्त है उसका अधिष्ठान ब्रह्म होता है। अध्यस्तका स्वरूप अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होता है। इस कारण भी ओङ्कार ब्रह्म ही है। अतः ओङ्कारका ब्रह्मरूपसे चिन्तन करना चाहिये।

ब्रह्मस्वरूप ओङ्कार और आत्माका अभेद-चिन्तन

आत्मस्वरूप ब्रह्मके पादचतुष्टयका निरूपण

ब्रह्मस्वरूप ओङ्कारको आत्मासे अभिन्न चिन्तन करें। क्योंकि आत्मा-का ब्रह्मसे मुख्य अभेद है। ब्रह्मके समान आत्माके भी चार पाद हैं। पादका अर्थ भाग या अंश है। विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तत्पदका लक्ष्यार्थभूत ईश्वरसाक्षी—ये ब्रह्मके चार पाद हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और त्वंपदका लक्ष्य जीवसाक्षी—ये चार पाद आत्माके हैं। जीवसाक्षीको ही तुरीय पदसे कहा जाता है। समष्टि स्थूल प्रपञ्चके अभिमानी चेतनका नाम विराट् है। व्यष्टि स्थूलके अभिमानी चेतनका नाम विश्व है। विराट् और विश्वकी स्थूल उपाधि होनेसे विश्व विराट्-रूप ही है उससे अन्य नहीं है।

विराट्-रूप विश्वके सात अङ्ग हैं—(१) स्वर्गलोक शिर है। (२) सूर्य चक्षु हैं। (३) वायु प्राण है। (४) आकाश उर है। (५) समुद्रादिरूप जल मूत्रस्थान (बस्ति) है। (६) पृथिवी पाद है। (७) आहवनीय—होमाधिकरण अग्नि मुख है। ये विश्वके सात अङ्ग हैं। द्युलोकादि यद्यपि विश्वके अङ्ग नहीं हैं तथापि विराट्के अङ्ग हैं। विश्वका विराट्से अभेद है। अतः माण्डूक्यमें उनको विश्वका ही अङ्ग कहा गया है।

इसी प्रकार विराडात्मक विश्वके उन्नीस मुख हैं। पञ्च प्राण, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरणचतुष्टय—ये सब मिलकर उन्नीस मुख हैं। ये भोगके साधन होनेसे मुख कहे गये हैं। जाग्रत्-अवस्थामें इन उन्नीस मुखोंसे स्थूल शब्दादिको बाह्यवृत्तिसे अनुभव किया जाता है। अतः विराट्-रूप विश्वको स्थूलभुक्, बाह्यवृत्ति और जाग्रत्-अवस्थावान् कहते हैं।

चतुर्दश त्रिपुटी—भोगके साधन पञ्च प्राण एवं श्रोत्रादि दश इन्द्रियाँ और अन्तःकरणचतुष्टय—ये उन्नीस अपने-अपने विषयके ग्रहणमें अपने-अपने देवताकी भी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं। देवताकी सहायताके विना केवल इन चतुर्दश मुखोंसे भोग सम्भव नहीं होता है। अतः पञ्च प्राण तथा चौदह त्रिपुटी विराट्-रूप विश्वके मुख कहे जाते हैं। मुख, देवता और विषय तीनोंके समूहको त्रिपुटी कहते हैं। त्रिपुटीवर्णन इस प्रकार है कि—(१) श्रोत्रेन्द्रिय अध्यात्म, इसका विषय शब्द अधिभूत, दिगभिमानी देवता अधिदैव है। यहाँ क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्तिसे युक्त ही इन्द्रियों और अन्तःकरणको अध्यात्म कहते हैं। इनके विषयको अधिभूत और इनके सहायक देवताको अधिदैव कहते हैं। (२) त्वगिन्द्रियको अध्यात्म, इसके विषय- स्पर्शको अधिभूत और वायु-अभिमानी देवताको अधिदैव कहते हैं। (३) नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य अधिदैव है। (४) रसनेन्द्रिय अध्यात्म, रस अधिभूत और वरुण अधिदैव है। (५) घ्राणेन्द्रिय अध्यात्म, गन्ध अधिभूत और अश्विनीकुमार अधिदैव है अथवा पृथिवीका अभिमानी देवता अधिदैव है। [सूर्यके अश्वके घ्राणसे अश्विनीकुमारोंकी उत्पत्तिका वर्णन होनेसे घ्राणके देवता अश्विनीकुमार हैं। पृथिवीसे घ्राण उत्पन्न होनेसे पृथिवीका अभिमानी देवता घ्राणका अधिदैव है—यह वार्तिककार कहते हैं।] (६) वागिन्द्रियको अध्यात्म, वक्तव्यको अधिभूत और अग्निदेवताको अधिदैव कहते हैं। [वचन-क्रियाके विषयभूत पदार्थको वक्तव्य कहते हैं। वह वचन-क्रिया-

द्वारा वागिन्द्रियका अधिभूत होता है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियोंके अपनी-अपनी क्रियाके द्वारा विषयभूत पदार्थ अधिभूत कहे गये हैं। कोई स्थूल दृष्टिसे वचनादि क्रियाको ही अधिभूत कहते हैं।] (७) पाणीन्द्रिय अध्यात्म, पदार्थका ग्रहण अधिभूत और इन्द्र अधिदैव है। (८) पादेन्द्रिय अध्यात्म, गमन अधिभूत और विष्णु अधिदैव है। (९) पायु अध्यात्म, मलत्याग अधिभूत और यमदेवता अधिदैव है। (१०) उपस्थेन्द्रिय अध्यात्म, ग्राम्य सुख अधिभूत और प्रजापति अधिदैव है। (११) मन अध्यात्म, मन्तव्य (संकल्प) अधिभूत और चन्द्रमा अधिदैव है। (१२) बुद्धि अध्यात्म, बोधव्य (निश्चय) अधिभूत और बृहस्पति अधिदैव है। (१३) अहङ्कार अध्यात्म, अहङ्कर्तव्य अधिभूत और रुद्र देवता अधिदैव है। (१४) चित्त अध्यात्म, चिन्तनीय अधिभूत और क्षेत्रज्ञसाक्षी अधिदैव है। ये चतुर्दश त्रिपुटी और पञ्चप्राण सब मिलकर विराट्-रूप विश्वके उन्नीस मुख कहे जाते हैं।

विश्व, विराट् और अकारमात्राका अभेद-चिन्तन

जैसे विराट् एवं विश्वका अभेद है, उसी प्रकार ओङ्कारकी प्रथमा मात्रा अकारका विराट्-रूप विश्वसे अभेद है। ब्रह्मके चार पादोंमें प्रथम पाद है विराट्। आत्माका प्रथम पाद विश्व है। ओङ्कारके मात्रात्मक चार पादोंमें प्रथम पाद अकार है। इन तीनोंमें आदित्वरूप धर्म सामान्य होनेसे विश्व, विराट् और अकारका अभेद चिन्तन करे।

विश्व और तैजसमें विलक्षणता

विश्वके जो सात अङ्ग एवं उन्नीस मुख कहे गये हैं, वे तैजसके भी हैं यह जानना चाहिये। किन्तु उसमें यह भेद है कि विश्वके जो अङ्ग और मुख हैं वे तो ईश्वररचित हैं। और तैजसकी जो इन्द्रिय, विषय और देवतारूप त्रिपुटी कही गयी, वही शिर आदि सात अङ्ग तथा उन्नीस मुख

ब्रह्मस्वरूप ओङ्कार और आत्माका अभेद : २६१

है, वह सब मनोमय (मनसे रचित) है। तैजसका भोग भी सूक्ष्म है। भोगका अर्थ है सुख-दुःखका अनुभव। यद्यपि अनुभवरूप ज्ञानमें स्थूलत्व-सूक्ष्मत्वका भेद नहीं है, तथापि बाह्य शब्दादि विषयोंके सम्बन्धसे उत्पन्न सुख-दुःखादिके साक्षात्कारको स्थूल कहते हैं। और मानस शब्दादिसे जायमान सुख-दुःखादि साक्षात्कारका नाम सूक्ष्म है। जैसा कि श्रुति कहती है—**"स्थूलभुग्वैश्वानरः"** (मा० आ० ३) **"प्रविविक्तभुक्तैजसः"** (म० आ० ४) **"विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्त-भुक्।"** (आ० आ० ५) इस प्रकार तैजसके भोगके योग्य शब्दादि मानस होनेसे सूक्ष्म हैं। इसकी अपेक्षा विश्वके भोगके योग्य शब्दादि बाह्य होनेसे स्थूल हैं। और भी विलक्षणता यह है कि विश्व बहिष्प्रज्ञ है तथा तैजस अन्तःप्रज्ञ है। क्योंकि विश्वकी अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रज्ञा बाहर जाती है और तैजसकी प्रज्ञा बाहर नहीं जाती है। इसी कारण इनको क्रमसे बहिष्प्रज्ञ तथा अन्तःप्रज्ञ कथन किया गया है।

तैजस, हिरण्यगर्भ और उकारका अभेद-चिन्तन

जैसे विश्व तथा विराट्में अभेद है, उसी प्रकार तैजस और हिरण्य-गर्भमें भी अभेद जानना चाहिये। तैजसकी उपाधि सूक्ष्म है। हिरण्यगर्भकी भी उपाधि सूक्ष्म है। अतः इन दोनोंमें ऐक्य है। तैजस और हिरण्यगर्भमें एकता निश्चय करके ओङ्कारकी द्वितीय मात्रा उकारसे दोनोंका अभेद चिन्तन करे। आत्माके चार पादोंमें द्वितीय पाद तैजस है। ब्रह्मका द्वितीय पाद है हिरण्यगर्भ। ओङ्कारकी मात्राओंमें द्वितीय मात्रा उकार है। इन तीनोंका द्वितीयत्व समान है। इसी कारण तीनोंका ऐक्य चिन्तन करना चाहिये।

प्राज्ञ, ईश्वर और मकारका अभेद-चिन्तन

प्राज्ञको ईश्वररूप जानना चाहिये। प्राज्ञकी कारण शरीर उपाधि है। ईश्वरकी उपाधि भी कारण ही है। ईश्वर एवं प्राज्ञ चार पादोंमें तृतीय

पाद हैं। ओङ्कारकी तीसरी मात्रा मकार है। इन तीनोंमें तृतीयत्व समानधर्म होनेसे ऐक्य चिन्तन करे। वह यह प्राज्ञ "प्रज्ञानघन" होता है। जाग्रत् एवं स्वप्नमें जितने ज्ञान हैं, वे सब सुषुप्तिमें घनीभूत हो जाते हैं। [जैसे तण्डुलकण जलसे पिण्डीकृत हो एक हो जाते हैं अथवा वृष्टिके जलबिन्दु निम्नदेशमें तडागादिरूपसे एक होते हैं। उसी प्रकार जाग्रत् तथा स्वप्नकालके नाना ज्ञान सुषुप्तिरूप अविद्यामें एक हो जाते हैं। उस अविद्यामें प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप प्राज्ञ जीव अधिष्ठान कूटस्थसहितका नाम प्रज्ञानघन है।] वे सुषुप्तिमें घनीभूत ज्ञान अविद्यामात्र स्वरूपको स्वीकार कर लेते हैं। अतः प्राज्ञको 'प्रज्ञानघन' कहते हैं। यह प्राज्ञ 'आनन्दभुक्' सुना जाता है। 'आनन्दभुक् प्राज्ञः' (मा० आ० ५)। क्योंकि यह प्राज्ञ अविद्यासे आवृत आनन्दका भोक्ता है, इससे 'आनन्दभुक्' कहा जाता है। विश्व और तैजसके तुल्य प्राज्ञके भी भोगमें त्रिपुटीका वर्णन किया जाता है—चैतन्यप्रतिबिम्बसहित अविद्यावृत्तिको अध्यात्म, अज्ञानसे आवृत स्वरूपानन्दको अधिभूत और ईश्वरको अधिदैव कहते हैं। इस प्रकार विश्व बहिष्प्रज्ञ, तैजस अन्तःप्रज्ञ और प्राज्ञ प्रज्ञानघन होता है।

विश्वादि तीनोंका एकत्व और तुरीय ईश्वरका साक्षीसे अभेद चिन्तन करे

इस प्रकार विश्वादि तीनोंमें परस्पर भेद उपाधिकृत ही है। विश्वको स्थूल, सूक्ष्म और अज्ञान—ये तीन उपाधियाँ हैं। तैजसको सूक्ष्म एवं अज्ञान दो उपाधि हैं। प्राज्ञको केवल एक अज्ञान ही उपाधि है। इस प्रकार उपाधियोंके अधिक-न्यून भेदसे तीनोंमें भेद होनेपर भी वस्तुतः स्वरूपसे भेद नहीं है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनोंमें अनुगत चैतन्य परमार्थतः उपाधित्रयसे असम्बद्ध (बिना सम्बन्धके) ही रहता है। तीनों उपाधियों-का अधिष्ठान तुरीय है। वह न बहिष्प्रज्ञ है, न अन्तःप्रज्ञ है और न प्रज्ञानघन ही है। न कर्मेन्द्रियोंका विषय है, न ज्ञानेन्द्रियोंका ही। न बुद्धिका विषय है, न किसी शब्दका ही विषय है। इस प्रकार तुरीयको

परमात्माका चतुर्थ पादात्मक ईश्वरसाक्षीरूप शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही जानना चाहिये।

दो स्वरूप आत्माका दो स्वरूप ओङ्कारसे अभेद, ओङ्कारकी मात्राओंका और आत्माके पादोंका परस्पर अभेद चिन्तन करे

इस प्रकार परमार्थ तथा अपरमार्थ आत्माके दो रूप कहे गये। तीनों पाद अपरमार्थरूप हैं और तुरीयपाद परमार्थस्वरूप है। आत्माके समान ओङ्कारके भी दो स्वरूप हैं। अकार, उकार और मकारात्मक तीन मात्रा-रूप अक्षर (वर्ण) को अपरमार्थस्वरूप तथा तीनों मात्रामें व्यापक जो अस्ति, भाति और प्रियरूप अधिष्ठान चैतन्य है उसको परमार्थस्वरूप कहा है। ओङ्कारके परमार्थस्वरूपको श्रुतिमें अमात्र शब्दसे कथन किया गया है। **"अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः"** (मा० आ० १२)।

क्योंकि परमार्थस्वरूपमें मात्राका विभाग नहीं है, अतः अमात्र कहा गया है। इस प्रकारके दो स्वरूपवान् ओङ्कारका दो रूपवाले आत्मासे अभेद जानना चाहिये।

(१) व्यष्टि-समष्टि स्थूल प्रपञ्च विश्व एवं विराट्का अकारसे अभेद जानना चाहिये। आत्माके पादोंमें विश्व प्रथम पाद है। ओङ्कारकी मात्राओंमें अकार प्रथमा मात्रा है। अतः इन दोनोंमें ऐक्य जाने। (२) सूक्ष्म प्रपञ्चसहित हिरण्यगर्भात्मक तैजसका उकारसे अभेद चिन्तन करे। क्योंकि आत्माके पादोंमें तैजस दूसरा पाद है। ओङ्कारकी मात्राओंमें उकार द्वितीया मात्रा है। अतः इनमें ऐक्य जाने। (३) कारणोपाधिसहित ईश्वररूप प्राज्ञको मकाररूपसे जाने। आत्माके पादोंमें ईश्वरस्वरूप प्राज्ञ तृतीय है और ओङ्कारकी मात्राओंमें मकार तृतीया मात्रा है। इस कारण इनमें अभेद है। आत्माके तीनों पादोंमें अनुगत परमार्थरूप तुरीयका

ओङ्कारकी तीनों मात्राओंमें अनुगत ओङ्कारके परमार्थस्वरूप अमात्रसे अभेद ही जाने। विश्वादिमें तुरीय अनुगत है। तथा अकारादि तीनों मात्राओंमें अमात्रको अनुगत जाने। अतः ओङ्कारके परमार्थस्वरूप अमात्रका और तुरीयका अभेद जानना चाहिये। इस रीतिसे आत्माके तीनों पादोंकी और ओङ्कारकी तीनों मात्राओंकी एकता चिन्तन करता हुआ लय-चिन्तन करे।

लय-चिन्तनका निरूपण

एक-एक मात्रारूप विश्वादिकी अन्यमात्रारूपता—अब लय-चिन्तनका निरूपण करते हैं। विश्वात्मक अकार तैजसात्मक उकारसे भिन्न नहीं है, किन्तु उकाररूप ही है। इस प्रकारके चिन्तनका नाम ही लय है। इसी प्रकार इतर मात्राओंमें भी विचार कर लेना चाहिये। जिस उकारमें अकारका लय किया है, उस तैजसात्म उकारको प्राज्ञात्मक मकारमें लीन करे। प्राज्ञरूप मकारको भी तुरीयरूप ओङ्कारके परमार्थस्वरूप अमात्रमें लीन कर दे। क्योंकि स्थूलकी उत्पत्ति सूक्ष्मसे होती है, अतः स्थूलका लय सूक्ष्ममें होता है। इसीलिये विश्वरूप अकार तैजसरूप उकारमें लय होता है। 'सूक्ष्मकी उत्पत्ति कारणसे होती है अतः सूक्ष्मका लय कारण-में होता है। तैजसरूप उकारका उसके कारण प्राज्ञरूप मकारमें लय करे। यहाँ विश्वादिके ग्रहणसे अपनी-अपनी त्रिपुटीसहित समष्टि विराडादिका भी ग्रहण हो जाता है। जिस प्राज्ञरूप मकारमें उकारका लय किया है, उस मकारको तुरीयरूप ओङ्कारके परमार्थरूप अमात्रमें लीन करे। ओङ्कार एवं परमार्थस्वरूप तुरीयका अभेद है। वह तुरीय ब्रह्म ही है। उस शुद्ध-स्वरूप ब्रह्ममें ईश्वर और प्राज्ञ कल्पित हैं। जो जिसमें कल्पित होता है वह उसका स्वरूप ही होता है। यह न्याय है। अतः ईश्वरसहित प्राज्ञरूप मकारका अमात्रमें लय करना योग्य ही है। इस प्रकार जिस ओङ्कारके परमार्थस्वरूप अमात्रमें सबका लय किया है **'स एव अहमस्मि'**—'वही

ओङ्कार-ध्यानसे ब्रह्मलोकप्राप्ति : २६५

मैं हूँ' इसको एकाग्र चित्तसे निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। निखिल चराचर प्रपञ्चात्म असंग अद्वय असंसारी नित्यमुक्त निर्भय ब्रह्मरूप जो ओङ्कार है उसका जो परमार्थस्वरूप है **'तदेव अहमस्मि'** वही मैं हूँ—इसको आदरसे निरन्तर दीर्घ कालतक जो चिन्तन करता है उसको ज्ञान उदय होता है। और ज्ञानद्वारा मुक्तिरूप फल भी प्राप्त होता ही है। इस प्रकार ओङ्कारकी निर्गुण उपासना सब उपासनाओंसे श्रेष्ठ कही जाती है।

ओङ्कारकी उपासनामें परमहंसका ही अधिकार है

पूर्वोक्त रीतिसे ओङ्कारको जो जानता है वह मुनि है। मनन करनेसे मुनि कहा जाता है। इस प्रकार ओङ्कारके चिन्तनको मनन कहते हैं। जिसको इस प्रकार ओङ्कारका चिन्तनरूप मनन नहीं है, वह मुनि नहीं हो सकता। इस विधिसे माण्डूक्य उपनिषद्में संक्षेपसे ओङ्कार-चिन्तनका वर्णन किया गया है। नृसिंहतापिनी आदि उपनिषदोंमें भी ओङ्कारकी उपासनाका क्रम वर्णित है। यह ओङ्कार-चिन्तन परमहंसोंका गोप्य धन है। बहिर्मुखका इसमें अधिकार नहीं है। अत्यन्त अन्तर्मुखका ही इसमें अधिकार है। गृहस्थोंका इसमें अधिकार नहीं है।

ओङ्कार-ध्यानसे ज्ञानद्वारा मोक्षफल

उक्त रीतिसे ब्रह्मस्वरूप ओङ्कारके उपासकको ज्ञानद्वारा मोक्ष सिद्ध होता है। किन्तु जिसको इस लोक अथवा परलोक—ब्रह्मलोकके भोगोंकी इच्छा है, तीव्र वैराग्य नहीं है, तथापि हठसे इच्छाको रोककर स्त्री-पुत्रादिको त्यागकर परमहंस गुरुके द्वारा उपदेश प्राप्तकर यावज्जीवन ओङ्कारस्वरूप ब्रह्मका ध्यान करता है तो उसकी भोगेच्छा ज्ञानमें प्रतिबन्धक होती है। अतः उसको यहाँ ज्ञान नहीं होता है। किन्तु वह ध्यानानुष्ठानपूर्वक इस शरीरको त्यागकर शरीरान्तर ग्रहण करता है। भोगेच्छानिरोधपूर्वक

ध्यानानुष्ठानसे वह मनुष्यलोकमें पवित्र श्रीमान् पुरुषोंके कुलमें उत्पन्न होता है। वहाँ पूर्वजन्मके इच्छाभूत सकल भोगोंको भोगकर पूर्वजन्मानुष्ठित ध्यानके संस्कारके बलसे पुनः ध्यान अथवा विचारमें प्रवृत्त हो जाता है। तदनन्तर ज्ञान एवं ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

ओङ्कार-ध्यानसे ब्रह्मलोक-प्राप्तिरूप फल

यदि किसीने ब्रह्मलोक-प्राप्तिकी इच्छाका निरोध करके ओङ्काररूप ब्रह्मका ध्यान किया, तो वह शरीरपातके अनन्तर ब्रह्मलोकमें जाता है। वहाँ ब्रह्मलोकके मनुष्य, पितर, देवता आदिके लिये दुर्लभ सुख अनुभव करता हुआ हिरण्यगर्भके तुल्य भोगोंको तथा सत्यसंकल्पत्वादि ऐश्वर्यविशेषको प्राप्त करता है।

ब्रह्मलोकका मार्ग

ब्रह्मलोकके मार्गमें जानेका क्रम यह है कि उपासनामें तत्पर पुरुषका जब शरीर-पात होता है, तब अन्तःकरण और इन्द्रिय सम्मूर्च्छित हो जाते हैं। उस समय वह कुछ भी जानने अथवा करनेमें असमर्थ हो जाता है। तथापि यमदूत उसके लिङ्ग शरीरको लेने उसके निकट नहीं आते हैं। किन्तु अग्निके अभिमानी देवता उसके मरण-समयमें उसको स्थूल शरीरसे वियुक्त करके अपने लोकमें ले जाते हैं। अग्निलोकसे उस उपासकको अहरभिमानी देव अपने लोकमें ले जाते हैं। तदनन्तर शुक्लपक्षाभिमानी देव उसको अपने लोकमें ले जाते हैं। वहाँसे उत्तरायणाभिमानी देव अपने लोकमें ले जाते हैं और वहाँसे संवत्सराभिमानी देव उस उपासकको अपने लोकमें ले जाते हैं। तदनन्तर देवलोकाभिमानी देवता अपने लोकमें ले जाते हैं। वहाँसे वायु-अभिमानी देव अपने लोकमें और वहाँसे सूर्याभिमानी देव अपने लोकमें ले जाते हैं। वहाँसे चन्द्राभिमानी देव अपने लोकमें और वहाँसे विद्युदभिमानी देवता अपने लोकमें ले जाते हैं।

उस विद्युत्-लोकमें हिरण्यगर्भकी आज्ञासे हिरण्यगर्भलोकवासी हिरण्य-गर्भस्वरूप कोई दिव्य पुरुष उस उपासकको लेने आता है। वह अमानव पुरुष उस उपासकको विद्युत्-लोकसे वरुणलोकमें पहुँचा देता है। विद्युद-भिमानी पुरुष भी वरुणलोकतक उसके साथ जाता है। वरुणलोकसे वह अमानव ही उपासकको इन्द्रलोकमें ले जाता है। वरुण देवता भी इन्द्रलोकतक उसके साथ जाते हैं। इन्द्रलोकसे वह अमानव पुरुष ही प्रजापतिलोकमें ले जाता है। इन्द्र भी उसके साथ प्रजापतिलोकतक जाते हैं। प्रजापतिका ब्रह्मलोकमें जानेका सामर्थ्य न होनेसे वह अमानव पुरुष अकेला ही उस उपासकको प्रजापतिलोकसे ब्रह्मलोकमें ले जाता है। ब्रह्मलोकका अधि-पति हिरण्यगर्भ है। समष्टि सूक्ष्माभिमानी चेतनका नाम हिरण्यगर्भ है। उन्हीं हिरण्यगर्भको अपर ब्रह्म अथवा कार्य ब्रह्म भी कहते हैं। कार्य ब्रह्मसे अधिष्ठित लोकको ही ब्रह्मलोक कहते हैं।

सायुज्यमुक्ति-वर्णन

यद्यपि ओङ्कार-उपासनाको शुद्ध ब्रह्मरूपसे वर्णन किया गया है। और शुद्ध ब्रह्मोपासकको शुद्ध ब्रह्मलोककी प्राप्ति होनी चाहिये। "यथा-क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" (छा० ३। १४। १) यह श्रुति है।

> यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
> तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
> (गीता ८। ६)

यह श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित एवं न्याययुक्त भी है। तथापि शुद्ध ब्रह्म-प्राप्तिमें वेदान्त-प्रमाणजन्य द्वैत-मिथ्यात्वपूर्वक अद्वैत ज्ञानमात्र साध्य होनेसे तथा भोगेच्छारूप प्रतिबन्धके कारण जिसको ज्ञान नहीं होता है, उसको कार्यब्रह्म-प्राप्तिरूप सायुज्यमुक्ति ही प्राप्त होती है। ब्रह्मलोकप्राप्त

उपासकको हिरण्यगर्भके समान विभूति एवं ऐश्वर्यादि प्राप्त होता है। सत्यसंकल्पत्व, इच्छानुसार शरीर तथा संकल्पमात्रसे अभीष्ट भोगका लाभ भी होता है। एक कालमें ही नाना शरीरोंसे नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा होनेपर संकल्पमात्रसे ही क्षणभरमें नाना विचित्र शरीर और पृथक्-पृथक् समस्त भोगोपकरण प्राप्त हो जाते हैं। अधिक क्या कहें, वह जो-जो संकल्प करता है, वह सब निर्विघ्न सद्यः प्राप्त हो जाता है। परन्तु जगत्की सृष्टि, पालन और संहारकी शक्ति नहीं होती है। और सब विभूति तो हिरण्यगर्भके समान ही प्राप्त होती है। कारण यह कि यदि अनेक ईश्वर हों तो जगत्में उथल-पुथलका प्रसंग होने लगेगा। अतः सृष्टि, पालन तथा संहार इन तीन शक्तियोंके अतिरिक्त समस्त ऐश्वर्य उपासकको प्राप्त हो जाता है। इसीको सायुज्यमुक्ति कहते हैं। इस प्रकार उपासक हिरण्यगर्भके समान चिरकालपर्यन्त संकल्पमात्रसे सिद्ध नाना दिव्य भोगों-को भोगता हुआ प्रलयकालमें हिरण्यगर्भलोकके अवसानकालमें अद्वैत ज्ञान प्राप्त होनेसे विदेहमोक्षलाभ कर लेता है।

> ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे।
> परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

[राजाके राज्यमें प्रजाके समान ईश्वरके लोकमें वास होना सालोक्य-मुक्ति है। उससे श्रेष्ठ, राजाके सेवकादिके समान ईश्वरके समीप वासका नाम सामीप्यमुक्ति है। उससे भी उत्कृष्ट, राजा-भ्रातृवत् ईश्वरके समान स्वरूपादिकी प्राप्ति सारूप्यमुक्ति है। उससे भी अत्युत्कृष्ट, राजाके ज्येष्ठ पुत्र युवराजके समान सत्यसंकल्पादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिका नाम साष्टर्यमुक्ति है। साष्टर्यमुक्तिको ही सायुज्यमुक्ति भी कहते हैं।]

अहंग्रह-ध्यानसे ही ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है

जैसे ओङ्काररूप ब्रह्मके उपासकको ब्रह्मलोक-प्राप्तिद्वारा मोक्षलाभ होता

ब्रह्मलोकवासियोंको ब्रह्मरूपसे आत्माका भान : २६९

है, उसी प्रकार उपनिषदोंमें कही हुई अन्य ब्रह्मोपासनाका फल भी ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारा मोक्षलाभ ही है। किन्तु अहंग्रहकी उपासनाके विना इतर उपासनासे ब्रह्मलोकप्राप्ति नहीं होती है। यह बात सूत्रकार एवं भाष्यकारने ब्रह्मसूत्रमें और भाष्यमें, चतुर्थाध्यायमें वर्णन की है।

नार्मद बाणलिङ्गमें शिवरूपसे तथा सालग्राम शिलामें विष्णुरूपसे ध्यान तो प्रतीक ध्यान है, अहंग्रह-ध्यान नहीं है। इसी प्रकार **"मनो ब्रह्मेत्युपासीत"** (छा० ३ । १८ । १) **"आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः"** (छा० ३ । १९ । १) इत्यादि श्रुतियोंमें कही हुई उपासना भी प्रतीक ध्यान ही है। क्योंकि उनका तत्तत्प्रकरणमें भिन्न-भिन्न फल सुना जाता है। इसी कारण उनसे ब्रह्मलोक नहीं प्राप्त होता। सगुण ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्मके अपनेसे अभेद चिन्तनको अहंग्रह-ध्यान कहते हैं। उसी ध्यानसे ब्रह्मलोक प्राप्त होता है।

उत्तरायणमार्गसे ब्रह्मलोक प्राप्त करनेवालेको पुनः संसार-प्राप्ति और ज्ञानद्वारा मोक्षका वर्णन

पूर्वोक्त मार्गको उत्तरायणमार्ग, देवयानमार्ग और अर्चिः-आदि मार्ग कहते हैं। उस देवमार्गसे ब्रह्मलोकमें प्राप्त उपासक पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता है, किन्तु ब्रह्मलोकमें ही ज्ञान प्राप्त करके विदेहमुक्त हो जाता है। वहाँ ज्ञानके साधन गुरुके उपदेशादिकी अपेक्षा नहीं है। ब्रह्मलोकमें गुरूपदेशादि साधनके विना ही ज्ञानोत्पत्ति होती है। क्योंकि वहाँ रजोगुण एवं तमोगुणका लेश भी नहीं है। उस लोकमें केवल सत्त्वगुणकी ही प्रधानता है। तमोगुणके अभावसे जडत्व-आलस्यादि वहाँ नहीं हैं एवं रजोगुणके अभावसे रजोगुणका कार्य काम-क्रोधादिरूप विक्षेप भी वहाँ नहीं होता। इस प्रकार तमोरजोगुणके अभावसे आवरण एवं विक्षेपका भी अभाव होनेसे केवल सत्त्वगुणप्रधान ब्रह्मलोकमें सत्त्वगुणका कार्य ज्ञानरूप प्रकाश वहाँ मुख्य है।

"एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" (छा० ४ । १५ । ५) **"न च पुनरावर्तते"** (छा० ८ । १५ । १) **"तेषां न पुनरावृत्तिः"** (बृ० ६ । २ । १५) **"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः"** **"सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्"** इत्यादि श्रुति-स्मृति इसमें प्रमाण हैं।

हिरण्यगर्भलोकवासियोंको असङ्ग निर्विकार ब्रह्मरूपसे आत्माके भानमें कारण

उपासनाकालमें ब्रह्मरूपसे ओङ्कारकी मात्राओंका जो वक्ष्यमाण प्रकारसे चिन्तन किया गया है। यथा—**स्थूलोपाधिविशिष्ट विराडात्मक विश्व** चैतन्य अकाररूप प्रथम मात्राका वाच्यार्थ है। एवं **सूक्ष्मोपाधिविशिष्ट हिरण्यगर्भात्मक तैजस** चैतन्य उकाररूप द्वितीय मात्राका वाच्यार्थ है। तथा **कारणोपाधिविशिष्ट ईश्वरात्मक प्राज्ञ** चैतन्य मकाररूप तृतीय मात्राका वाच्यार्थ है। इस प्रकार पहिले चिन्तन किये हुए पदार्थका ही चिन्तन-स्मरण उपासकको ब्रह्मलोकमें होता है। सत्त्वगुणके प्रभावसे वक्ष्यमाण प्रकारसे उपासक पुनः विचार करता है—(१) स्थूल उपाधिकी दृष्टिसे ही शुद्ध चैतन्यमें विराट्त्व एवं विश्वत्वकी प्रतीति हुई थी। उसमें समष्टि स्थूल दृष्टिसे विराट्त्वका तथा व्यष्टि स्थूल दृष्टिसे विश्वत्वका भान होता था। किन्तु समष्टि तथा व्यष्टि स्थूल दृष्टिके अभावमें तो विराट्त्व और विश्वत्वकी प्रतीति नहीं होती, परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भान होता है। अतः स्थूलोपाधिसहित विराडात्मक विश्व अकारका वाच्यार्थ है। (२) उसी प्रकार सूक्ष्मोपाधिसहित हिरण्यगर्भात्मक तैजस उकारका वाच्यार्थ है। समष्टि सूक्ष्म उपाधिकी दृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमें हिरण्यगर्भत्व एवं व्यष्टि सूक्ष्मोपाधि-दृष्टिसे तैजसत्वका भान होता था। सूक्ष्मोपाधि-दृष्टिके अभावमें तो हिरण्यगर्भत्व तथा तैजसत्व नहीं प्रतीत होता है, किन्तु शुद्ध चैतन्य ही भान होता है। (३) उसी प्रकार कारणोपाधिसहित ईश्वरात्मा

प्राज्ञ मकारका वाच्यार्थ है। समष्टि अज्ञानोपाधिकी दृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमें ईश्वरत्वका भान था। व्यष्टि अज्ञानोपाधि-दृष्टिसे प्राज्ञकी प्रतीति थी। अज्ञानरूप उपाधि-दृष्टिके अभावमें ईश्वरत्व और प्राज्ञत्वका भान नहीं होता, किन्तु केवल शुद्ध चैतन्यका ही भान होता है।

और भी बात है कि जिसमें जो वस्तु अन्य दृष्टिसे प्रतीत होती है, उसमें वह वस्तु परमार्थतः नहीं है। जिस वस्तुका जो रूप अन्य दृष्टिके बिना ही स्वतः प्रतीत होता है वही उसका परमार्थ स्वरूप है। जैसे किसी पुरुषमें पिताकी दृष्टिसे पुत्रत्व तथा पितामहकी दृष्टिसे पौत्रत्व प्रतीत है तो वह परमार्थ नहीं है, किन्तु उसमें पुरुषत्व ही परमार्थ है। उसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारणोपाधिकी दृष्टिसे भान होनेवाला विश्वत्व, तैजसत्व, प्राज्ञत्वादि परमार्थ नहीं है, किन्तु मिथ्या है। चैतन्यमात्र परमार्थ सत्य है।

वह चैतन्य समस्त भेदशून्य है। विराट् और विश्वका भेद औपाधिक ही है। इन दोनोंमें स्थूल उपाधिकत्व होनेपर भी समष्टि उपाधिक विराट् तथा व्यष्टि उपाधिक विश्व है। समष्टि-व्यष्टिप्रयुक्त भेद होनेपर भी विराट् और विश्वमें स्वरूपसे भेद नहीं है। उसी प्रकार हिरण्यगर्भ एवं तैजसमें भी समष्टिव्यष्टिप्रयुक्त भेद होनेपर भी स्वरूपसे भेद नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर तथा प्राज्ञमें भी समष्टिव्यष्टि भेद उपाधिके कारण है, वास्तविक भेद नहीं है। इस प्रकार प्राज्ञसे ईश्वरका, तैजससे हिरण्यगर्भका और विश्वसे विराट्का अभेद ही सिद्ध है। वैसे ही, स्थूलोपाधिकमें सूक्ष्मोपाधिकसे अथवा कारणोपाधिकसे भेदकी गन्ध भी नहीं है। क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप औपाधिक दृष्टिका त्याग करनेपर चैतन्यस्वरूपमें किसी प्रकारका भेद नहीं है।

दूसरी बात यह है कि आत्मासे भी चैतन्यमें भेद नहीं है। क्योंकि अनात्मभूत देहादि प्रपञ्च भी अविद्यादशामें ही भान होता है। परमार्थ-

दृष्टिसे प्रपञ्चका अभाव ही है। इस कारणसे भी अनात्म प्रपञ्चका चैतन्यसे भेद असंगत ही है। इस प्रकार सर्वभेदशून्य असंग निर्विकार नित्य मुक्त परब्रह्मस्वरूप प्रत्यगात्मा ओङ्कारका लक्ष्यार्थ है। ब्रह्मलोकमें उपासकको इस प्रकार स्वयंप्रकाशरूपसे भान होता है। अतः हिरण्यगर्भलोकमें रहनेवाले उपासककी पुनः संसार-गति नहीं होती है, किन्तु कार्य ब्रह्मके साथ ही विदेहकैवल्य प्राप्त हो जाता है।

ओङ्कार और महावाक्योंमें एकार्थता

यद्यपि महावाक्य-विवेकके बिना ज्ञान नहीं होता—यह सिद्धान्त है, तथापि ओङ्कार-विचार महावाक्यविवेकरूप होनेसे ओङ्कार-विचारसे भी ज्ञानका उदय होता ही है। क्योंकि स्थूलोपाधिसहित चेतन अकारका वाच्यार्थ है एवं स्थूलोपाधिरहित केवल चेतन अकारका लक्ष्यार्थ है। सूक्ष्मो-पाधिसहित चेतन उकारका वाच्यार्थ है तथा सूक्ष्मोपाधिरहित केवल चेतन उकारका लक्ष्यार्थ है। कारणोपाधिसहित चेतन मकारका वाच्यार्थ है तथा कारणोपाधिरहित शुद्ध चेतन मकारका लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार उपाधिसहित विश्वादि अकारादि मात्राओंके वाच्यार्थ हैं। उपाधिरहित केवल चेतन सकल मात्राओंके लक्ष्यार्थ हैं। वैसे ही नाम-रूपात्मक अखिल प्रपञ्चोपाधिसहित चेतन ओङ्कारका वाच्यार्थ है तथा नाम-रूपात्मक सकल उपाधिरहित केवल शुद्ध चेतन ओङ्कारका लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार ओङ्कार और महावाक्यका अर्थ एक ही होता है। अतः ओङ्कारके विचारसे भी अद्वैत ज्ञान होता है। आचार्यसे यह सुनकर अदृष्टि नामक शिष्यने ओङ्कारकी उपासनामें प्रवृत्त हो ज्ञानद्वारा परमपुरुषार्थ—मोक्ष प्राप्त किया।

निर्गुण उपासनाके अनधिकारियोंका कर्तव्य

जो साधक निर्गुण उपासनाके अधिकारी नहीं हैं, उनको सदा सगुण ईश्वरका ही मनमें ध्यान करते रहना चाहिये। जो सगुण उपासनामें भी

अशक्त—असमर्थ हैं, उनको निष्काम भावसे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए उनको भगवत्-अर्पण करना चाहिये। कर्म-विराम-कालमें भगवान्‌का भजन भी करना चाहिये। जो निष्काम कर्म करनेमें भी असमर्थ हैं, उनको सकाम वैदिक शास्त्रोक्त कर्म करना ही श्रेष्ठ है। जो सकाम शास्त्रोक्त कर्ममें असमर्थ हैं, वे शठ पुनः-पुनः जन्म-मरणरूप प्रवाहमें गिरते रहते हैं।

॥ श्रीः ॥

षष्ठ अंश

(गुरु-वेदान्तादि-साधन-मिथ्यात्व-वर्णन)

उपोद्घात

चतुर्थ अंशमें उत्तमाधिकारीके उपदेशका प्रकार बतलाया गया तथा पञ्चम अंशमें मध्यमाधिकारीके उपदेशका प्रकार कहा गया। इस षष्ठ अंशमें कनिष्ठाधिकारीके उपदेशकी विधिका वर्णन किया जाता है। जिस व्यक्तिको बहुत संशय होता है वह तीक्ष्णबुद्धि होनेपर भी कनिष्ठाधिकारी ही कहा जाता है। संशय ही पापात्मा है। **'संशयात्मा विनश्यति'** यह स्मृति भी है। जिसको गुरुमुखसे श्रवण करनेपर भी वेदार्थमें शङ्का उत्पन्न होती है उसके लिये युक्तिप्रधान होनेसे यह अंश उपयोगी है। कुतर्कसे दग्धबुद्धि होनेसे वह कनिष्ठाधिकारी कहा जाता है। उसीको उपदेश करनेकी विधिका इस अंशमें वर्णन किया जाता है। पञ्चम अंशमें प्रणवकी उपासना एवं जगदुत्पत्तिके पूर्व यह बात कही गयी है कि चैतन्यसे भिन्न अज्ञान एवं अज्ञानका कार्य अनात्मा है। जो कुछ भी अनात्म पदार्थ है वह सब ही स्वप्नवत् मिथ्या है। इस उपदेशको सुनकर प्रश्न करनेसे उपरत बड़े भाइयोंको देखकर तर्कदृष्टि पूछता है।

कनिष्ठाधिकारी तर्कदृष्टिका प्रश्न

स्वप्नदृष्टान्तसे जाग्रत्‌के पदार्थका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता—यह तर्कदृष्टिका प्रश्न है। वह कहता है कि—पूर्व कभी न जाने हुए अज्ञात पदार्थका ज्ञान स्वप्नमें नहीं होता है। किन्तु जाग्रत्‌में अनुभव किये हुए विषयका ही स्वप्नमें स्मरण होता है। इस स्थितिमें

स्मृतिका विषय जाग्रत्-पदार्थ सत्य है; अतः स्वप्नमें होनेवाला स्मृतिविषयक ज्ञान भी सत्य ही होगा। इसलिये स्वप्नदृष्टान्तसे जाग्रत्के पदार्थको मिथ्या कहना युक्तियुक्त नहीं है। "स्वप्नो जाग्रत्यनुभूतपदार्थविषयकस्मृतिरूप-मानसविपर्यासः" यह कहनेवाले नैयायिकोंके मतसे यह प्रश्न किया गया है।

स्वप्न मिथ्या नहीं है

अथवा स्वप्नज्ञानके विषयभूत पदार्थ सत्य ही हैं, मिथ्या नहीं हैं। क्योंकि स्वप्नावस्थामें स्थूल शरीरको छोड़ बाहर निकलकर लिङ्ग शरीर सभी गिरि, नदी, समुद्रादि सत्य पदार्थोंको ही देखता है। अतः स्वप्न मिथ्या नहीं है। 'पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्। अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्'॥ पञ्च प्राण, दश इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सतरह तत्त्वोंसे युक्त सूक्ष्म (लिङ्ग) शरीर होता है। यही भोगका साधन है।

पूर्वोक्त प्रश्नोंके उत्तर

स्वप्नज्ञान प्रत्यक्ष है, वह जाग्रत् पदार्थोंकी स्मृति नहीं है— पूर्वकालसे सम्बन्धित पदार्थका ज्ञान स्मृतिज्ञान होता है। जैसे पहिले देखे हुए गजको 'स गजः' वही हाथी है—यह स्मृतिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। अपने आगे स्थित गजको देखकर 'अयं गजः' यह गज है यह ज्ञान स्मृति-ज्ञान नहीं होता, किन्तु यह ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। स्वप्नमें भी "अयं गजोऽग्रे तिष्ठति" 'इयं नदी प्राचीं दिशं प्रवहति' 'अयं पर्वतो रम्यो विराजते' 'यह गज सामने खड़ा है, यह नदी पूर्व दिशाको बहती है, यह पर्वत रम्य है'—यह ज्ञान होता है। इसलिये जाग्रत्में दृष्ट पदार्थोंका स्मरण ही स्वप्नमें नहीं होता है, किन्तु गजादिका प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है और आपने जो यह कहा कि 'जाग्रत्में अनुभूत पदार्थविषयक ही ज्ञान स्वप्नमें होता है, अननुभूत पदार्थविषयक ज्ञान नहीं होता है। अतः जाग्रत्-पदार्थज्ञानजन्य संस्कारसे ही स्वप्नज्ञान उदय होता है। और संस्कार-जन्य ज्ञानको स्मृति कहते हैं।' यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है। प्रथम अभिज्ञारूप प्रत्यक्ष, दूसरा प्रत्यभिज्ञा-

रूप प्रत्यक्ष। (१) "केवलमिन्द्रियसन्निकर्षजन्यं ज्ञानमभिज्ञाप्रत्यक्षम्" यथा—'अयं गजः" यह गजज्ञान केवल नेत्र-इन्द्रिय-सन्निकर्षमात्रजन्य होनेसे 'अभिज्ञारूप प्रत्यक्ष' ज्ञान है। (२) "पूर्वानुभवजन्यसंस्कारेणेन्द्रिय-सन्निकर्षेण चोत्पन्नं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षम्"। पूर्वानुभवजन्य संस्कार और इन्द्रियसन्निकर्षजन्य ज्ञानको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। जैसे पूर्वानुभूत गजको सामने देखनेसे जो यह ज्ञान होता है कि 'सोऽयं गजः' 'यह वही हाथी है', इस ज्ञानको 'प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष' कहते हैं। इस गजके ज्ञानमें पूर्वदृष्ट हस्ति-ज्ञानजन्य संस्कार और गजके साथ नेत्रेन्द्रिय-सम्बन्ध—ये दोनों प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष ज्ञानमें हेतु हैं। अतः संस्कारजन्य ज्ञान ही स्मृति है यह नियम नहीं है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष भी संस्कारजन्य ही है। इसलिये इन्द्रिय-सन्निकर्षके बिना केवल संस्कारजन्य जो ज्ञान होता है उसीको स्मृतिज्ञान कहते हैं।

(१) स्वप्नमें होनेवाला गजादि ज्ञान संस्कारमात्रजन्य नहीं है, किन्तु निद्रारूप दोषसे भी जन्य है। स्वप्नमें कल्पित गजादिके समान इन्द्रियाँ भी हैं। अतः स्वप्नमें गजादिका ज्ञान इन्द्रियजन्य है। यद्यपि स्वप्नके पदार्थ साक्षिभास्य होते हैं, इन्द्रियजन्य ज्ञानके विषय नहीं; तथापि अविवेक दृष्टिसे स्वप्नज्ञानको इन्द्रियजन्य ज्ञान कहते हैं। इसीलिये स्वप्नके पदार्थोंका ज्ञान जाग्रत्पदार्थोंका संस्काररूप स्मृति नहीं है। (२) दूसरी बात यह है कि निद्रासे प्रबुद्ध (जागा) हुआ पुरुष कहता है कि "स्वप्नेऽद्य गजमहम-पश्यम्" आज स्वप्नमें मैंने हस्ति देखा। स्वप्नका हस्तिज्ञान यदि स्मृति होता, तब प्रबुद्ध व्यक्ति कहता कि—"स्वप्नेऽद्य गजमहमस्मार्षम्, 'स्वप्नमें आज मैंने हस्तिका स्मरण किया। किन्तु ऐसा कोई नहीं कहता है। अतः स्वप्नमें जाग्रत्पदार्थविषयिणी स्मृति नहीं है। (३) और भी बात है कि जाग्रत्में दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थका ही ज्ञान हो यह नियम भी नहीं है। क्योंकि जाग्रत्में अज्ञात पदार्थका भी स्वप्नमें ज्ञान होता है। इस जन्ममें कभी भी नहीं देखी एवं सुनी हुई विलक्षण वस्तुका भी स्वप्नमें ज्ञान होता है। "अनुभूतश्चाननु-भूतश्च" अनुभूत और अननुभूतका भी ज्ञान होता है। यह श्रुति भी इसमें

प्रमाण है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वप्नमें होनेवाला ज्ञान स्मृति नहीं है।
(४) यद्यपि इसी जन्ममें अनुभूत पदार्थका ज्ञानजन्य संस्कार ही स्मृतिका
कारण है यह नियम नहीं है; क्योंकि जन्मान्तरीय अनुभवजन्य संस्कार भी
स्मृतिका हेतु देखा जाता है। "प्रवृत्तिं प्रति अनुकूलताज्ञानं कारणं, तदभावे
प्रवृत्त्यदर्शनात्"। अर्थात् किसी कार्यकी प्रवृत्तिमें अनुकूलता (इष्टसाधनता)
का ज्ञान ही कारण होता है, इसके अभावमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। नव-
जात शिशुकी स्तन्यपानमें प्रथम प्रवृत्ति है, उसका कारण यह है कि स्तन्य-
पान हमारे अनुकूल है ऐसा ज्ञान शिशुको होता है। इसमें हेतु जन्मान्तरमें
शिशुने स्तन्यपानरूप ज्ञानका अनुभव किया है, यही माना जाता है।
जन्मान्तरमें अनुभवाहित संस्कारके कारण ही इस जन्ममें बालकको
स्तन्यपानकी अनुकूलताकी स्मृति होती है यह कहा जाता है। अतः
जन्मान्तरीय अनुभवजन्य संस्कारकी भी स्मृति होती है। इसी कारण
इस जन्ममें अननुभूत पदार्थविषयक स्मृति भी जन्मान्तरीय अनुभव-
जन्य संस्कारवशात् स्वप्नमें होती ही है। तथापि जाग्रत्में जिस पदार्थका
ज्ञान कभी किसी जन्ममें सम्भव नहीं है वैसे पदार्थकी भी स्वप्नमें प्रतीति
होती है। जैसे कभी कोई स्वप्नमें अपने शिरको कटकर अन्यत्र गिरा
हुआ अपने नेत्रसे देखता है, वैसे ही कोई भी व्यक्ति जाग्रत्में अपने
शिरको कटकर गिरा हुआ अपने नेत्रसे नहीं देखता है। अतः जाग्रत्
पदार्थके अनुभवजन्य संस्कारसे ही स्वप्नमें स्मृति होती है यह कहना अत्यन्त
असङ्गत है। (५) स्वप्न स्मृति है इसके खण्डनमें ग्रन्थकारोंने अनन्त
युक्तियाँ कही हैं। स्मृतिका विषय कभी सम्मुख विद्यमानरूपसे नहीं प्रतीत
होता है। स्वप्नमें गजादि पदार्थ स्वप्नकालमें सम्मुख वर्तमान प्रतीत होते
हैं। अतः स्वप्नमें हुआ गजादिज्ञान स्मृति नहीं हो सकता।

स्वप्नमें लिङ्गशरीर स्थूलशरीरसे बाहर निकलकर सत्य पर्वत-समुद्रादिको नहीं देखता है

आपने जो यह कहा कि स्वप्नमें लिङ्गशरीर स्थूलशरीरसे बाहर निकल-
कर सत्य गिरि-समुद्रादिको देखता है। इसका उत्तर यह है कि यदि स्थूल-

शरीरसे बाहर निकलकर लिङ्गशरीर सत्य पर्वतादिको देखता, तब तो लिङ्ग-
शरीरके बाहर निकलनेसे मरणावस्थामें जैसे स्थूलशरीर भयंकर होता है उसी
प्रकार स्वप्नावस्थामें भी लिङ्गशरीरके अभावमें स्थूलशरीर अमङ्गल मुर्देके
समान होता, पर स्वप्नावस्थामें स्थूलशरीर वैसा नहीं होता है। किन्तु
स्वप्नावस्थामें भी स्थूलशरीर प्राणसहित अत्यन्त सुन्दर होता है। अतः स्थूल-
शरीरको छोड़कर स्वप्नावस्थामें लिङ्गशरीर बाहर नहीं जाता है।

यदि यह कहो कि स्वप्नावस्थामें प्राण बाहर नहीं जाता है, किन्तु
अन्तःकरण और इन्द्रियाँ बाहर निकलकर पर्वतादि देखती हैं। प्राणोंके बाहर
न निकलनेसे ही मरणावस्थाके तुल्य भयङ्कर स्थूलशरीर नहीं होता है। और
स्वप्नमें प्राण निकलनेका कुछ प्रयोजन भी नहीं है। क्योंकि प्राणमें ज्ञान-
शक्ति नहीं है, किन्तु केवल क्रियाशक्ति ही है। अतः बाह्य पदार्थ-ज्ञानका सामर्थ्य
जिनमें है, वही बाहर जाते हैं। ज्ञानशक्ति तो अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों-
में ही है। प्राण और कर्मेन्द्रियोंमें ज्ञानशक्ति नहीं है, किन्तु क्रियाशक्ति ही
है। अतः स्वप्नावस्थामें प्राण और कर्मेन्द्रिय स्थूलशरीरमें ही रहते हैं।
इसीलिये मरणके कारण दाहादिसे स्थूलशरीर संरक्षित भी होता है। स्वप्ना-
वस्थामें अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रिय बाहर जाकर सत्य पर्वतादिको देखकर
पुनः प्राण और कर्मेन्द्रियोंके समीप लौट आते हैं।

यह कहना संगत नहीं होता है, क्योंकि (१) स्थूल-एवं सूक्ष्म संघात-
में प्राण ही स्वामी है। प्राणहीन देहको क्षणभर भी घरमें नहीं रहने देते
हैं। बाहर अरण्यमें ले जाकर जला देते हैं। प्राणरहित शरीरको स्पर्श करके
लोग स्नान करते हैं। अतः स्थूलशरीरका सार है प्राण। एवं सूक्ष्मशरीरका
भी सार प्राण ही है। प्राण और इन्द्रियोंने परस्पर "स्वेषु कः श्रेष्ठः"
'अपने लोगोंमें कौन श्रेष्ठ है' यह विवाद करते हुए, ब्रह्माजीके समीप जाकर
पूछा—"को नः श्रेष्ठः" हमलोगोंमें कौन श्रेष्ठ है? स होवाच प्रजा-
पतिः—"यस्मिन् व उत्क्रान्ते स्थूलमिदं शरीरममङ्गलं भवति स
वः श्रेष्ठः।" प्रजापतिने कहा—'जिसके निकल जानेपर यह स्थूलशरीर

अमङ्गल हो जाता है तुमलोगोंमें तो वही श्रेष्ठ है।' प्रजापतिके वचन सुनकर क्रमसे एक-एक करके सब इन्द्रियोंने शरीरसे बाहर निकलकर संवत्सरपर्यन्त बाहर रहकर पुनः शरीरमें प्रवेश किया। तत्तदिन्द्रियोंके प्रवासकालमें तत्तदिन्द्रियोंसे प्रयुक्त दर्शनादि व्यापारसे विकल रहनेपर भी शरीर अन्ध-बधिरादिरूप होकर प्राणके रहनेसे बना ही रहा। किन्तु जब प्राण निकलने लगा तब विकल होकर शरीर पृथिवीपर गिरने लगा। तब सब इन्द्रियोंको यह निश्चय हुआ कि **"प्राण एव नः श्रेष्ठः"** हमलोगोंमें प्राण ही श्रेष्ठ है। अतः जबतक प्राण इस शरीरमें रहता है, तबतक ही इन्द्रियाँ इस शरीरमें रहती हैं। प्राणके निकलते ही प्राणके पीछे इतर सब इन्द्रियाँ निकल जाती हैं। अतः सूक्ष्म संघातमें प्राण ही राजाके समान प्रधान है। शरीरमें प्राण रहनेपर अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रिय बाहर नहीं निकल सकते।

(२) अथवा अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रिय भूतोंके सत्त्वगुणके कार्य होनेसे इनमें ज्ञानशक्ति है, क्रियाशक्ति नहीं है। क्रियाशक्ति तो प्राणमें ही है। प्राणकी क्रियाशक्तिके बलसे ही मरणकालमें लिङ्गशरीर इस स्थूलशरीरको छोड़कर लोकान्तरमें जाता है। प्राणके बलसे ही इन्द्रियद्वारा अन्तःकरणकी वृत्ति बाहर घटादिदेशमें जाती है। प्राणकी सहायताके बिना अन्तःकरणादि बाहर जानेमें समर्थ नहीं होते हैं। इसीलिये योगशास्त्रमें कहा गया है कि 'प्राणनिरोधके बिना मनोनिरोध नहीं हो सकता है, प्राणके संचारसे ही मनका संचरण होता है। प्राणनिरोध होनेपर मनोनिरोध हो जाता है।' मनोनिरोधरूप राजयोगमें स्थिति पानेकी इच्छावालोंको प्राणनिरोधरूप हठयोग अवश्य करना चाहिये। इस कारण भी अन्तःकरणकी गति प्राणके अधीन है। प्राणके बाहर निकले बिना अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर नहीं निकल सकती हैं।

[यहाँ प्राण और इन्द्रिय शब्दसे तत्तदभिमानी देवता जानना चाहिये।]

(३) स्वप्नावस्थामें स्थूलशरीर प्राणसहित ही देखा जाता है। इसलिये भी स्वप्नमें अन्तःकरणका बाहर जाकर सत्य पर्वतादिको देखना सम्भव नहीं है।

(४) अथवा कोई व्यक्ति रात्रिमें स्वप्नमें अपने सम्बन्धीसे मिलकर नाना प्रकारके व्यवहार करता है। जब प्रातः जागनेके बाद उसको वह व्यक्ति साक्षात् मिलता है, तब उसको कहना चाहिये कि हम दोनोंने रात्रिमें मिलकर अमुक-अमुक व्यवहार किया था। किन्तु मिलनेपर ऐसा नहीं कहता है। पूर्व पक्षकी रीतिसे तो स्वप्नद्रष्टाने बाहर जाकर सम्बन्धीसे मिलकर उसके साथ सत्य ही व्यवहार किया था। उसके मिलने एवं व्यवहारका ज्ञान सम्बन्धीको भी होना चाहिये था। किन्तु सिद्धान्तकी रीतिसे बाहर जाना और उसके साथ व्यवहार करना आदि सब शरीरके भीतर ही होता है।

(५) अथवा स्वप्नमें बाहर जाकर सत्य पदार्थको देखना स्वीकार करनेपर रात्रिमें सोनेवालेको मध्याह्नके सूर्यप्रकाशका दर्शन, गङ्गाके दक्षिण तटपर काशीपुरीका दर्शन, काशीसे पश्चिममें प्रयागका और पूर्वदिशामें गयाक्षेत्रका दर्शन स्वप्नमें नहीं होना चहिये था। क्योंकि रात्रिमें सूर्यप्रकाश, और जाह्नवीके दक्षिण तटपर काशीपुरी आदि नहीं है।

(१) अतः स्वप्नमें जाग्रत्के अनुभूत पदार्थका स्मरण होता है, तथा (२) बाहर जाकर ईश्वरसृष्ट गिरि-नदी आदि सत्य पदार्थको देखता है इन दोनों पक्षोंका निराकरण हो गया—यह जानना चाहिये।

जाग्रत् और स्वप्नकी तुल्यता—इस सिद्धान्त-पक्षका निरूपण—

स्वप्नमें समस्त त्रिपुटीसमुदाय उत्पन्न होता है

स्वप्नमें जाग्रतपदार्थकी स्मृति और लिङ्गशरीरका बाहर निकलना सम्भव नहीं होनेपर भी जाग्रत्के समान स्वप्नमें भी ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह त्रिपुटी भान होती है। कण्ठके अधःस्थ नाड़ीके भीतर ही सब उत्पन्न होता

है। यह विषय माण्डूक्य और बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा गया है। **"स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः"** (मा० ४) **"स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति। अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति।** (बृ० ४।३।९) **"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते।"** (बृ० ४।३।१०) इसका अर्थ यह है कि जाग्रत्कालीन पदार्थ स्वप्नमें भान नहीं होते हैं। किन्तु रथ, रथी, घोड़े और मार्गादि सभी स्वप्नकालमें नवीन ही रचे जाते हैं। इसलिये स्वप्नमें उपलब्ध गिरि-नदी-समुद्र-वन-ग्राम-सूर्य एवं चन्द्रादि सभी नवीन उत्पन्न होते हैं। यदि स्वप्नमें पर्वतादि उत्पन्न नहीं होते तब तो उनका प्रत्यक्ष ज्ञान स्वप्नमें नहीं होता, किन्तु स्वप्नमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इन्द्रियोंके साथ अन्तःकरण एवं अन्तःकरणकी वृत्तियोंका विषयोंसे सम्बन्ध प्रत्यक्षज्ञानका हेतु है। अतः पर्वतादि विषय और उनके ज्ञानके साधन अन्तःकरण एवं इन्द्रियादि सभी उत्पन्न होते हैं।

यदि यह कहें कि स्वप्नके पदार्थ शुक्तिकादि तो साक्षिभास्य हैं। अतः इनके ज्ञानमें अन्तःकरण और इन्द्रियोंका कोई उपयोग नहीं है। इसलिये स्वप्नमें ज्ञेय पर्वतादिकी उत्पत्ति स्वीकार करनेपर भी ज्ञाता, ज्ञान और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति अङ्गीकार करना उचित नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि—

(१) जैसे स्वप्नमें पर्वतादि प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राणसहित स्थूलशरीर भी प्रतीत होते हैं। अतः उनकी उत्पत्ति स्वीकार करनी ही चाहिये।

(२) अथवा स्वप्नके पदार्थ नेत्रादिके विषयरूपसे प्रतीत होते हैं। वे स्वप्नके प्रातिभासिक पदार्थ जाग्रत्के व्यावहारिक नेत्रादिके विषय नहीं हो सकते। क्योंकि समसत्तावाले ही परस्पर साधक होते हैं यह पञ्चम अंशमें कहा ही गया है। अतः व्यावहारिक नेत्रादिके शरीरमें रहनेपर भी विषम-सत्ताकत्वसे जन्य ज्ञानके विषय स्वप्नके पदार्थ नहीं हो सकते हैं।

(३) अथवा व्यावहारिक इन्द्रियोंमें अपने-अपने गोलकको छोड़कर कार्य करनेका सामर्थ्य नहीं होता। स्वप्नावस्थामें हस्त-पादादिके गोलक तो निश्चलरूपसे दूसरेको दीख पड़ते हैं और स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा हाथसे द्रव्य लेकर चिल्लाता हुआ दौड़ता है। अतः स्वप्नमें इन्द्रियोंकी उत्पत्ति अवश्य स्वीकार करनी चाहिये।

(४) उसी प्रकार स्वप्नमें सुख-दुःखादि ज्ञेय एवं इनका ज्ञान और ज्ञेय-ज्ञानका आश्रय ज्ञाता भी प्रतीत होता है। असत् पदार्थकी प्रतीति नहीं होती है। अतः समस्त त्रिपुटी उत्पन्न होती है यह अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये।

अनिर्वचनीय ख्यातिका प्रकार यह है कि जितने भ्रमज्ञान होते हैं उन सबके विषय भी अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होते हैं। विषयके विना कोई ज्ञान होता नहीं है। यह सिद्धान्त है। अन्यमतमें तो वस्तुका रूपान्तरसे भान होना ही भ्रम है। सिद्धान्तमें तो जैसा पदार्थ होता है उसी प्रकारके ज्ञान होते हैं। इसलिये भ्रमस्थलमें भी विषय अवश्य उत्पन्न होते ही हैं। विषयके विना ज्ञान नहीं होता है। अतः स्वप्नमें भी त्रिपुटीका भान होता है। भान होनेसे उनकी उत्पत्ति भी होती ही है।

स्वप्नके पदार्थोंके अधिष्ठान और उपादान-प्रदर्शन-पूर्वक उत्पत्ति-वर्णन

स्वप्नमें पदार्थोंकी उत्पत्ति स्वीकार करना युक्त नहीं है—
यह शङ्का है—स्वप्नमें प्रतीयमान पदार्थोंकी उत्पत्ति स्वीकार करनेपर जैसे सिद्धान्तमें स्वप्नके दृष्टान्तके बलसे जाग्रत्के पदार्थको मिथ्या सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार जाग्रत्-पदार्थोंके समान स्वाप्निक पदार्थोंकी उत्पत्ति स्वीकार करनेपर उनको भी सत्य स्वीकार करना होगा और स्वप्नके पदार्थोंकी उत्पत्ति अङ्गीकार न करनेसे यह दोष नहीं होता। तथा जाग्रत्के पदार्थ उत्पन्न होकर प्रतीत होते हैं, किन्तु स्वप्नमें असत् पदार्थ ही प्रतीत होते हैं। इसीलिये

स्वप्नमें असत् पदार्थोंका ज्ञान भ्रमरूप होता है। अतः उन स्वप्न-पदार्थोंकी उत्पत्ति स्वीकार करना युक्त नहीं है।

पूर्वोक्त शङ्काका समाधान

(१) जिस वस्तुकी उत्पत्तिमें जितने देश-कालादिरूप सामग्रीकलापकी अपेक्षा है उतनी सामग्रीके अभावमें ही उत्पन्न वस्तु मिथ्या कही जाती है। स्वप्नमें गजादिकोंकी उत्पत्तिमें उचित देश-कालरूप सामग्री नहीं है। चिरकालसे विस्तीर्ण देशमें उत्पत्तिके योग्य गजादि क्षणमात्रकालमें अतिसूक्ष्म देश कण्ठमें उत्पन्न होते हैं। इसलिये स्वप्नके गजादि पदार्थ मिथ्या हैं।

(२) यद्यपि स्वप्नावस्थामें अधिक देश-काल प्रतीत होता है, तथापि गजादि पदार्थान्तरके तुल्य अधिक देश-काल भी स्वप्नमें अनिर्वचनीय प्रातिभासिक ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि विषयके विना प्रत्यक्ष ज्ञान होता ही नहीं और स्वप्नमें अधिक देश-कालका ज्ञान उत्पन्न होता है। वह व्यावहारिक देश-कालसे तो स्वल्प ही होता है। अतः वह देश-काल भी प्रातिभासिक ही उत्पन्न होता है। स्वप्नमें जो प्रातिभासिक देश-काल उत्पन्न होते हैं, वे स्वप्नके गजादि पदार्थके कारण नहीं होते। क्योंकि कार्यके पूर्व कारण होता है, कारणके उत्तरकालमें कार्य होता है यह नियम है। स्वप्नमें जो देश-काल और गजादि उत्पन्न होते हैं वे एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। अतः स्वप्नमें प्रातिभासिक देश-काल और गजादिकोंकी परस्पर कार्यकारणता नहीं होती है। व्यावहारिक जो देश-काल उत्पन्न होता है वह न्यून (अल्प)-कालिक होता है। अतः वह गजादिके उत्पादनके योग्य नहीं है। इसलिये देश-कालादिरूप सामग्रीके विना उत्पन्न होनेसे स्वप्नके पदार्थ मिथ्या कहे जाते हैं।

(३) और भी बात है कि स्वप्नमें माता-पितारूप सामग्रीका भी अभाव है। यद्यपि स्वप्नमें प्राणीको उसके माता आदि भी प्रतीत होते हैं। तथापि स्वप्नके वे माता-पिता पुत्रकी उत्पत्तिके कारण नहीं होते हैं।

क्योंकि माता-पिता और पुत्र एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। अतः उनमें कार्यकारणभाव नहीं होता है। जिस दोषसहित अविद्यासे स्वप्नके पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वही अविद्या स्वाप्निक पदार्थोंके माता-पिता और पुत्रको उत्पन्न करती है। स्वप्नके पदार्थोंकी उत्पत्तिमें अविद्याके सिवाय अन्य कोई सामग्री नहीं है। निद्रादि दोषसहित अविद्या ही स्वप्निक पदार्थोंकी उत्पत्तिमें कारण है। दोषसहित अविद्यासे उत्पन्न शुक्तिरूप्यादि मिथ्या ही होते हैं। अतः स्वाप्निक पदार्थ भी मिथ्या हैं।

स्वप्नके पदार्थोंका उपादान कारण अन्तःकरण है अथवा साक्षात् अविद्या ही है। आद्य पक्षमें साक्षिचैतन्य स्वप्नका अधिष्ठान है, द्वितीय पक्षमें ब्रह्म चैतन्य स्वप्नका अधिष्ठान होता है। इस प्रकार स्वप्न अन्तः-करण अथवा अविद्याका परिणाम और चैतन्यका विवर्त है।

[यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि (१) स्थूल-सूक्ष्म देह-द्वयावच्छिन्न कूटस्थ चैतन्यरूप पारमार्थिक जीव है। (२) मायासे आवृत कूटस्थमें कल्पित अन्तःकरणमें प्रतिफलित चिदाभासरूप देहद्वयाभिमानवान् व्यावहारिक जीव है। (३) निद्रारूप मायासे आवृत व्यावहारिक जीवरूप अधिष्ठानमें कल्पित प्रातिभासिक जीव है। इस भेदसे जीव तीन प्रकारके हैं। इस प्रकार भेद माननेवाले श्रीविद्यारण्य स्वामी आदि जाग्रत्के व्यावहारिक जीव एवं जगत्को स्वप्नका अधिष्ठान मानते हैं। अर्थात् (१) स्वप्नके जीव (द्रष्टा) का अधिष्ठान जाग्रत्का जीव (द्रष्टा) है। (२) स्वाप्निक जगत्का अधिष्ठान जाग्रत्का जगत् (दृश्य) है ऐसा कहते हैं। (३) स्वप्नके अध्यासका उपादान व्यावहारिक जीव और जगत्का आवरक निद्रारूप अवस्थाज्ञान (तूलाज्ञान) है। इसमें व्यावहारिक जीव (द्रष्टा) और दृश्य जगत् जड हैं। इनका सत्तास्फूर्तिप्रदत्वरूप अधिष्ठानत्व सम्भव नहीं होता। इसलिये (१) अहंकारावच्छिन्न चैतन्य अथवा (२) अहंकारानवच्छिन्न चैतन्य स्वप्नका अधिष्ठान है। ये दोनों मत समीचीन हैं।

(१) प्रथम मतमें अहंकारावच्छिन्न चैतन्यका आवरक तूलाज्ञान ही स्वप्नका उपादान होता है। इसकी निवृत्ति ब्रह्मज्ञानके बिना भी जाग्रत्-ज्ञानसे सम्भव है। (२) मतविवरणकारकी रीतिसे अविद्यामें प्रतिबिम्ब-रूप जीवचैतन्य अथवा बिम्बरूप ईश्वरचैतन्य व्यापक होनेसे अहंकारा-नवच्छिन्न चैतन्य है। उसको स्वप्नका अधिष्ठान मानें तो इसका आच्छा-दक मूलाज्ञान ही स्वप्नका उपादान स्वीकार करना होगा। तब जाग्रत्‌के बोधसे स्वप्नकी बाधरूप निवृत्ति नहीं होगी। किन्तु उपादानमें विलयरूप निवृत्ति ही सम्भव है। परन्तु अहंकारानवच्छिन्न चेतनको स्वप्नका अधि-ष्ठान स्वीकार करनेपर भी शरीरके अन्तःस्थित चैतन्यका ही अधिष्ठानत्व सम्भव होता है। बाह्य चैतन्यका अधिष्ठानत्व सम्भव नहीं होता। क्योंकि अविद्यामें प्रतिबिम्बित जीवचैतन्य एवं बिम्बरूप ईश्वरचैतन्य—ये दोनों ही अहंकारानवच्छिन्न होनेसे व्यापक हैं। व्यापक होनेसे बाहर और भीतर भी हैं। अतः अन्तर्देहस्थित चैतन्य जो स्वप्नका अधिष्ठान है उसीको अन्तः-करणावच्छेदक भी मानें तो अहंकारावच्छिन्नकी अधिष्ठानता सिद्ध होती है। उसी चैतन्यको स्वप्नका अधिष्ठान और अन्तःकरणका अवच्छेदक (व्याव-र्तक) स्वीकार करें तो अहंकारानवच्छिन्नकी अधिष्ठानता सिद्ध होती है। अहंकारानवच्छिन्न चैतन्य ही अविद्यामें 'प्रतिबिम्ब' और 'बिम्ब' दोनों हैं। इस मतभेदसे अहंकारानवच्छिन्न और अहंकारावच्छिन्न दोनोंको स्वप्न-की अधिष्ठानता होती है। तथापि अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप जीवचेतनकी ही अधिष्ठानता समीचीन जान पड़ती है।

अथवा अविद्यामें प्रतिबिम्ब कल्पित होनेसे उसमें अधिष्ठानत्व सम्भव नहीं होता। अतः अन्तःकरणोपहित या अविद्योपहित साक्षिचैतन्यको स्वप्नका अधिष्ठान मानना युक्त है। त्रिविध सत्तावादियोंका यह मत कहा गया है।

दृष्टि-सृष्टिवादकी रीतिसे तो समस्त अनात्म पदार्थोंकी एक (प्रातिभासिक) सत्ता होनेसे जाग्रत् और स्वप्न दोनोंका अधिष्ठान ब्रह्म-चैतन्य ही है।]

त्रिविध सत्ताके पक्षमें जाग्रत् और स्वप्नमें सत्ताभेद होनेपर भी वस्तुतः दोनोंकी एक ही सत्ता है

शङ्काएँ

ब्रह्मचैतन्यको स्वप्नका अधिष्ठान स्वीकार करनेसे ब्रह्मज्ञानके बिना स्वप्न निवृत्त नहीं होगा।—यह शङ्का है।

द्वितीय पक्षमें ब्रह्मचैतन्य स्वप्नका अधिष्ठान और अविद्या उपादान कहा गया है। अधिष्ठानज्ञानके बिना कल्पित वस्तुकी निवृत्ति नहीं होती है। स्वप्नका अधिष्ठान है ब्रह्म। अतः ब्रह्मज्ञानके बिना अज्ञानियोंको जाग्रत् अवस्थामें स्वप्न निवृत्त नहीं होगा। यह शङ्का है।

जाग्रत् और स्वप्नका एक ब्रह्म अधिष्ठान अङ्गीकार करनेसे दोनोंकी व्यावहारिक सत्ता होगी। अथवा दोनोंकी प्रातिभासिक सत्ता होगी। यह शङ्का है।

जैसे स्वप्नका अधिष्ठान ब्रह्म और उपादान अविद्या है, उसी प्रकार वेदान्त-सिद्धान्तमें जाग्रत्‌में व्यावहारिक पदार्थोंका अधिष्ठान ब्रह्म है तथा उपादान अविद्या होती है। उसमें जाग्रत्‌के पदार्थ व्यावहारिक और स्वप्नके पदार्थ प्रातिभासिक कहे जाते हैं। यह भेद नहीं होना चाहिये। क्योंकि दोनोंका अधिष्ठान ब्रह्म ही होता है और उपादान अविद्या है। इसलिये जाग्रत् और स्वप्न दोनोंकी व्यावहारिक सत्ता होनी चाहिये। अथवा दोनोंकी प्रातिभासिक सत्ता होना योग्य है। दोनोंमें सत्ता-भेद माननेमें कोई युक्ति नहीं है।

ब्रह्मज्ञानके बिना भी स्वप्न-निवृत्ति एवं द्विविध सत्ताका कथन

पूर्वोक्त शङ्काओंका समाधान

इसमें प्रथम शङ्काका समाधान यह है कि निवृत्ति दो प्रकारकी होती है—यह पहिले चतुर्थ अंशमें ख्यातिनिरूपणके प्रसंगमें कहा गया है। (१) कारणसहित कार्यविनाशरूप स्वप्नकी आत्यन्तिक निवृत्ति तो जाग्रत्

अवस्थामें ब्रह्मज्ञानके विना सम्भव नहीं होती। (२) परन्तु जैसे दण्ड-प्रहारसे घटका लय मृत्तिकामें होता है, उसी प्रकार स्वप्नके कारणभूत निद्रादोषके नाशसे अथवा स्वप्नकी विरोधी जाग्रत् अवस्थाकी उत्पत्तिसे स्वप्नकी अविद्यामें लयरूप निवृत्ति ब्रह्मज्ञानके विना भी सम्भव है।

दोषान्तररहित केवल अविद्यामात्रजन्य व्यावहारिक है और दोषान्तर-सहित अविद्याजन्य प्रातिभासिक है यह द्वितीय शङ्काका समाधान है।

पूर्वपक्षीने जो यह कहा कि जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं-की सत्ता एक होनी चाहिये, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जाग्रत्में देहादि पदार्थोंकी उत्पत्तिमें दोषान्तररहित केवल अविद्या उपादान कारण है और स्वप्नपदार्थोंकी उत्पत्तिमें निद्रादि दोषसहित अविद्या उपादान कारण है—यह विशेष है। इसलिये अन्यदोषरहित केवल अविद्याजन्य व्याव-हारिक है और सादिनिद्रादोषसहित अविद्याजन्य प्रातिभासिक है। दोषसहकृत अविद्याजन्य होनेसे प्रातिभासिक और केवल अविद्याजन्य होनेसे व्यावहारिक होता है। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत्के पदार्थोंमें वैलक्षण्य है। यह सब त्रिविध सत्ता स्वीकार करके स्थूल दृष्टिसे कहा गया है। विचार करनेपर त्रिविध सत्ताकी संगति नहीं है। स्वप्न और जाग्रत्का वैलक्षण्य भी सिद्ध नहीं होता है।

'प्रमाण-ग्रन्थोंमें त्रिविध सत्ताको स्वीकार किया गया है' यह आक्षेप

वेदान्त-परिभाषादि ग्रन्थोंमें पूर्वोक्त रीतिसे व्यावहारिक और प्राति-भासिक पदार्थोंमें भेद निरूपित है। अतः उन लोगोंने त्रिविध सत्ताको स्वीकार किया है। तथा श्रीविद्यारण्य स्वामीने भी त्रिविध सत्ताको माना है। उन्होंने यह कहा है कि देहादि पदार्थ दो प्रकारके हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। इनमें ईश्वरसृष्ट बाह्य पदार्थ हैं और जीवसृष्ट मनोमय आन्तर हैं। उनमें जीवके संकल्पसे रचित मनोमय आन्तर पदार्थ साक्षिभास्य हैं तथा ईश्वर-

सृष्ट बाह्य पदार्थ प्रमाता एवं प्रमाणके विषय हैं। आन्तर मनोमय देहादि पदार्थ ही जीवके सुख-दुःखके हेतु होते हैं। बाह्य ईश्वररचित सुख-दुःखके हेतु नहीं होते हैं। अतः मुमुक्षुको आन्तर मनोमय पदार्थ-निवृत्तिका ही यत्न करना चाहिये। बाह्य पदार्थ दुःख-सुखके हेतु नहीं होते, अतः उनकी निवृत्तिका यत्न नहीं करना चाहिये। यह इस प्रकार जानना चाहिये कि किन्हीं दो पुरुषोंके दो पुत्र धन कमानेको देशान्तर गये थे। उन दोनोंमेंसे एक पुरुषका पुत्र मर गया। दूसरेका पुत्र जीवित रहा और उसने प्रभूत धन भी सम्पादन किया। उसने अपने प्रभूत धन-लाभकी तथा द्वितीय पुत्रके मरणकी सूचना देनेके लिये अपने पिताके समीप एक वार्ताहर (दूत) को भेजा। उस मिथ्यावादी दूतने जीवित पुत्रके पितासे कहा—'तुम्हारा पुत्र मर गया' और मृत पुत्रके पितासे कहा कि 'तुम्हारा पुत्र नीरोग है, उसने विपुल धनार्जन भी किया है और वह हाथीपर चढ़कर सपरिवार आयेगा।' प्रतारक वार्ताहरकी कपटमयी वाणी सुनकर जीवित पुत्रका पिता पुत्र-शोकसे अत्यन्त रोने लगा और मरे हुए पुत्रका पिता बड़ा प्रसन्न होने लगा। इस प्रकार ईश्वरसृष्ट पुत्रके देशान्तरमें जीते हुए भी मनोमय पुत्रके मरणसे महान् दुःख प्राप्त किया। ईश्वरसृष्ट पुत्र जीता हुआ भी अपने पिताको सुखी नहीं कर सका। उसी प्रकार दूसरा ईश्वरसृष्ट पुत्र मरनेपर भी अपने पिताको दुःख नहीं दे सका। मनोमय पुत्रके जीनेसे उसको सुख ही हुआ। इसलिये जीवकृत सृष्टि ही सुख-दुःखकी हेतु होती है, ईश्वरसृष्ट सुख-दुःखकी हेतु नहीं होती है। यह पञ्चदशीके विवेक-प्रकरणमें विस्तृत रूपसे वर्णन किया गया है। इसमें जीवसृष्टको प्रातिभासिक और ईश्वरसृष्टको व्यावहारिक माना है। अन्य ग्रन्थोंमें भी त्रिविध सत्ताको स्वीकार किया गया है। इसमें चैतन्यकी परमार्थसत्ता एवं चैतन्यसे भिन्न जडकी व्यावहारिक और प्राति-भासिक यह दो सत्ता कही गयी है। सृष्टि आदि कालमें ईश्वरके संकल्प-मात्रसे जन्य केवल अविद्याके कार्य पञ्च महाभूत एवं महाभूतके कार्य प्रपञ्चकी व्यावहारिक सत्ता कही है। और दोषसहकृत अविद्याके कार्य स्वप्नप्रपञ्चकी तथा शुक्ति-रजतादिकी प्रातिभासिक सत्ता मानी है। इस

प्रकार किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थोंमें जाग्रत्-पदार्थको व्यावहारिक और स्वप्न-पदार्थको प्रातिभासिक वर्णन किया गया है।

अनात्म पदार्थोंकी प्रातिभासिक और आत्म पदार्थकी पारमार्थिक—यह दो ही सत्ता है

त्रिविध सत्ता मन्द अधिकारीके लिये है। इस समय उत्तमाधिकारीके योग्य एक सत्ता प्रतिपादन करनेके लिये जाग्रत्से स्वप्नमें वैलक्षण्यका अभाव कहते हैं। देश-काल आदि कारणकलापके बिना ही स्वप्नमें गजादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसलिये मिथ्या कहे जाते हैं। उसी प्रकार आकाशादि प्रपञ्च-की सृष्टि भी ब्रह्मसे देश-कालादि कारणकलापके बिना ही होती है। ब्रह्म अद्वैत है, उसमें किंचित् मात्र भी देश-कालादि नहीं है। स्वप्नमें तो गजादिकी उत्पत्तिके योग्य विस्तृत देश-कालादिका अभाव होनेसे स्वल्प देश-काल है। आकाशादिकी सृष्टिमें तो उतना भी नहीं है। क्योंकि देश-कालादिशून्य परमात्मासे सृष्टि सुनी जाती है। इसीलिये तैत्तिरीय उप-निषद्में क्रमसे आकाशादिकी सृष्टि कहनेपर भी देश-काल आदिकी सृष्टि नहीं कही गयी है। सूत्रकार और भाष्यकार आदिकोंने भी देश-कालादिकी सृष्टिका विचार नहीं किया है। क्योंकि आकाशादि प्रपञ्चकी उत्पत्ति देश-कालके बिना ही हुई है। अतः आकाशादि भी स्वप्नके तुल्य मिथ्या ही हैं।

बिन सामग्री उपजत यातैं। स्वप्नसृष्टि सब मिथ्या तातैं॥
देसकालको लेस न जामें। सर्वजगत उपजत है तामें॥
स्वप्नसमान झूठ जग जानहु। लेस सत्य ताकूं मति मानहु॥
जाग्रतमांहि स्वप्न नहिं जैसें। स्वप्नमांहि जाग्रत नहिं तैसें॥

[यहाँ यह रहस्य है कि कहीं शून्य वनमें दो बलवान् पुरुषोंने अपने-अपने बलके परीक्षणमें विवाद किया। विवादमें 'जो दूसरेको मार डाले वह बलवान्' यह प्रतिज्ञा करके अपने-अपने हाथोंमें दोनों तरफ फलवाले

किसी शस्त्रविशेषको लेकर उसके एक फलको अपने हृदयमें और दूसरे फलको दूसरेके हृदयमें धारण करके परस्पर सम्मुख होकर लड़ने लगे और दोनों मर गये। इसी प्रकार सर्वप्रपञ्चशून्य ब्रह्मरूप वनमें जाग्रत्प्रपञ्च और स्वप्नप्रपञ्च दोनों बलवान् प्रतीत होते हैं। इन दोनोंके परस्पर विषयमें परस्पर दृष्टान्तसे प्रहार चलता है। क्योंकि—

लोकमें यह प्रसिद्ध है कि जो उचित देश-काल आदि सामग्रीके बिना उत्पन्न होता है वह मिथ्या है। जैसे, देशरूप सामग्री होनेपर भी कालरूप सामग्रीके न्यून होनेसे ऐन्द्रजालिकसे रचित आम्र-फलादि मिथ्या होता है। उसी प्रकार कण्ठके हिता नाम नाडीरूप वनमें स्वल्प देश एवं स्वल्प कालमें उत्पन्न होनेवाला स्वप्न मिथ्या है। इसी दृष्टान्तके बलसे जाग्रत्-प्रपञ्च भी मिथ्या है। यही प्रहार है।

इसी प्रकार, देश-कालादि सामग्रीशून्य ब्रह्ममें जाग्रत्-प्रपञ्च प्रतीत होता है। इसीलिये जाग्रत् भी मिथ्या ही है। क्योंकि प्रतीयमान देश-काल तो जाग्रत्प्रपञ्चके भीतर है। यदि कहें कि भिन्न देश-काल प्रपञ्चका कारण है। तो उससे पूछना चाहिये कि वह देश-काल ब्रह्मसे अभिन्न है अथवा भिन्न है। प्रथम पक्षमें ब्रह्मसे भिन्न देश-कालका अभाव होनेसे देश-कालरूप सामग्रीशून्य ब्रह्ममें प्रपञ्च सिद्ध होता है। द्वितीय पक्षमें ब्रह्मभिन्न देश-काल क्या सत्य है अथवा मिथ्या?

यदि सत्य कहें तो अद्वैत श्रुतियोंका विरोध होता है। यदि मिथ्या कहें तो प्रपञ्चवत् वे भी कार्य होंगे, कार्य होनेसे उनका भी कोई अन्य देश-काल कारण होना चाहिये। स्वयं ही अपना कारण हो तो 'आत्माश्रय' होगा। यदि प्रथम देश-कालका द्वितीय देश-काल कारण और द्वितीय देश-कालका प्रथम देश-काल कारण स्वीकार करें तो 'अन्योन्याश्रय' होगा। और यदि द्वितीय देश-कालका तृतीय एवं तृतीय देश-कालका प्रथम देश-काल कारण मानें तो 'चक्रकापत्ति' दोष होगा। यदि तृतीय देश-कालका कारण चतुर्थ तथा चतुर्थका कारण पञ्चम स्वीकार करें तो अनन्त देश-कालादि धारारूप 'अनवस्था' होगी। अतः ब्रह्ममें देश-काल सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार देश-कालरहित ब्रह्ममें जाग्रत् जगत्की उत्पत्ति प्रतीत होती है। अतः जाग्रत्प्रपञ्च असत् है।

अथवा जाग्रत्में स्वप्नके पदार्थकी स्मृति होती है, किन्तु स्वप्नमें जाग्रत्के पदार्थकी स्मृति नहीं होती। इससे भी जाग्रत्प्रपञ्च मिथ्या है। इसी दृष्टान्तके बलसे स्वप्नप्रपञ्च भी मिथ्या है। और यदि जाग्रत् अवस्थाका अभाव सिद्ध होता है तब जाग्रत्के अन्तर्गत चेतनमें समाधि अवस्थाका भी अभाव अर्थात् सिद्ध हो जाता है। जाग्रत् तथा स्वप्नका अभाव सिद्ध होनेपर तदन्तर्गत बुद्धिका अभाव और बुद्धिका विलयरूप सुषुप्तिका और सुषुप्तिके अन्तर्गत मरण और मूर्च्छा अवस्थाका भी अभाव सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार ब्रह्ममें समस्त प्रपञ्चका अभाव सिद्ध होनेपर अजातवादकी सिद्धि होती है। "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" (श्वे० ६ । ८) "अपूर्वमनपरम्" (बृ० २ । ४ । १९) इत्यादि।]

देश-कालकी उत्पत्तिके विषयमें शङ्का-समाधान

यदि कहें कि स्वामी श्रीमधुसूदन सरस्वतीने देश-कालको साक्षात् अविद्याका कार्य कहा है। अतः मायाविशिष्ट परमात्मासे प्रथम मायाका परिणामभूत देश-काल उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् आकाशादिकी उत्पत्ति होती है। इसलिये योग्य देश-कालरूप सामग्रीसे आकाशादि प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है।

यह शङ्का ठीक नहीं है। पहिले देश-काल उत्पन्न होता है, पश्चात् आकाशादि—यह कहनेका अभिप्राय श्रीमधुसूदन सरस्वतीका नहीं है। अतीत कालमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुको प्रथम या पूर्व कहते हैं। भविष्य-कालकी वस्तुको उत्तर या पश्चात् कहते हैं। आकाशादिकी उत्पत्तिके पूर्व देश-काल उत्पन्न है, यह स्वीकार करनेपर आकाशादि-उत्पत्ति-कालसे पूर्व जो देश-काल है, वैसा देश-कालोपहित परमात्मा देश-कालका अधिष्ठान है

यह सिद्ध होता है। इससे देश-कालादिकी उत्पत्तिके प्रति पूर्व देश-कालकी अपेक्षा होगी। कालकी उत्पत्तिके विना पूर्व काल सिद्ध नहीं होता, अतः आकाशादिके पूर्व कालमें देश-काल है, यह स्वीकार करना नहीं बनता है।

किन्तु श्रीमधुसूदन स्वामीका यह अभिप्राय है कि जैसे भूत-भौतिक प्रपञ्च प्रतीत होता है, उसी प्रकार देश-काल भी प्रतीत होता है। आत्मासे भिन्न कुछ भी वस्तु नित्य नहीं है। अतः देश-काल भी नित्य नहीं हैं। असत् पदार्थ प्रतीत नहीं होते। अतः देश-कालादि उत्पन्न होते हैं। वह देश-काल मायाका परिणाम और चेतनका विवर्त है। जो विवर्त होता है वह किसीका भी कारण नहीं होता है। अतः आकाशादि प्रपञ्चकी उत्पत्तिमें देश-काल कारण नहीं हो सकता।

[कार्यकारणता ह्यत्र न किञ्चिदुपपद्यते।
यादृगेव परं ब्रह्म तादृगेव जगत्त्रयम्॥
तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
माया ज्ञेया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥]

दूसरी बात यह है कि कारण पूर्व होता है और कार्य पश्चात्—इस स्थितिमें आकाशादि-उत्पत्तिके पूर्व देश-कालकी उत्पत्ति सम्भव नहीं होती। यह पहिले कहा गया है। अतः सर्वथा देश-काल आकाशादि प्रपञ्चका कारण नहीं है, यह सिद्ध होता है। किन्तु जैसे स्वप्नमें पिता-पुत्रकी एक साथ उत्पत्ति होती है। एक साथ उत्पन्न होनेपर भी कार्य-कारण प्रतीत होता है। उसी प्रकार जाग्रत्में भी मायाविशिष्ट परमात्मासे देश-कालादि-सहित आकाशादि प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है। उसमें देश-कालका कारणत्व तथा आकाशादि प्रपञ्चका कार्यत्व प्रतीत होता है। जिस मायासे देश-काल-सहित प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है, उसी मायासे देश-कालका कारणत्व और प्रपञ्चका कार्यत्व भी प्रतीत होता है।

और भी बात है कि कोई वस्तु किसी देशविशेषमें, किसी काल-विशेषमें उत्पन्न होती है और कोई वस्तु किसी देश-कालविशेषमें उत्पन्न

नहीं होती है। इसी प्रकार प्रलयकालमें सकल प्रपञ्च उत्पन्न नहीं होता है, सृष्टिकालमें उत्पन्न होता है। इसीलिये देश-कालका कारणत्व प्रतीत होता है। वस्तुतस्तु देश-कालादि आकाशादि प्रपञ्चका कारण नहीं है।

ब्रह्मनिष्ठ कारणताको देश-कालमें स्वीकार करें तो अन्यथाख्याति होगी—शङ्का

देश-काल आकाशादिका कारण है-पूर्वपक्षीकी शङ्का—असत् पदार्थ प्रतीत नहीं होता है। किन्तु सिद्धान्तमें वेदान्ती इसको स्वीकार नहीं करते। यदि असत् पदार्थका भान स्वीकार करें तो असत्ख्यातिका प्रसंग होगा। और वन्ध्यापुत्र, शशशृङ्गादिका भी भान होना चाहिये। किन्तु ये सब भान नहीं होते। अतः असत्‌की प्रतीति नहीं होती। और देश-कालकी यदि स्वतः कारणता नहीं है, तो मायाके बलसे भी कारणता भान नहीं हो सकती, किन्तु देश-कालकी कारणता प्रतीत होती है। अतः देश-काल समस्त प्रपञ्चका कारण है यह अङ्गीकार करना चाहिये।

यद्यपि सिद्धान्तीने कहा है कि ब्रह्म समस्त प्रपञ्चका कारण है, तन्निष्ठ (ब्रह्मनिष्ठ) कारणत्व देश-कालमें प्रतीत होता है। देश-कालमें स्वतः कारणत्व नहीं है। किन्तु यह कहना संगत नहीं है। (१) क्योंकि ब्रह्म जैसे देश-कालका अधिष्ठान है, उसी प्रकार समस्त प्रपञ्चका भी अधिष्ठान होता है। तथा देश-कालमें ही ब्रह्मनिष्ठ कारणता प्रतीत होती है, अन्यत्र नहीं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये अधिष्ठान ब्रह्मनिष्ठ कारणता यदि देश-कालमें प्रतीत होती है तो सर्व प्रपञ्चका अधिष्ठान होनेसे ब्रह्मकी कारणता निखिल प्रपञ्चमें भी प्रतीत होनी चाहिये। ब्रह्मके कार्यभूत प्रपञ्चके किसी एक देश (देश-काल) में कारणता और कहीं आकाशादिमें कार्यता यह वैषम्य होना युक्त नहीं है।

(२) तथा देश-कालमें कारणत्व नहीं है, किन्तु ब्रह्ममें ही कारणत्व है। वह ब्रह्मनिष्ठ कारणत्व देश-कालमें प्रतीत होता है यह कहनेसे अन्यथा-

ख्याति स्वीकार करनी पड़ेगी। क्योंकि वस्तुका रूपान्तर भान होना ही अन्यथाख्याति कहलाता है। अकारणभूत देश-कालका रूपान्तरसे कारणा-त्मना भान मानना अन्यथाख्याति ही स्वीकार करना है। किन्तु सिद्धान्तमें अन्यथाख्याति स्वीकार नहीं है। यहाँ उक्त विषयमें अन्यथाख्याति स्वीकार करनेपर शुक्तिमें रजत उत्पन्न होता है यह अनिर्वचनीय सिद्धान्त निष्फल होगा। अन्यथाख्याति भी दो प्रकारकी होती है। (१) देशा-न्तरमें स्थित पदार्थका देशान्तरमें भान होना प्रथम अन्यथाख्याति है, जैसे कान्ताका करगत रजत पुरोवर्ती शुक्तिमें भान होता है। (२) वस्तुका रूपान्तर भान होना भी 'अन्यथाख्याति' है, जैसे शुक्तिका रजत-रूपसे भान। इस प्रकार सर्वत्र भ्रमस्थलमें अन्यथाख्यातिसे निर्वाह सम्भव होनेपर अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्तिका कथन असंगत होगा।

और भी बात यह है कि विषयके समान आकारका ही ज्ञान होता है। अन्य वस्तुका अन्य रूपसे ज्ञान नहीं होता है। इसीसे रजताकाररूप अज्ञानका विषयभूत अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता ही है। इस अद्वैत-सिद्धान्तमें अकारणीभूत देश-कालमें ब्रह्मनिष्ठ कारणकी प्रतीति नहीं हो सकेगी। क्योंकि देश-कालमें प्रतीयमान जो कारणत्व है वह अविद्यमान है, अविद्यमान होनेसे भान नहीं होना चाहिये। और सत् ब्रह्मके आश्रित भी भान नहीं होना चाहिये। अतः देश-कालमें ही कारणत्व है। विद्यमान ही कारणत्व देश-कालमें प्रतीत होता है। अतः आकाशादि प्रपञ्चका देश-काल कारण नहीं है—यह कहना असंगत ही है।

अधिष्ठान ब्रह्मनिष्ठ कारणता ही देश-कालमें अन्यथाख्याति-से प्रतीत होती है—सिद्धान्तीका उत्तर

उत्तर—पूर्वपक्षीकी उपर्युक्त शङ्का ठीक नहीं है। ब्रह्मनिष्ठ कारणता ही देश-कालमें प्रतीत होती है। जैसे जपाकुसुमके सम्बन्धसे स्फटिकमें उपाधिरूप कुसुमनिष्ठ ही रक्तिमा प्रतीत होती है तथा जैसे स्वप्नमें

अधिष्ठाननिष्ठ सत्यता स्वप्नमें उपलभ्यमान मिथ्या पर्वत-हस्ति आदिमें उपलब्ध होती है उसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ कारणता देश-कालमें प्रतीत होती है। यहाँ स्फटिकमें अनिर्वचनीय लौहित्य अङ्गीकार नहीं किया जाता है। किन्तु सन्निहित जपाकुसुमस्थ लौहित्य ही स्फटिकमें प्रतीत होता है। शुक्ल स्फटिकमें रक्तवर्णत्वसे भासमान जो स्फटिकमें रक्तवर्णका ज्ञान है वह अन्यथाख्याति ही है। उसी प्रकार स्वाप्निक मिथ्या पदार्थोंमें सत्यताकी प्रतीति भी अन्यथाख्याति ही है। उसमें अनिर्वचनीय सत्यताकी उत्पत्ति स्वीकार करना तो "सत्यमिदं वस्तु मिथ्या" इस व्याहत वचनके समान असंगत ही है। असत् वस्तु तो प्रतीत नहीं होती। इससे भी स्वप्नाधिष्ठान चैतन्यगत सत्यता ही मिथ्या पदार्थमें प्रतीत होती है, इस मिथ्या पदार्थनिष्ठ सत्यताविषयक ज्ञानको भी अन्यथाख्याति ही स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्मनिष्ठ कारणता देश-कालमें अन्यथाख्यातिसे भान होती है।

अन्तःकरणका जहाँ दो पदार्थोंसे सम्बन्ध है वहाँ अन्यथा-ख्याति है, जहाँ एक पदार्थसे सम्बन्ध है वहाँ अनिर्वचनीय-ख्याति है—

सर्वत्र भ्रमस्थलमें अन्यथाख्यातिका ही प्रसंग होगा यह नहीं कहना चाहिये। शुक्तिकादिमें रजत-भानस्थलमें अन्यथाख्याति स्वीकार करनेपर विषयसे विलक्षण ज्ञान नहीं होता, इस न्यायका विरोध-प्रसंग उपस्थित होने लगेगा। जहाँ स्फटिकमें लौहित्यज्ञान होता है, वहाँ लोहित कुसुमका स्फटिकसे सम्बन्ध है। इसलिये स्फटिकके सम्बन्धसे कुसुमगत लौहित्य स्फटिकमें प्रतीत होता है। अन्तःकरणवृत्तिकी लोहित कुसुमाकारदशामें उस वृत्तिके विषय लोहित कुसुमके सम्बन्धसे स्फटिक भी भान होता है। अतः कुसुमगत लौहित्य स्फटिकमें प्रतीत होता है। इस प्रकार शुक्ति रजतरूपसे नहीं जाना जाता, अन्य रीतिसे उसका ज्ञान होता है; क्योंकि शुक्तिदेशमें अनिर्वचनीय अथवा व्यावहारिक रजत नहीं है, किन्तु

शुक्ति ही है। अन्तःकरणका शुक्तिसे सम्बन्ध होनेपर शुक्तिके समानाकार ही वृत्ति होती है, रजताकार नहीं होती। अतः हमारे मतमें शुक्तिमें रजत-भ्रमस्थलमें अविद्याका परिणामरूप एवं चैतन्यका विवर्तरूप रजत और रजतका ज्ञान उत्पन्न होता है, यह स्वीकार किया गया है। स्फटिक-लौहित्य-भ्रमस्थलमें तो स्फटिक और लोहित कुसुम दोनोंके साथ अन्तः-करणका सम्बन्ध है। स्फटिकमें लौहित्यका प्रतिबिम्ब है। अतः पुष्पका धर्म लौहित्य स्फटिकमें अन्तःकरणवृत्तिका विषय होता है। इसलिये जहाँ दो पदार्थोंका सम्बन्ध है वहाँ अन्यका धर्म अन्यमें प्रतिभान अन्यथा-ख्याति ही होता है। जहाँ दोनों पदार्थोंका सम्बन्ध नहीं है वहाँ अन्यथा-ख्याति नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीयख्याति ही होती है। जैसे लोहित पुष्पके सम्बन्धसे स्फटिकमें पुष्पगत लौहित्य प्रतिभान होता है, वैसे ही स्वप्नमें अधिष्ठान चैतन्यके सम्बन्धसे हस्त्यादि पदार्थमें अधिष्ठान चैतन्यके धर्म सत्यताका प्रतिभान होता है। स्फटिकमें लौहित्य-भानके समान ही स्वाप्निक पदार्थमें सत्यता-भान भी अन्यथाख्याति ही है। इसी प्रकार अधिष्ठान चैतन्यगत कारणत्व अधिष्ठान चेतनके सम्बन्धसे देश-कालमें प्रतीत होता है यह अन्यथाख्याति है।

जाग्रत्प्रपञ्च भी सामग्रीके विना ही उत्पन्न होनेसे स्वप्न-प्रपञ्चके समान मिथ्या है

अन्यनिष्ठ धर्मकी अन्यमें प्रतीतिको अन्यथाख्याति अङ्गीकार करनेसे अधिष्ठान चैतन्यगत असत्यता जैसे चैतन्यसे सम्बन्ध होनेपर सकल प्रपञ्चमें स्वीकार की जाती है। उसी प्रकार अधिष्ठान चैतन्यमें स्थित कारणता भी अधिष्ठानके सम्बन्धसे सकल प्रपञ्चमें स्वीकार करनी चाहिये। यह जो शङ्का की गयी है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि—(१) स्वप्नमें पिता और पुत्रके दो शरीर उत्पन्न होते हैं तथा स्वप्नमें उपलब्ध पिता-पुत्र दोनोंके शरीरोंका अधिष्ठान चैतन्यसे सम्बन्ध समान होनेपर भी पिताके शरीरमें अधिष्ठानकी

धर्मभूत कारणता प्रतीत होती है। और पुत्रके शरीरमें तादृश पितृजन्यत्वरूप कार्यता ही प्रतीत होती है, कारणता नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार अधिष्ठान चैतन्यसे साधारणतया सकल प्रपञ्चसे सम्बन्ध होनेपर भी देश-कालमें ही चैतन्यनिष्ठ कारणता प्रतीत होती है, अन्यत्र स्वभावसे कार्यता ही प्रतीत होती है। (२) अथवा असङ्ग, उदासीन स्वभाववान् होनेसे परमार्थतः अधिष्ठान चैतन्य किसीका भी कारण नहीं होता है। मायामें प्रतिबिम्बित चिदाभास कारण होनेपर भी आभास स्वरूपसे मिथ्या है। जो स्वयं मिथ्या है वह दूसरेका कारण नहीं हो सकता है। यदि परमात्मामें प्रपञ्चके प्रति कारणता होती तो भ्रमवद्यात् देश-कालमें प्रतीत होती। परमात्मामें तो कारणता है नहीं। इसलिये कारणत्वादि धर्मशून्य असंग चैतन्यका कारणत्व देश-कालमें प्रतीत होता है यह कहना संगत नहीं होता है। **'अपूर्वमनपरम्'** (बृ० २।४।१९) **"अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि"** (के० १।३) **"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते"** (श्वे० ६।८) कार्य-कारणता ब्रह्ममें उपपन्न नहीं होती। जैसा ब्रह्म है वैसा ही जगत्त्रय भी है। इत्यादि श्रुति-स्मृति प्रमाण है। किन्तु मायाकृत अनिर्वचनीय देश-काल अनिर्वचनीय कारणवान् भी है। यथार्थमें देश-कालमें कारणता नहीं है। स्वप्नमें कोई अपुत्र वन्ध्य पुरुष अपने पुत्र-पौत्रको देखता है। उन पुत्र-पौत्रके शरीर भी अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होते हैं। पुत्रके शरीरमें पौत्रके शरीरके प्रति अनिर्वचनीय कारणता भी उत्पन्न होती है। स्वप्नमें परमार्थतः पुत्र-पौत्रके शरीर और पुत्र-पौत्रके शरीरमें परस्पर कारण-कार्यता भी नहीं है। उसी प्रकार देश-काल भी अनिर्वचनीय ही प्रतिभान होता है। परमार्थतस्तु देश-कालकी आकाशादि प्रपञ्चके प्रति कारण-कार्यता भी नहीं है। इस प्रकार उचित देश-कालरूप सामग्रीके विना ही जाग्रत्प्रपञ्च उत्पन्न होता है। अतः जाग्रत् भी स्वप्नवत् मिथ्या ही है। जैसे स्वप्नमें उपलब्ध होनेवाले स्त्री-पुत्रादि स्वप्नमें ही सुख-दुःखके हेतु होते हैं, जाग्रत्में नहीं; क्योंकि जाग्रत्में उनका अभाव है। उसी प्रकार जाग्रत्-पदार्थ भी तात्कालिक सुख-दुःखके हेतु हैं, स्वप्नमें वे सुख-

दुःखके हेतु नहीं हैं; क्योंकि उन पदार्थोंका स्वप्नमें अभाव है। अतः जाग्रत् और स्वप्न दोनों समान ही हैं।

"त्रयः स्वप्नास्त्रय आवसथाः। अयमावसथोऽयमावसथः।"

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम्।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः॥
चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसन्धाय जागरे।
सत्यत्वबुद्धिं सन्त्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत्॥

जाग्रत्में पदार्थ ज्ञानके समकाल ही उत्पन्न होते हैं। अज्ञात सत्ता होनेसे द्वितीय जागरणमें नहीं रहते। जाग्रत् एवं स्वप्नके पदार्थ अस्थिर हैं।

मुख्य सिद्धान्तके अज्ञानसे ही जाग्रत्पदार्थोंमें स्थिरत्व बुद्धि—यद्यपि जागरणसे स्वप्न अनुभव करके पुनः जागरण होनेपर प्रथम जाग्रत्के पदार्थ जो अनुभूत थे वे ही स्वप्नव्यवहित द्वितीय जाग्रत्में भी अनुभूत होते हैं, किन्तु प्रथम स्वप्नदृष्ट पदार्थ द्वितीय स्वप्नमें वैसे नहीं दीखते हैं। इसलिये स्वप्नपदार्थकी अपेक्षा जाग्रत्के पदार्थ विलक्षण हैं यह शङ्का होती है। परन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि मुख्य सिद्धान्तके अज्ञानके कारण ही यह शङ्का होती है। अद्वैत-शास्त्रके मुख्य सिद्धान्तके अज्ञानसे ऐसी दृष्टि होती है—'संसारप्रवाहोऽयमनादिः' अर्थात् यह संसारका प्रवाह अनादि है। इसमें जीवको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत्-कालमें स्वप्न तथा सुषुप्ति नष्ट हो जाते हैं, स्वप्नकालमें जाग्रत् एवं सुषुप्ति नहीं होते एवं सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्न विनष्ट हो जाते हैं। परन्तु जब स्वप्न और सुषुप्ति होते हैं तब जाग्रत्में अनुभूत स्त्री, पुत्र, धन, गृह और पशु आदि पदार्थोंका विनाश नहीं होता, किन्तु इनका ज्ञान ही विनष्ट होता है। जब पुनः जागरण होता है तब प्रथम जाग्रत्के पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। मुख्य सिद्धान्त न जाननेवाले अज्ञानियोंकी यह दृष्टि है।

समस्त जाग्रत्पदार्थ उनके ज्ञानके साथ ही उत्पन्न होते हैं और ज्ञानके साथ ही नष्ट भी हो जाते हैं

सिद्धान्त यह है कि समस्त पदार्थ चैतन्यका विवर्त और अज्ञानका परिणाम है। इसलिये जब जो पदार्थ शुक्ति-रजतवत् प्रतीत होता है तब अधिष्ठान चैतन्यके आश्रित अविद्याका दो प्रकारसे परिणाम होता है। अविद्याके तमोगुणांशसे घटादि विषयरूप परिणाम होता है और अविद्याके सत्त्वांशका ज्ञानरूप परिणाम होता है। यद्यपि चैतन्यका ही ज्ञान शब्दसे व्यपदेश होता है। अतः सत्त्वगुणके परिणामके लिये ज्ञानोक्ति संगत नहीं होती, तथापि सर्वव्यापक चैतन्य ज्ञान शब्दसे नहीं कहा जाता, किन्तु साभास वृत्त्यारूढ चैतन्य ही ज्ञान शब्दसे कहा जाता है। अतः चैतन्यमें ज्ञानकी सम्पादिका वृत्ति ही है—इस तरह चैतन्यकी ज्ञानत्वापादक उपाधिभूत वृत्तिमें भी ज्ञान शब्दका प्रयोग होता है। "घटज्ञानं जातं पटज्ञानं नष्टम्' 'घटका ज्ञान हुआ, पटका ज्ञान नष्ट हो गया' इत्यादि व्यवहार लोकमें देखा जाता है। उसमें वृत्त्यारूढ चैतन्यके स्वतः उत्पत्ति-विनाश असम्भव होनेपर भी उपाधिभूत वृत्तिमें सम्भव होनेसे ज्ञानमें उत्पत्ति-विनाशका व्यवहार होता है।

इस प्रकार वृत्तिमें ज्ञान शब्दका प्रयोग सम्भव होनेसे तादृश वृत्तिरूप ज्ञानमें सत्त्वगुणका परिणाम होता है। उसी वृत्तिमें चैतन्याभास होता है। घटादि विषयरूप परिणाममें तो चैतन्याभास नहीं होता है। घटादि विषय एवं इनका ज्ञान-दोनों अविद्याके परिणाम होनेपर भी घटादि विषय अविद्याके तमोगुणके परिणाम होनेसे मलिन होते हैं। अतः इनमें चिदाभास नहीं होता। वृत्ति तो सत्त्वगुणका परिणाम होनेसे स्वच्छ होती है। इस कारण वृत्तिमें चिदाभासोदय सम्भव होता है। इस प्रकार वृत्तिमें चैतन्यके प्रतिबिम्ब-ग्रहणकी योग्यता होनेसे **वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यको ज्ञान और तदुपहित चैतन्यको साक्षी** कहते हैं। घटादि विषयोंमें चैतन्याभास-

ग्रहणकी अयोग्यता होनेसे विषयावच्छिन्न चैतन्य न ज्ञान है और न साक्षी है।

इस रीतिसे जाग्रत्पदार्थ एवं इनका ज्ञान दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं और साथ ही विनष्ट हो जाते हैं। अतः वे भी स्वप्नके पदार्थोंकी भाँति प्रातिभासिक ही होते हैं यह वेदान्तका रहस्य है। इसलिये प्रथम जाग्रत्‌के दृष्ट पदार्थ स्वप्न और सुषुप्तिके अनन्तर पुनः द्वितीय जाग्रत्‌में अनुभूत होते हैं यह कहना असंगत ही है।

जाग्रत्पदार्थोंकी परस्पर कार्यकारणता नहीं है

स्वप्नपदार्थ साक्षात् अविद्याके कार्य हैं। जाग्रत्पदार्थ उनके असाधारण कारण हैं अतः जाग्रत् और स्वप्नकी समानता नहीं है—यह शङ्का है।

यद्यपि स्वप्नसे प्रबुद्ध **'पूर्वं ये पदार्था मया दृष्टास्तानेवाद्य पश्यामि"** यह प्रत्यभिज्ञासे जानता है। अतः जाग्रत्‌के पदार्थ ज्ञानके समकाल उत्पत्ति-विनाशवाले नहीं होते, किन्तु ज्ञानके प्रथम और ऊर्ध्व विद्यमान रहते हैं। अतः जाग्रत्पदार्थ अज्ञातसत्ताक हैं यही कहना युक्त है। यह शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि स्वप्नमें तत्क्षण उत्पन्न पदार्थोंमें यह सब गिरि-नदी-समुद्रादि मेरे जन्मसे पहिले ही उत्पन्न हैं, सहस्रों वर्षोंसे विद्यमान हैं यह प्रतीति किसीको होती है। इसमें तत्क्षण उत्पन्न स्वाप्निक पदार्थोंमें जो चिरन्तनत्वकी प्रतीति है, वह भ्रान्ति ही है। इसलिये जिस अविद्यासे स्वप्नमें मिथ्याभूत गिरि-नदी-समुद्रादि उत्पन्न होते हैं उसी अविद्यासे उन-उन पदार्थोंका चिरन्तनत्व और तादृश चिरन्तनत्वविषयक अनिर्वचनीय ज्ञान भी उत्पन्न होता है। इसी कारण जाग्रत्पदार्थोंमें वस्तुतः चिरन्तनत्वाभाव होनेपर भी अविद्यावश तत्तद् पदार्थोंके साथ ही मिथ्याभूत स्थिरत्व भी अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है। अतः जाग्रत्पदार्थोंमें स्थिरत्वकी प्रतीति भी भ्रान्ति ही है।

आक्षेप—स्वप्नके पदार्थ साक्षात् अविद्याके परिणाम हैं और जाग्रत्के पदार्थ साक्षात् अविद्याके परिणाम नहीं हैं। किन्तु जैसे घटादि दण्ड-चक्र-कुलालादिसे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सभी जाग्रत्पदार्थ तत्तद् असाधारण कारणवश उत्पन्न होते हैं। यदि जाग्रत्के पदार्थ भी साक्षात् अविद्याके परिणाम हों, तब तो आकाशादिके क्रमसे पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति एवं पञ्चीकरण तथा पञ्चीकृत भूतोंसे ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति इत्यादि जो श्रुतियोंमें कहे गये हैं वे सब असंगत हो जायँगे। अतः ईश्वरसृष्ट जाग्रत्के सभी पदार्थ अपने-अपने उपादान कारणके परिणाम ही हैं, साक्षात् अविद्याके परिणाम नहीं हैं। स्वप्नके पदार्थ तो साक्षात् अविद्याके परिणाम हैं। क्योंकि समस्त स्वप्नके पदार्थोंकी एक ही अविद्या उपादान होती है। अतः स्वप्नके पदार्थोंकी एवं उनके ज्ञानोंकी एक साथ एक ही अविद्यासे उत्पत्ति सम्भव भी होती है। जाग्रत्पदार्थ तो अपनी उत्पत्तिके पूर्व विद्यमान भिन्न-भिन्न उन-उन अपने-अपने उपादान कारणविशेषसे उत्पन्न होते हैं तथा अपने-अपने उपादान कारणमें लीन होते हैं। घटादि जाग्रत्पदार्थोंकी उत्पत्तिके पूर्व और नाशके पश्चात् भी मृत्पिण्डादिरूप उपादान कारण रहते ही हैं। इसलिये जाग्रत्के पदार्थ कोई स्वल्पकालस्थायी तथा कोई स्थिरकालस्थायी हैं और यथोचित परस्पर कार्य-कारणभावापन्न हो विद्यमान रहते हैं। किन्तु स्वप्नके पदार्थ वैसे नहीं हैं। अतः जाग्रत् एवं स्वप्नका साम्य कहना युक्त नहीं है।

जाग्रत् और स्वप्नके साम्यका समर्थन

समाधान—उपर्युक्त दोष यहाँपर नहीं है। जाग्रत्पदार्थके तुल्य ही स्वप्नके पदार्थमें भी कार्यकारणताकी प्रतीति है। 'मदीया गौर्वत्समजनयत्, मम जाया पुत्रमसूत' मेरी गायके बछड़ा उत्पन्न हुआ', मेरी स्त्रीके पुत्र हुआ' यह स्वप्न स्वाभाविक है। इसमें एक साथ ही उत्पन्न होनेवाले स्वाप्निक पदार्थोंमें गो-जायादिकी बहुकालस्थायिता और कारणता प्रतीत होती है। वत्स-पुत्रादिकी पश्चाद्भाविता तथा कार्यता भी प्रतिमान होती है। दृष्टिके

समय समकालमें ही उत्पन्न उनमें वस्तुतः पूर्व एवं पश्चात् कालता या परस्पर कारणता नहीं है; क्योंकि गोके वत्सका तथा जायाके पुत्रका साक्षात् अविद्या ही उपादान है। इसी प्रकार जाग्रद्दशामें भी किसी पदार्थकी अधिककालस्थायिता, श्रेष्ठता और कारणरूपता तथा किसी पदार्थकी अल्पकालस्थायिता, अल्पता और कार्यरूपता भी भान होती है। परमार्थतः तो कोई भी पदार्थ किसी पदार्थका कार्य या कारण नहीं है। किन्तु अविद्यासे ही वे सब पदार्थ तत्तद्रूपसे भान होते हैं। अतः स्वप्नके समान ही जाग्रत् भी साक्षात् अविद्याका ही कार्य है।

सृष्टि-श्रुतियोंका लयचिन्तनद्वारा अद्वैतमें ही तात्पर्य है

सृष्टि-क्रम-प्रतिपादक श्रुतियोंका सृष्टि-प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु अद्वितीय ब्रह्मके बोधनमें ही तात्पर्य है। सभी पदार्थ परमात्मासे ही उत्पन्न होते हैं, परमात्माके ही विवर्त हैं। **जो-जो विवर्त होता है वह सब उसका स्वरूप ही होता है, उससे पृथक् नहीं होता है।** अतः नाम-रूप सकल प्रपञ्च ब्रह्मसे अभिन्न होनेसे ब्रह्म ही है इसी अर्थको बोधन करनेके लिये सृष्टिश्रुति प्रवृत्त है, सृष्टि-प्रतिपादनका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है।

श्रुतिमें सृष्टि-क्रम कहा गया है। वह भी स्थूल दृष्टिवाले पुरुषोंको उत्पत्ति-क्रम तथा तद्विपरीत क्रमसे परमकारण ब्रह्ममें समस्त कार्योंके लय-चिन्तनद्वारा अद्वितीय ब्रह्मका अवबोध करानेके लिये ही है, अद्वैत-बोधनके सिवा दूसरा कुछ प्रयोजन नहीं है। सृष्टि-श्रुतिका प्रमाण न तो आकाशादिकी उत्पत्तिमें, न क्रमज्ञानमें और न उनकी परस्पर कार्यकारणताके बोधनमें ही है। सृष्टिका कोई क्रम नहीं है, किन्तु समस्त पदार्थ एक अविद्यासे ही उत्पन्न हैं। उसमें परस्पर कार्यकारणभाव अथवा पूर्वापर कालत्व यह सब अविद्याकृत, स्वप्नके समान मिथ्या ही भान होता है। श्रुतिमें कहा हुआ आकाशादिका पूर्व-पश्चात् भावित्व, कार्यकारणत्व आदि सब 'कारणसे भिन्न कार्य नहीं

होता' यों मन्द अधिकारियोंके ध्यान-चिन्तनके लिये विधिरूपमें है। जैसी वस्तु हो वैसा ही उसका ध्यान करना चाहिये, यह नियम नहीं है। इसीलिये जाग्रत्पदार्थोंमें भी परस्पर कार्यकारणता नहीं है।

दृष्टि-सृष्टिवाद ही स्वीकार्य है

परमार्थतः जागरित पदार्थोंका भी कार्य-कारण कुछ भी सम्भव नहीं है। सभी पदार्थ साक्षात् अविद्याके कार्य होनेसे शुक्तिमें रजतके समान एवं स्वाप्निक पदार्थके तुल्य ही हैं। साक्षात् अविद्याके कार्य होनेसे प्रातिभासिक-रूपसे अविद्या वृत्त्युपहित साक्षीसे ही सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं। अविद्याके ही ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार परिणाम हैं। स्वप्नवत् एक साथ ही उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। "दर्शनं सृष्टिरदर्शनं लयः" इस न्यायसे जब पदार्थ प्रतीत होते हैं तभी प्रतीतिके विषय होते हैं। कालान्तरमें पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसीका नाम दृष्टि-सृष्टिवाद है।

[दृष्टि—अविद्यावृत्तिरूप ज्ञान, उसकी उत्पत्तिके समय ही सृष्टि—दृश्य प्रपञ्चकी उत्पत्ति है। इस अर्थका प्रतिपादन ही 'दृष्टि-सृष्टिवाद' है, इसीको 'अजातवाद' कहते हैं। इस वादका बृहदारण्यकके भाष्यमें, वार्तिकमें, माण्डूक्य-कारिकामें एवं कारिकाके भाष्यमें तथा उसीकी आनन्दगिरिटीकामें तथा योगवासिष्ठ, सूतसंहिता, वेदान्तमुक्तावलि और अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें बड़े समारोहसे प्रतिपादन किया गया है। विशेष जिज्ञासुको इन ग्रन्थोंमें देखना चाहिये। "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" इस न्यायसे इन ग्रन्थोंमें जिज्ञासुको दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्तका सम्यक् ज्ञान होता है। ग्रन्थान्तरका अवलोकन तो बुद्धि-विनोदके लिये होता है।

इससे भिन्न भी दृष्टि-सृष्टिवाद है, उसमें—

सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते।
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः ॥
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः।

सत्तान्तरकी निन्दापूर्वक सत्तैकत्वके प्रतिपादनसे जगत्की तुच्छताका वर्णन है। यही सर्वोत्तम पक्ष है।]

इस पक्षमें पदार्थोंकी अज्ञात सत्ता नहीं मानते, किन्तु ज्ञात सत्ता ही मानते हैं। अद्वैतवादका यही सिद्धान्त पक्ष है। इस पक्षमें दो ही सत्ता स्वीकार है, तीसरी व्यावहारिक सत्ता नहीं मानते। समस्त दृश्य अनात्म पदार्थोंकी स्वाप्निक पदार्थोंके समान प्रातिभासिक सत्ता ही है। प्रतिभास-कालसे अन्य कालमें अनात्म पदार्थोंकी सत्ता नहीं है। इसलिये तृतीय व्यावहारिक सत्ता नहीं है।

और इस पक्षमें समस्त अनात्म पदार्थ साक्षिभास्य हैं। प्रमाण-प्रमेय-की विषयभूत कोई वस्तु भी नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण, इन्द्रिय और घटादि विषय सब त्रिपुटी-ज्ञान स्वप्नके तुल्य एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। अतः उनके मध्यमें विषय-विषयित्व सम्भव नहीं होता है। घटादि विषय, नेत्रादि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण—ये सब यदि ज्ञानके पूर्व होते तब तो नेत्रादिद्वारा अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ज्ञान प्रमाणजन्य होता। ये सब अन्तः-करण, इन्द्रियाँ और घटादि विषय ज्ञानके पूर्व कालमें नहीं हैं। ज्ञानकालमें ही स्वप्नके समान त्रिपुटी उत्पन्न होती है। इसलिये त्रिपुटीजन्य ज्ञान कुछ भी नहीं है। तथापि ज्ञानमें त्रिपुटीजन्यता प्रतीत होती है। इसीलिये जाग्रत्पदार्थ साक्षिभास्य हैं, प्रमाणजन्य ज्ञानके विषय नहीं हैं। इससे भी जाग्रत्पदार्थ स्वप्नके तुल्य मिथ्या होते हैं।

और भी बात है कि जाग्रत्में कोई पदार्थ मिथ्यारूपसे तथा कोई पदार्थ सत्यरूपसे प्रतीत होते हैं। उनमें भी कोई पदार्थ अनादिकालसे विद्यमान हैं और कोई पदार्थ विनष्ट हो जाते हैं। उसीके समान दूसरे उत्पन्न भी होते हैं। इस प्रकार प्रपञ्च-धाराका कभी उच्छेद नहीं होता है। ज्ञान उत्पन्न होनेपर ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रपञ्च नहीं प्रतीत होता। अज्ञानीको प्रपञ्च प्रतीत होता है। इस प्रकारके ज्ञानके साधन गुरु और वेदान्त हैं। इन्हीं साधनोंसे परमार्थ सत्यकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार जाग्रत्में प्रतीत

होता है। इसी प्रकार किन्हीं पदार्थोंका मिथ्यात्व, किन्हींका विनाश, किन्हींकी उत्पत्ति और गुरु-वेदान्त-साधनोंसे परम पुरुषार्थ-लाभ—यह सब प्रतीति अविद्याकृत, स्वप्नवत् मिथ्या ही है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्।

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति कदाचित् कस्यचित् क्वचित्।
सर्वमात्ममयं शान्तमित्येवं प्रत्ययं स्फुटम्॥
सबाह्याभ्यन्तरं राम सर्वत्र दृढतां नय।

अविद्यमानोऽप्यवभासते द्वयो-
र्ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत्कर्म सङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥

—इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास और अनुभव आदिसे सिद्ध है तथा वासिष्ठ रामायणमें भी इस प्रकारके अनेक इतिहास उपलब्ध होते हैं।

और भी बात है कि क्षणकालमात्रव्यापी स्वप्नमें अनन्तकाल भान होता है। पदार्थ जाग्रत्के समान स्थिररूप भी प्रतिभान होते हैं। उन पदार्थोंसे चिरकाल भोग भी प्रतीत होता है। पञ्चदशीमें कहा भी है—

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी।
ब्रह्मण्येषा तथा माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी॥
स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं तथा।
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः॥
इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा।
यथा यथेक्ष्यते यद्यत् तत्तद् युक्तं तथा तथा॥

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा।
मायाशक्तेरचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम्॥

इसलिये जाग्रत्के पदार्थोंका स्वप्नके पदार्थोंसे वैलक्षण्य कुछ भी नहीं है। किन्तु आत्मासे भिन्न सब मिथ्या ही है। "अतोऽन्यदार्तम्" "न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तम्"। इत्यादि श्रुति भी इसमें प्रमाण है।

गुरु-वेदान्तादिके मिथ्यात्वमें दृष्टान्त

संसारके स्वप्नवत् स्वल्पकालस्थायी होनेसे बन्धका अनादित्व तथा उसकी निवृत्तिरूप मोक्षके उद्देशसे श्रवणादि साधनका अनुष्ठान नहीं बन सकता—यह तत्त्वदृष्टिका तृतीय प्रश्न है।

प्रश्न—ईश्वरकी सृष्टि अनन्तकालसे अनादि है। इसमें ज्ञानी मुक्त होता है और अज्ञानी जन्म-मरणमें पड़ा रहता है। यदि जाग्रत् भी स्वप्नके समान ही है, तब तो जैसा स्वप्न क्षण, मुहूर्त तथा प्रहर कालका होता है। उसी प्रकार संसार भी क्षण, मुहूर्त, प्रहर अथवा कुछ अधिक कालका ही होना चाहिये। (१) संसारके स्वप्नवत् स्वल्पकाल रहनेपर बन्ध अनादि कालसे चल रहा है यह कहना युक्त नहीं है। (२) बन्धकी निवृत्तिरूप मोक्षके लिये श्रवणादि साधनका अनुष्ठान भी निष्फल ही होगा।

उत्तर—यद्यपि पूर्वोक्त सिद्धान्तमें (१) गुरु-वेदान्त, बन्ध-मोक्षादि स्वीकार नहीं किया जाता। (२) किन्तु एक चैतन्य नित्य मुक्त है। (३) अविद्याके परिणाम चैतन्यमें नाना विवर्तरूप होते हैं। उन विवर्तोंसे आत्मस्वरूपकी कोई हानि नहीं होती। (४) आत्मा सदा असंग एकरस है। (५) आजतक कोई मुक्त नहीं हुआ है। आगे भी कोई मुक्त नहीं होगा। जीवन्मुक्ति-शास्त्र तो रुचि बढ़ानेके लिये अर्थवाद है। किन्तु चैतन्य नित्य मुक्त है। (६) अविद्याके परिणामोंका चैतन्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः बन्ध, वेद, गुरु, श्रवणादि साधन, समाधि और

मोक्ष—इन सबकी प्रतीति स्वप्नवत् अविद्याजन्य ही है । इसलिये सभी पदार्थ मिथ्या ही हैं । (७) इन सबका बहुकालस्थायित्व भी अविद्याजन्य ही है । किन्तु इस सिद्धान्तको विना जाने स्थूलदृष्टिसे यह प्रश्न है ।

[इसका अभिप्राय यह है कि इस दृष्टिसृष्टिवादमें "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत् । अहं ब्रह्मास्मि" (बृ० १।४।१०) इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्म ही अपनी अविद्यासे संसारी होता है और विद्यासे मुक्त होता है।

व्याधसूनोः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्तते ।
यथैवमात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः ॥

इत्यादि प्रमाणोंसे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म ही अपनी अविद्यासे जीवभावापन्न है और ब्रह्मके एक होनेसे जीव भी एक ही स्वीकार किया गया है । अन्य किसी जीवरूप गुरु-शिष्यका अङ्गीकार नहीं है । किन्तु जैसे स्वप्नगत एक मुख्य जीवसे भिन्न अन्य जीवाभास प्रतीत होते हैं उसी प्रकार आभासरूप गुरु-शिष्य आदि प्रतिभान होते हैं । उसमें गुरुमें ईश्वर-बुद्धिसे भक्ति आदिका प्रदर्शन भी स्वप्नके गुरु आदिमें भक्तिके समान मिथ्या ही है और इस वादमें जीवेश्वरादि छः पदार्थ स्वरूपसे अनादि माने गये हैं ।

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥

इनमें ब्रह्मकी पारमार्थिक सत्ता है । ब्रह्मसे भिन्न पञ्च (प्रपञ्च) की व्यावहारिक सत्ता है ।]

अगृधदेव (इच्छारहित आत्मदेव) के स्वप्न-व्याख्यानके व्याजसे तत्त्वदृष्टिके प्रश्नका उत्तर

शिष्य, गुरु और इनका प्रश्नोत्तर मिथ्या है—सदृष्टान्त गुरुका कथन

हे सौम्य ! जैसे निद्रादोषसे स्वप्नमें अध्यापक, अध्ययन, वेद-शास्त्र-पुराण-धर्मशास्त्र, अध्येता, कर्म और उसका फल—यह प्रतीत होता है ।

एवं उन सबमें भ्रान्तिसे सत्यत्व भी उत्पन्न होता है । तथापि स्वप्नके सब पदार्थ मिथ्या ही हैं । उसी प्रकार जाग्रत्में भी सब पदार्थ मिथ्या ही हैं । इनमें सत्यत्वकी प्रतीति भी भ्रान्ति है । मैं तुम्हारा गुरु हूँ, बन्धनिवर्तक वेदान्तका उपदेश करता हूँ—यह सब प्रतीति भी मिथ्या ही है ।

गृधा—इच्छा सब दोषोंका उपलक्षण है, उससे रहित अर्थात् सर्वदोष-रहितका नाम अगृध है, उस अगृधदेव—स्वप्रकाश चैतन्यको जैसे स्वप्नमें मिथ्या प्रतीतिका विषय गुरु-वेदान्त आदि अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ । उसी प्रकार तुमको भी 'मैं गुरु और मेरे द्वारा वेदान्तका उपदेश' यह सब मिथ्या ही अनिर्वचनीयरूपसे प्रतीत होता है ।

अगृधदेवका स्वप्न

अगृध—अविद्याप्रयुक्त रागादिरूप सर्वदोषसे शून्य शुद्ध स्वप्रकाश चैतन्यदेवको अनादि कालसे निद्रामें स्थित हुएके समान स्वप्नमें यह प्रतीत हुआ कि (१) मैं चाण्डाल हूँ, (२) महादुःखी हूँ, (३) अस्थि, मज्जा, रुधिर, त्वक्, मांस, मेद और वीर्य—इन सप्तधातुओंसे मेरा मुख भरा है, (४) महाघोर भयंकर व्याघ्र, हाथी आदि जन्तुओंसे संकुलित महावनमें इधर-उधर परिभ्रमण कर रहा हूँ ।

उस प्रकारका देव मैं इधर-उधर भ्रमण करता हुआ अनेक स्थानोंको देखता हूँ । (१) उस वनके किसी देशमें अनेक प्रकारके भयंकर प्राणी मुझको खानेके लिये दौड़े आ रहे हैं, (२) कहीं पूय, शोणितसे पूर्ण महागर्तमें पड़े हुए कुछ प्राणी हाहाकार शब्द करते हैं, (३) कहीं-कहीं संतप्त लोहस्तम्भमें बँधे प्राणी चिल्ला रहे हैं, (४) कहीं संतप्त बालुकासे पूर्ण मार्गमें पादुकारहित नग्न प्राणी दौड़ाये जा रहे हैं, और उनको राज-कर्मचारी लोहमय दण्डेसे ताडन भी कर रहे हैं । इस प्रकार अनेक भयंकर स्थानोंको देखता हुआ वह अगृधदेव कभी अपनेको भी अपराधी एवं अपराधके फलभूत दुःखका भागी देखने लगा ।

उस स्वप्नमें ही उस अगृधदेवने कहीं दिव्य स्थानको भी देखा, वहाँ (१) उत्तम देवतालोग विराजमान हैं। (२) उन देवताओंके भोग भी दिव्य हैं। (३) अमृतको देखकर ही वे तृप्त हैं। (४) उन देवोंको क्षुत्पिपासा भी बाधित नहीं करती है। (५) उनके शरीर भी मल-मूत्रादिसे रहित दिव्य प्रकाशित हो रहे हैं। (६) उत्तम विमानपर बैठकर कोई देव रमण करता है। वह विमान भी उसके इच्छानुसार चलता है। (७) कहीं रम्भा, उर्वशी आदि अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं। उनके सारे अङ्ग निर्दोष शोभित हो रहे हैं। वहाँकी सभी स्त्रियाँ सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त होकर हर्षित हो रही हैं। (८) उनके अङ्गोंसे कामोद्दीपक उत्तम सुगन्ध फैल रही है। कहीं-कहीं उनके साथ देवतालोग रमण भी कर रहे हैं। (९) अगृधदेव स्वयं भी देवभाव प्राप्त करके उन दिव्याङ्गनाओंके साथ दिव्य स्थानोंमें बहुत कालतक रमण करता है। (१०) इस प्रकार दिव्य स्थानोंमें अप्सराओंसे रमण करता हुआ अगृधदेव सहसा अकस्मात् रुधिर-मलादिपूर्ण कुण्डमें निमग्न होता है।

उसी स्वप्नमें अगृधदेव किसी स्थानमें स्थित सर्वाधिपति पुरुषको देखता है। उनकी आज्ञाका पालन करनेवाले अनुचर उनके आगे खड़े हैं। (१) किन्हीं-किन्हीं पुरुषोंको वे सर्वाधिपति और उनके अनुचर सौम्य-रूपसे प्रतीत होते हैं। (२) और वे ही किन्हींको अत्यन्त भयंकर भी दीख पड़ते हैं। (३) उस वनमें स्थित पुरुषोंके कर्मानुसार वे अधिपति उनको दण्ड देते हैं।

इस प्रकार उस अगृधदेवने अनेक स्थानोंको देखते हुए (१) एक स्थानमें वेद-परायणमें लगे हुए ब्राह्मणोंको देखा। (२) कहीं यज्ञशालामें याजकोंको उत्तम यज्ञ करते हुए देखा। (३) कहीं उत्तम नदीके प्रवाहमें पुण्यजनोंको स्नान करते, (४) कहीं ज्ञानी आचार्य शिष्योंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करते और कहीं ब्रह्मविद्याके बलसे शिष्योंको संन्यास करते भी देखा।

इस रीतिसे अगृधदेवको क्षणमात्र स्वप्नमें नाना प्रकारके आश्चर्यमय पदार्थोंको देखते हुए यह भी प्रतीति हुई कि—(१) मैं इस वनमें बहुत कालसे निवास करता हूँ। (२) इस वनका कभी विनाश नहीं होता है। (३) कभी भगवान्‌के चतुर्मुखोंसे निर्गत नानाविध बीजों (जीवोंके कर्म-परिपाक) से यह वन उत्पन्न हुआ है, जलसेचन (कर्मानुसार सुख-दुःखके अनुभवरूप भोग) से इन वनका पालन होता है, कभी भगवान्‌के घोर हास्यकारी मुखसे निर्गत अग्निसे यह वन (जन्म-मरण-प्रवाहरूप संसार) दग्ध—दाह (प्रलय) को प्राप्त हो जायगा। (४) वनकी उत्पत्तिके साथ ही मेरी भी उत्पत्ति हुई थी। वनके जल जानेपर मेरा भी दाह हो जायगा। (५) समस्त वनके दाह होनेपर केवल एकमात्र ईश्वर ही अवशिष्ट रह जायँगे। (६) उन ईश्वरके शरीरमें वनका बीज अवस्थित रहेगा। इस प्रकारकी प्रतीति स्वप्नमें ही उस अगृधदेवको स्वप्नके वेद-श्रवणसे हुई।

अगृधदेवका स्वप्नमें गुरुसे समागम

बार-बार अपने जन्म-मरणरूप प्रवाहको सुनकर अगृधदेव यह विचार करता है कि—(१) किस उपायसे मैं इस वनसे निकल सकूँगा? (२) वनसे निकलनेपर भी यह मेरा चाण्डालभाव (जीवभाव) कैसे छूटेगा? और सदा देवभाव (ब्रह्मत्व) कैसे बना रहेगा? (३) वनसे निकलनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। ब्रह्मविद्याके उपदेष्टा आचार्य ही अपने शिष्यों-का इस वनसे निस्तार कर सकते हैं। इस प्रकार विचार करते हुए उस अगृधदेवको किन्हीं श्रेष्ठ आचार्यका दर्शन हुआ।

[आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्यते॥
आम्नायतत्त्वविज्ञानाच्चराचरसमत्वतः।
यमादियोगसिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते॥]

विधिवत् उपसन्न उस शिष्यके लिये आचार्यने देववाणीमय मिथ्याभूत वेदान्त-ग्रन्थोंका उपदेश किया।

अगृधदेवकूं स्वप्नमें, भ्रम उपज्यो जिहि रीति ॥
सिष तोकूं यह ऊपजी, बंध-मोक्ष परतीति ॥

चकार सूत्रं यो व्यासः नैष्कर्म्यार्थविबोधकम् ।
तमहं दासभूतः सन् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

अगृधद्देवके तीन प्रश्न

(१) मैं कौन हूँ ? (२) संसारका कर्ता कौन है ? (३) मुक्तिका कारण क्या है ? ज्ञान, कर्म, उपासना अथवा कर्मोपासना यह दोनों ?

इसमें (१) हे भगवन् ! 'मैं कौन हूँ'—इस प्रश्नका अभिप्राय यह है कि—(१) क्या मैं शरीर हूँ (२) अथवा देहसे भिन्न हूँ ? मैं मनुष्य हूँ, यह मेरा देह है यह, दो प्रकारकी प्रतीति होती है इसलिये संशय होता है। यदि आप मुझको देहसे भिन्न कहें तो (३) मैं कर्ता-भोक्ता हूँ (४) अथवा अक्रिय हूँ ? यदि मुझको आप अक्रिय कहते हैं, तब (५) मैं क्या सर्व शरीरोंमें एक हूँ (६) अथवा अनेक हूँ ?

(२) 'संसारका कर्ता कौन है'—इस द्वितीय प्रश्नका अभिप्राय यह है कि—(१) इस संसारका कर्ता कोई है कि नहीं, अथवा (२) यह संसार स्वयं उत्पन्न है ? यदि कोई कर्ता है तो (३) वह कर्ता क्या जीव है (४) अथवा ईश्वर है ? यदि ईश्वर कर्ता है, तो (५) वह ईश्वर क्या एक देशमें स्थित परिच्छिन्न है (६) या वह ईश्वर व्यापक है ? (७) यदि ईश्वर व्यापक है, तब तो जैसे व्यापक आकाशसे जीव भिन्न है, उसी प्रकार ईश्वरसे जीव भिन्न है (८) अथवा अभिन्न है ?

(३) 'मुक्तिका कारण क्या है'—इस तृतीय प्रश्नका अभिप्राय यह है कि—(१) मुक्तिका कारण क्या ज्ञान है ? (२) या कर्म ? (३) या उपासना ? (४) अथवा ज्ञान और कर्म दोनों ? (५) या उपासना और ज्ञान दोनों ? (६) या कर्म और उपासना दोनों हैं ?

'मैं कौन हूँ'—इस प्रश्नका उत्तर

आत्मा देहेन्द्रियादि संघातका साक्षी है

शिष्यके किये हुए प्रश्नके उत्तरमें गुरु बोले—'तुम सच्चिदानन्दस्वरूप हो।' इससे तुम देहसे भिन्न हो यह कहा गया। देह असद्रूप, जडरूप और दुःखरूप है, आत्मा उससे विलक्षण सच्चिदानन्दरूप है।

'तुम कर्ता-भोक्ता नहीं हो। (१) जिसको दुःख है वह दुःखनिवृत्ति तथा सुखप्राप्तिके लिये कर्म करता है, अतः वह कर्ता कहलाता है। (२) तुममें दुःखका अभाव होनेसे दुःखनिवृत्तिके लिये कर्म नहीं, अतः तुम कर्ता नहीं हो। (३) तुम आनन्दरूप हो, अतः सुखप्राप्तिके लिये भी कर्म नहीं करते, इसलिये भी अकर्ता हो। जो कर्ता होता है वही भोक्ता भी होता है। तुम कर्ता नहीं हो, अतः भोक्ता भी नहीं। धर्माधर्मके जनक शुभाशुभ कर्मका कर्ता एवं उनके फलका भोक्ता स्थूल-सूक्ष्म संघात है, वह तुम नहीं हो। तुम तो संघातके द्रष्टा—साक्षी हो।'

आत्मा व्यापक और एक है—इसलिये आत्मा एक ही है, अनेक नहीं है। यदि आत्मा कर्ता-भोक्ता होता तो अनेक होता। एक होनेसे सुखी है। अन्य—अनेक दुःखी होता है। कर्ता-भोक्ता आदि धर्मविशिष्ट एकको स्वीकार करो तो एकके सुखमें सबको सुख तथा एकके दुःखमें सबको दुःखका प्रसंग होने लगेगा। लेकिन ऐसा अनुभव नहीं होता। इसलिये कर्ता-भोक्ता नाना स्वीकार किया गया है। आत्मा अकर्ता एवं अभोक्ता है। अतः एक ही आत्मा है। एक ही आत्मा सर्व शरीरोंमें व्यापक है।

[नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गो
नाहङ्कारः प्राणवर्गो न बुद्धिः।
दारापत्यक्षेत्रवित्तातिदूरः
साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ॥
देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणः।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यादात्मानं राजवत्सदा ॥

नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहं
नाहं बुद्धिर्न हि महदहङ्कारधियौ च।
योऽत्र ज्ञांशः सोऽस्म्यहमेवेति विदुर्यं
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥]

सांख्यमत-निरूपण और निराकरण

सांख्यवादी आत्माको अकर्ता-अभोक्ता स्वीकार करते हैं और नाना भी कहते हैं। यह अत्यन्त विरुद्ध है।

सांख्यका सिद्धान्त यह है कि—(१) सत्त्व-रज-तमोगुणकी साम्यावस्थाको प्रधान—प्रकृति कहते हैं। वह प्रधान प्रकृति ही है, वह विकृति नहीं है। विकृतिका अर्थ है कार्य, और प्रकृतिका अर्थ है उपादान कारण। वह यह प्रकृति महत्तत्त्वका उपादान कारण होनेसे प्रकृति है। यह प्रकृति अनादि होनेसे विकृति नहीं होती। महत्तत्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्रा यह सात प्रकृतिकी विकृति कहलाती हैं। [मायासे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे सत्त्वरजतमोगुणके भेदसे त्रिविध अहंकार और अहंकारसे तन्मात्रा उत्पन्न होती हैं।] इनमें पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तरकी प्रकृति एवं उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्वकी विकृति होती हैं। पञ्च तन्मात्रा पञ्चभूतोंकी प्रकृति हैं। इस प्रकार यह सात तत्त्व प्रकृति-विकृतियाँ होती हैं। पञ्चभूत, दश इन्द्रियाँ तथा मन—ये षोडश तत्त्व विकार हैं। पुरुष न प्रकृति है और न विकृति ही है। जो वस्तु जब वस्त्वन्तरकी कारण होती है तब वह वस्तु प्रकृति कहलाती है। जब वही किसीकी कार्य होती है तब विकृति कही जाती है। पुरुष किसीका कारण नहीं है, अतः वह प्रकृति नहीं है। तथा किसीका कार्य नहीं है; अतः विकृति भी नहीं है। इसलिये पुरुष असंग है। इस रीतिसे सांख्यसिद्धान्तमें पचीस तत्त्व होते हैं। तत्त्व पदार्थका नाम है। (२) सांख्यमतमें ईश्वरको नहीं मानते हैं। (३) स्वतन्त्र प्रकृति ही जगत्‌की कारण होती है। (४) पुरुषको भोग तथा

मोक्ष देनेके लिये प्रकृति प्रवृत्त होती है, पुरुष प्रवृत्त नहीं होता है। (५) प्रकृतिका विषयरूपसे परिणाम ही पुरुषका भोग होता है। (६) बुद्धि द्वारा प्रकृति एवं प्रकृतिके परिणामोंके पुरुषसे पृथक् विवेकसे ही मोक्ष हो जाता है। (७) यद्यपि पुरुषके असंग होनेसे उसमें भोग तथा मोक्ष सम्भव नहीं, तथापि ज्ञान, सुख-दुःख, रागद्वेषादिरूप बुद्धिके परिणाम होते हैं। उस बुद्धिका आत्मासे अविवेक है, विवेक नहीं है; अतः आत्मामें बन्ध-मोक्ष आरोपित हैं। (८) अविवेक होनेके कारण ही सांख्यमतसे आत्मामें भोग है, अतः भोक्ता कहा जाता है। (९) परमार्थतः आत्मा भोक्ता नहीं है, बुद्धि ही भोक्त्री है। (१०) बुद्धि आत्मासे भिन्न है। (११) इस प्रकारके ज्ञानका नाम ही विवेक है। एवं (१२) इस ज्ञानके अभावका नाम ही अविवेक है। (१३) इस प्रकार सांख्यमतमें आत्मा असंग है। (१४) सुखादि बुद्धिके परिणाम होनेसे बुद्धिके ही धर्म हैं। (१५) आत्मा नाना—अनेक हैं।

यहाँ सिद्धान्त यह है कि यह सांख्यमत अत्यन्त विरुद्ध है, क्योंकि यदि सुख-दुःखादि आत्माके धर्म हों तब तो इनका प्रतिशरीरमें भेद होनेसे आत्मामें भेद सिद्ध हो। किन्तु सुख-दुःखादि आत्माके धर्म नहीं हैं वे सब बुद्धिके धर्म हैं। अतः सुख-दुःखादिके भेदसे बुद्धिमें ही भेद सिद्ध होता है, आत्माका भेद सिद्ध नहीं होता है।

जैसे एक व्यापक आकाशमें अनेक उपाधियोंके धर्म आकाश और उपाधिके अविवेकसे ही प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार एक व्यापक आत्मामें अनेक बुद्धिके धर्म बुद्धि एवं आत्माके अविवेकसे ही प्रतीत होते हैं ऐसा स्वीकार करना सांख्यमतमें भी उचित है। आत्माको असंग स्वीकार करके भी नाना—अनेक अङ्गीकार करना व्यर्थ है।

और भी बात है कि कोई आत्मा मुक्त है और कोई बद्ध। यह आत्मामें बन्ध-मोक्षके भेदसे भेद स्वीकार करना भी असंगत ही है। यदि बन्ध-मोक्ष आत्मामें माने जायँ तब तो बन्ध-मोक्षके भेदसे आत्मामें भेद

सिद्ध हो सकता है। यह बन्ध एवं मोक्षका भेद असंग आत्मामें सांख्यवादी स्वीकार नहीं करते। किन्तु बुद्धिके अविवेकसे बन्ध और बुद्धिके विवेकसे बन्धसे मुक्ति मानते हैं। जो वस्तु अविवेकसे उत्पन्न होती है तथा विवेकसे नष्ट होती है, वह वस्तु रज्जुमें सर्पके समान मिथ्या होती है। आत्मामें बुद्धिके अविवेकसे बन्ध होता है। विवेकसे वह निवृत्त हो जाता है। अतः आत्मामें बन्ध मिथ्या है। जैसे बन्ध मिथ्या है उसी प्रकार आत्मामें मोक्ष भी मिथ्या ही है। जहाँ बन्ध सत्य होता है वहाँ मोक्ष भी सत्य होता है। आत्मामें बन्ध मिथ्या होनेसे मोक्ष भी मिथ्या ही है।

इस प्रकार बन्ध-मोक्षकी आकाशवत् एक आत्मामें व्यवस्था हो जाती है। अतः बन्ध-मोक्षके भेदसे आत्मामें भेद सिद्ध नहीं होता है। इसलिये सांख्यमतका अभिमत आत्मामें भेद असंगत है।

[सांख्यमत ईश्वरसहित और ईश्वररहित दो प्रकारका है। (१) देवहूति और महर्षि कर्दमजीके पुत्र, भगवान्के अवतारस्वरूप कपिलदेवजी ईश्वरसहित सांख्य स्वीकार करते हैं। (२) दूसरे अन्य भी कोई कपिल हुए हैं, जो कि निरीश्वर सांख्यमत माननेवाले हैं। इनके मतमें ईश्वर स्वीकार नहीं है। किन्तु प्रधानको ही जगत्का कारण और पुरुषके भोग और मोक्षका कारण भी मानते हैं।

यह मत ठीक नहीं है। इनका कहना है कि प्रलयकालमें सत्त्वादि गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रधान या प्रकृति है। सृष्टिकालमें जब प्रधान साम्यावस्थाको त्याग देता है तब जगत् उत्पन्न होता है। परन्तु यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि प्रधान जड होनेसे स्वतः साम्यावस्थाके परित्यागमें समर्थ नहीं हो सकता। उनके मतमें चेतन पुरुषके असंग होनेसे उसका प्रधानके साथ सम्बन्ध होता नहीं और चेतनके सम्बन्धके विना जड कुछ भी कार्य उत्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता है। इसलिये प्रधानरूप मायाविशिष्ट चैतन्य ही अन्तर्यामी अन्तरात्मा एवं ईश्वर है यही स्वीकार करना चाहिये।]

त्रिविध नैयायिक मतका वर्णन एवं निराकरण

आत्मा व्यापक है इस मतका वर्णन तथा खण्डन

सांख्यवादियोंके तुल्य नैयायिकोंका भी आत्मभेद असंगत ही है। नैयायिकोंका सिद्धान्त यह है कि—

(१) सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, ज्ञानजन्य संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग—ये चौदह गुण जीवात्मामें रहते हैं।

(२) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न—ये आठ गुण ईश्वरनिष्ठ होते हैं।

(३) इसमें इतना भेद है कि ईश्वरके ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य होते हैं। जीवके ज्ञानादि तीनों अनित्य हैं। ईश्वर एक, व्यापक और नित्य है। जीव नाना, व्यापक और नित्य है। जीवमें ज्ञान अनित्य है। अतः जब ज्ञानरूप गुण है तब चेतन है और जब ज्ञानगुण नष्ट होता है तब वह जड पाषाणके तुल्य हो जाता है।

(४) जीव-ईश्वरके तुल्य आकाश, काल, दिक् और मन भी नित्य हैं।

(५) पृथिवी, जल, तेज, वायुके परमाणु नित्य हैं। गवाक्ष-जालसे निकलती हुई सूर्य-किरणोंमें उपलभ्यमान सूक्ष्म रजके षष्ठांशको परमाणु कहते हैं। वह परमाणु आत्माके समान नित्य है।

(६) जात्यादि अन्य कई पदार्थ न्यायमतमें नित्य माने जाते हैं, वेदविरुद्ध बहुत पदार्थोंके लिखनेसे जिज्ञासुको कोई प्रयोजन नहीं है, अतः उनको यहाँ नहीं लिखा है।

(७) 'अहं मनुष्यो ब्राह्मणः' 'मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ' इत्यादि देहमें आत्मभ्रान्ति होती है। इसीसे राग-द्वेष होता है। राग-द्वेषके कारण धर्माधर्मरूप कर्ममें प्रवृत्ति होती है। कर्मसे ही शरीरके सम्बन्धद्वारा सुख-

दुःखादि होते हैं। न्यायमतमें आत्माका भ्रान्तिज्ञान ही संसारका कारण होता है।

(८) वह भ्रान्तिज्ञान तत्त्वज्ञानसे ही निवृत्त होता है।

(९) देहादि समस्त पदार्थोंसे आत्मा भिन्न है यह निश्चय ही तत्त्व-ज्ञान है। १. इस तत्त्वज्ञानसे 'मैं मनुष्य और ब्राह्मण हूँ' यह देहमें जो आत्मभ्रान्ति है वह निवृत्त हो जाती है।

[यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि नैयायिक मतमें तत्त्वज्ञानका हेतु मनन है अर्थात् मननसे तत्त्वज्ञान होता है। 'आत्मा इतर पदार्थोंसे भिन्न है आत्मा होनेसे। जो वस्तु इतर पदार्थोंसे भिन्न नहीं है वह आत्मा नहीं है, किन्तु इतर पदार्थ ही है, जैसे घट।' इस व्यतिरेकी अनुमानसे आत्मामें इतर पदार्थानुमिति-ज्ञान होता है। इसी ज्ञानको मनन कहते हैं। इतर पदार्थके ज्ञानके विना आत्मा इतर पदार्थसे भिन्न है यह भेदज्ञान सम्भव नहीं। जिसका अन्य विषयसे भेद होता है वह भेदका प्रतियोगी कहलाता है। इस प्रकारके प्रतियोगी ज्ञानके विना भेदज्ञान होना सम्भव नहीं होता। इसलिये आत्मामें इतर पदार्थके भेदानुमितिरूप मननके लिये उपयोगी होनेसे इतर पदार्थका निरूपण भी आत्मज्ञानमें उपयोगी होता है। यह इनका मत है।

किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि श्रवण किये हुए अर्थके निश्चयके अनुकूल प्रमेयगत संदेहनिवर्तक युक्तियोंके चिन्तनका ही नाम मनन है। भेदज्ञानसे तो अनर्थ ही होता है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१) इत्यादि श्रुति-वाक्योंसे यह प्रतीत होता है कि समस्त वेदान्तका तात्पर्य अभेद सिद्ध करनेमें ही है। "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० १।४।२) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (कठ० २।१।१०) इत्यादिसे भेदज्ञानकी निन्दा भी की है। इसलिये भेदज्ञान साक्षात् अथवा तत्त्वज्ञानद्वारा पुरुषार्थका हेतु नहीं होता है।]

२. भ्रान्तिनाश होनेपर रागद्वेष भी विनष्ट हो जाता है। ३. रागद्वेषके अभावमें धर्माधर्मरूप कर्ममें प्रवृत्ति भी नहीं होती है। ४. प्रवृत्तिके अभावमें शरीरका सम्बन्धरूप जन्म भी नहीं होता; प्रारब्धभोगसे नष्ट हो जाता है। ५. शरीरका सम्बन्ध न होनेसे इक्कीस प्रकारके दुःखोंका विनाश हो जाता है।

(१०) न्यायमतमें दुःखोंका ध्वंस ही मोक्ष है।

शरीर, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, घ्राण और मन ये छः इन्द्रियाँ एवं इनके शब्दादि विषय तथा षडिन्द्रियजन्य ज्ञान और सुख-दुःख—ये इक्कीस दुःख हैं। शरीरादि दुःखजनक होनेसे दुःख कहे गये हैं। स्वर्गादि सुख भी नाशके भयसे दुःखका कारण है, अतः दुःख ही है।

यद्यपि न्याय-सिद्धान्तमें श्रोत्र और मन नित्य होनेसे इनका नाश सम्भव नहीं होता। तथापि जिस रूपसे श्रोत्र और मन दुःखके हेतु होते हैं वह रूप नष्ट हो जाता है। पदार्थज्ञानके उत्पादक होनेसे श्रोत्र-मन दुःखके हेतु होते हैं। किन्तु मोक्षकालमें श्रोत्र तथा मन पदार्थको उत्पन्न नहीं करते हैं। कर्णगोलकसे अवच्छिन्न आकाशका नाम श्रोत्र है। वह कर्णगोलक मोक्षमें नहीं होता। इसलिये आकाशरूप श्रोत्रेन्द्रिय रहनेपर भी गोलकके अभावसे ज्ञान नहीं होता है। इस रीतिसे ज्ञानका जनक जो श्रोत्रेन्द्रियका स्वरूप है वही दुःख है, उसका विनाश हो जाता है।

[(१) न्यायमतमें श्रोत्रको आकाशरूप स्वीकार करके नित्य मानते हैं। किन्तु यह स्वीकार करना युक्त नहीं है।

१. श्रुतिमें नेत्रादिके तुल्य ही आकाशकी भी उत्पत्ति कही गयी है। उत्पन्न होनेवाली वस्तुका नित्यत्व सम्भव नहीं होता।

२. श्रोत्रको आकाशरूप कहना भी युक्त नहीं है। नैयायिक कर्ण-गोलकस्थ आकाशको श्रोत्र कहते हैं। यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि कर्ण-गोलकमें आकाश रहनेपर भी श्रवणक्रियाकी मन्दता या अभाव होता है। इनके मतमें यह नहीं होना चाहिये। इसलिये पञ्चीकृत भूतरूप कर्ण-

गोलक वृत्याकाशसे भिन्न अपञ्चीकृत भूतरूप आकाशके सत्त्वांशका कार्य श्रोत्रेन्द्रिय उत्पत्ति-विनाशवाला होनेसे अनित्य है।

३. अथवा 'तुष्यतु दुर्जनः' इस दुर्जनतोष न्यायसे श्रोत्रको आकाश मान भी लें तो भी वह नित्य नहीं होता। "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० ब्र० १) इस वाक्यसे आकाशकी उत्पत्ति सुनी जाती है। अतः आकाशके अनित्य सिद्ध होनेपर आकाशके एकदेश श्रोत्रका भी अनित्यत्व सिद्ध हो जाता है। इसलिये श्रोत्रको नित्य कहना युक्त नहीं है।

(२) इसी प्रकार मनको भी नित्य कहना ठीक नहीं है।

१. मनको परमाणुरूप स्वीकार करके नित्य कहनेवाले नैयायिकोंसे पूछना चाहिये कि क्या मन निरवयव है या सावयव ? यदि मनको निरवयव कहें तो अवयवाभावसे मनका आत्माके साथ संयोग नहीं होगा। आत्मासे संयोग हुए विना संयोगजन्य ज्ञान भी नहीं होगा, आत्माको जड माननेवाले नैयायिकके मतमें ज्ञानके अभावमें जगत्की अन्धताका प्रसंग होगा। और यदि सावयव मानें तब घट-पटादिके समान अवश्य अनित्य सिद्ध होगा।

२. यदि मन नित्य है तब सुषुप्तिमें विशेष विज्ञानके जनकत्वरूप लिङ्गके अभावमें जो मनका अपने कारणमें लय होता है वह लय नहीं होगा। इस कारण भी मन अनित्य है।]

आत्मासे मनका संयोग होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है। उस संयोगमें एककी ही क्रिया होती है अथवा दोनोंकी होती है। जैसे (१) वृक्ष और पक्षीके संयोगमें एक विहंगकी ही क्रिया होती है। (२) दो मेषोंके संयोग-में दोनोंमें क्रिया होती है। उसी प्रकार विभु आत्मामें कदापि क्रिया होना सम्भव नहीं। मोक्षकालमें मनकी भी क्रिया नहीं होती है। इसलिये संयोग-वाला मन ही मोक्षकालमें नहीं है।

[(१) आत्मासे मनका संयोग होनेपर यदि ज्ञान होता है तो सुषुप्तिमें संयोगके अभावमें सुषुप्तिसे उठनेपर जागरणमें उत्पन्न होनेवाला

जो सुख तथा अज्ञानका स्मरणरूप ज्ञान है—"सुखमहमस्वाप्सम् न हि किञ्चिदवेदिषम्"—यह नहीं होगा।

(२) दूसरी बात यह कि आत्माके साथ मनके संयोगसे यदि ज्ञान होता है तब न्यायमतमें मन अणुपरिमाण होनेसे शरीरके एक देशमें ही संयोग होगा, समस्त शरीरव्यापी संयोग नहीं होनेसे कण्टकवेधादिजन्य पीडाका कृत्स्नशरीरावच्छेदनरूप अनुभव नहीं होगा।

(३) सिद्धान्तके समान मनका समस्त शरीरव्यापी संयोग स्वीकार करनेपर पीडानुभव दोषका तो परिहार हो जायगा, किन्तु सुषुप्तिमें सुख एवं अज्ञानका जो सामान्य ज्ञान है वह नहीं होगा।

इसलिये आत्मासे मनका संयोग होनेपर ज्ञान होता है यह कहना अत्यन्त असंगत है। किन्तु आत्माका स्वरूपभूत उत्पत्ति-विनाशरहित ज्ञान नित्य है यही स्वीकार करना युक्तियुक्त है।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० ब्र० १) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० ३। १) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० ३। ९। २७। ७) "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" (बृ० ४। ३। ३०) "प्रज्ञानघनः" "चिदेकरसो ह्यात्मा"—

शुद्धचैतन्यरूपात्मा सर्वसिद्धिविवर्जितः।
नामरूपविहीनात्मा परसंवित्सुखात्मकः॥

भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याऽद्वितीया ब्रह्मसंवित्तिः।
सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी॥ (बह्वृचोपनिषद्)

सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृता भिदा।
सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा॥
महाचिदेकैवेहास्ति महासत्तेति चोच्यते।

इत्यादि श्रुतियोंसे कार्य-कारण, गुण-गुणी, क्रिया-अक्रिया, जाति-व्यक्ति आदि भेदकल्पना अत्यन्त वेदबाह्य है—यह "अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा" इत्यादि सूत्रमें प्रदर्शित किया गया है।]

स्वभावसे जड आत्मामें त्वचा एवं मनके संयोगसे ज्ञान उत्पन्न होता है—यह एकदेशी नैयायिकका मत

कोई एकदेशी नैयायिक त्वचाके साथ मनके संयोगको ही ज्ञानका कारण कहते हैं। आत्माके संयोगको ज्ञानका कारण नहीं कहते। सुषुप्तिमें पुरीतत् नामकी नाडीमें मन प्रवेश करता है। अतः त्वचासे मनका संयोग नहीं होता है। इसलिये ज्ञान नहीं होता है। इस मतमें त्वचासे संयुक्त मन ही ज्ञानद्वारा दुःखका हेतु होनेसे दुःख कहा जाता है। केवल मन दुःखका हेतु नहीं है। मोक्षमें त्वचाका नाश हो जानेसे संयोगके अभावमें ज्ञान नहीं होता है। मोक्षकालमें मन रहता है। किन्तु दुःखहेतु ज्ञानका जनक जो त्वचाके साथ मनका संयोग है उस संयोगका नाश हो जाता है।

[कोई नैयायिक एकदेशी त्वचासे मनके संयोगको ही ज्ञानका कारण कहते हैं। किन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं है।

१. जैसे मनसे आत्माका संयोग ज्ञानका हेतु है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है उसी प्रकार त्वचासे मनके संयोगमें भी प्रमाण नहीं है।

२. प्रमाणसे असिद्ध स्वकपोलकल्पित वस्तु स्वीकार करनेपर तो "मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः। एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः॥" इत्यादि वाक्यार्थ भी मानना होगा। इसलिये त्वचासे मनका संयोग ज्ञानका हेतु नहीं है यही मानना उचित है।

३. सुषुप्तिमें त्वचासे मनके संयोगके अभावमें भी प्रज्ञावान्को बुद्ध्यादिसे अग्राह्य सुख तथा अज्ञानका सामान्यज्ञान होता है। त्वचाका मनसे संयोग ही ज्ञानका हेतु स्वीकार करनेपर यह ज्ञान नहीं होगा। इसलिये त्वक्से मनका संयोग ज्ञानका हेतु नहीं है। किन्तु आत्माका स्वरूप ही ज्ञान है यह श्रुतिसिद्ध अर्थ ही मानना चाहिये।]

(११) इस प्रकार मोक्षदशामें परमात्मासे भिन्न दुःखरहित व्यापक आत्मा जडरूपसे रहता है। ज्ञानगुणसे आत्मा प्रकाशित होता है। जीव-का सभी ज्ञान इन्द्रियजन्य होनेसे अनित्य है। वह इन्द्रियजन्य ज्ञान मोक्षमें

नष्ट हो जाता है। अतः आत्मा प्रकाशरहित जडरूपसे मोक्षमें रहता है यह न्यायका सिद्धान्त है।

[न्यायमतमें 'आत्मा विभु और जड' माना जाता है। किन्तु यह श्रुतिसे विरुद्ध है। "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति।" (बृ० ४। ३। ९। १४) "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।" (बृ० ४। ३। ७) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० ब्र० १) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० ३। १) इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे व्यापक आत्माका चेतनस्वरूप सुना जाता है।]

न्यायमतमें आत्माके अनेकत्व एवं व्यापकत्वका उपपादन

न्यायमतमें पूर्वोक्त रीतिसे सुख-दुःख, बन्ध और मोक्ष आत्माको सम्भव है। अतः आत्मा अनेक तथा सर्वत्र व्यापक है। **समस्त अल्प पदार्थोंके साथ संयोग ही न्यायमतमें व्यापकका लक्षण है।** वे स्वगत-सजातीय-विजातीय भेदशून्यत्व व्यापकका लक्षण नहीं मानते। यद्यपि न्यायमतमें आत्मा निरवयव होनेसे स्वगत भेदशून्य आत्माका लक्षण सम्भव होता है। तथापि सजातीय, विजातीयशून्यत्व सम्भव नहीं होता है। सजातीय द्वितीय आत्मा है। तथा विजातीय घट-पटादिरूप अनात्म-भेद आत्मामें है। इसलिये स्वगत, सजातीय, विजातीय भेदशून्यत्व व्यापक-का लक्षण नहीं मानते। किन्तु सर्व अल्प पदार्थोंसे संयोग ही व्यापकत्वका लक्षण स्वीकार करते हैं।

[(१) सिद्धान्तमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदशून्य व्यापक-का लक्षण है। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" इस छान्दोग्यश्रुतिके अनुसार यह लक्षण है। उक्त मन्त्रमें 'एक' पदसे सजातीय भेदका निषेध है। 'एव' कारसे विजातीयका और 'अद्वितीय' पदसे स्वगत भेदका निषेध किया गया है। इस लक्षणके अनुसार देश-काल-वस्तुकृत परिच्छेदरहित ही व्यापकका लक्षण सिद्ध होता है।

(२) 'एक' पदसे देशकृत अन्तका निषेध है। जैसे जो वस्तु परिच्छिन्न होती है वह नाना (अनेक) होती है और जो व्यापक होती है वह नाना नहीं होती है। किन्तु आकाशके समान एक होती है। आत्मा एक है अतः परिच्छिन्न नहीं है, किन्तु व्यापक है। इसीलिये ही आत्मा देशकृत अन्तसे रहित है। न्यायमतमें तो अनेक और व्यापक मानते हैं। यह मान्यता अद्वैत श्रुति एवं युक्ति और अनुभवसे भी विरुद्ध है।]

यहाँ यदि किसीको यह शङ्का हो कि न्यायमतमें आत्माके समान आकाश, काल और देश भी व्यापक हैं। परमाणु सूक्ष्म और निरवयव है। ऐसे परमाणुके साथ सर्वव्यापक पदार्थोंका संयोग नहीं हो सकता है। परमाणु यदि सावयव हो तब तो उसका किसी देशमें आत्मासे संयोग, देशान्तरमें इतर व्यापक पदार्थोंसे संयोग भी हो सकता है। किन्तु वे परमाणुको सावयव नहीं मानते। परमाणुको निरवयव तथा अतिसूक्ष्म मानते हैं। इसलिये परमाणुके साथ एक ही देशमें सकल व्यापक पदार्थोंका संयोग कहते हैं। वह संयोग नहीं बन सकता है। एक व्यापक पदार्थके संयोगसे निरुद्ध स्थानमें व्यापक पदार्थान्तरसे संयोग सम्भव नहीं। इसलिये नाना पदार्थका व्यापक होना सम्भव नहीं, अतः एक वस्तुको ही व्यापक स्वीकार करना युक्त है। इसके समाधानमें नैयायिक यह कहते हैं कि—

सावयव वस्तुका संयोग ही अन्य वस्तुके संयोगके प्रति विरोधी होता है। (१) जिस देशमें—भूमि-प्रदेशमें हस्तका संयोग होता है उस देशमें पादका संयोग नहीं हो सकता। निरवयव वस्तुका संयोग स्थानका निरोधक नहीं होता। इसलिये वह संयोग अन्य संयोगका विरोधी नहीं है। यह अनुभवसिद्ध भी है। (२) जिस देशमें घटका आकाशसे संयोग है उसी देशमें काल एवं देशका भी संयोग है। यदि घटका कोई देश आकाश, काल तथा दिशासे बाहर हो तो उस देशमें आकाश, काल और दिशाका संयोग नहीं होता। किन्तु समस्त पदार्थोंके सभी देश आकाश, काल, दिशामें ही हैं। इसलिये सब पदार्थोंका सब देशमें दिशा, काल और आकाशादिके साथ संयोग है ही।

इस प्रकार परमाणुमें भी एक ही देशमें अनेक निरवयव व्यापक पदार्थोंका संयोग होना युक्त ही है। इसमें कोई दोष नहीं है। अतः आत्मा नाना है और सर्वत्र व्यापक भी है।

आत्मा व्यापक, अनेक, कर्ता तथा भोक्ता भी है इस न्यायमतका निराकरण

समस्त आत्माका समस्त पदार्थोंसे संयोग है यह न्यायका मत है। अनेक आत्माका अव्यापक परिच्छिन्न समस्त देह, इन्द्रिय, मन और परमाणुओंसे संयोग है यह न्यायमत असंगत है। व्यापक एवं नाना आत्मा स्वीकार करनेपर समस्त शरीरोंसे सब आत्माओंका संयोग स्वीकार करना पड़ेगा। इस स्थितिमें यह शरीर इसी आत्माका है दूसरेका नहीं—इसके निश्चयात्मक प्रमाणके अभावमें एक ही आत्माका समस्त शरीरोंसे सम्बन्ध होने लगेगा। जिस कर्मसे जो शरीर आरम्भ हुआ है वही उस आत्माका है यह व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। क्योंकि जिस शरीरसे जो कर्म किया उस शरीरसे भी सब आत्माओंका सम्बन्ध है। इसलिये कर्मोंका भी सब आत्माओंसे सम्बन्ध है ही। एक आत्मासे ही कर्मका सम्बन्ध नहीं है।

यदि यह कहें कि जिस आत्माका मनसहित जिस शरीरसे सम्बन्ध है वही उसका शरीर है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। शरीरके समान मनसे भी सब आत्माका सम्बन्ध है। अतः इसी मनका इस आत्मासे सम्बन्ध है इसका निश्चायक कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु सब आत्माके सब मनोंके साथ भी सम्बन्ध होते हैं। इसी प्रकार सब इन्द्रियोंके भी सब आत्मासे सम्बन्ध होते हैं।

बाह्य पदार्थमें भी यह मेरा है यह दूसरेका है, यह व्यवहार भी शरीर-निमित्तक ही होता है। उपर्युक्त रीतिसे सब शरीर साधारणतया सब आत्माके हैं, अतः सभी बाह्य पदार्थ सब आत्माके होने चाहिये।

आत्माके मध्यमपरिमाणत्वका निराकरण ३२५

यदि नैयायिक यह कहें कि जिस आत्माको जिस शरीरमें अहंबुद्धि एवं ममबुद्धि होती है वही शरीर उस आत्माका है तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि 'अहं' 'मम' भी एक ही है। अतः सब आत्मामें वह बुद्धि-नहीं होगी। किन्तु एक धर्म एक ही धर्मीके आश्रित होगा। अतः एक ही आत्माके सम्बन्धवाली बुद्धि होगी। यदि यह कहें कि जिस आत्माका जिस शरीरसे सम्बन्ध होता है उसी शरीरके सम्बन्धी मन, इन्द्रिय और बाह्य पदार्थ उस आत्माके सम्बन्धी होंगे; अतः व्यापक एवं नाना आत्मा माननेमें कोई दोष नहीं है।

तो यह कहना भी उचित नहीं होगा 'अहं' यह बुद्धि एक शरीरमें एक ही आत्माको होगी—यह कहना न्यायमतमें युक्त नहीं है। किन्तु सभी आत्माको एक शरीरमें अहंबुद्धि होगी। क्योंकि न्यायमतमें बुद्धि नाम ज्ञानका है। वह ज्ञान आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होता है। मनके साथ संयोग सब आत्माका है। इसलिये मनके संयोगसे यदि एक शरीरमें एक आत्माको अहंबुद्धि होती है तो सब आत्माको एक देहमें अहंबुद्धि होनी चाहिये।

इसपर यदि नैयायिक यह कहें कि यद्यपि मनसे सर्वसाधारण आत्मा-का संयोग है तथापि जिस आत्मामें ज्ञानजनक अदृष्ट है उसी आत्मामें अहंबुद्धि उत्पन्न होगी। तो यह कहना भी संगत नहीं होगा। क्योंकि जो व्यापक और नाना आत्मा स्वीकार करते हैं उनके मतमें एक शरीरस्थ शुभाशुभ कर्मसे तत्तत् शरीरसम्बद्ध सभी आत्मामें अदृष्ट उदय भी अवश्य अंगीकार करना होगा। यह बात पहिले ही कही गयी है। इसलिये व्यापक नाना आत्मा माननेसे एक ही शरीरमें सभी आत्माओंका सुख-दुःख-भोगना अपरिहार्य होगा। किन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता है। इसलिये आत्मा नाना, व्यापक, कर्त्ता और भोक्ता है—यह न्यायका मत समीचीन नहीं है।

अन्तःकरण ही कर्ता-भोक्ता है, वह अन्तःकरण नाना और मध्यम परिमाणवाला है-इस वेदान्त-सिद्धान्तका प्रतिपादन

वेदान्तसिद्धान्तमें अन्तःकरण ही कर्ता और भोक्ता है। वह अन्तः-करण अनेक है तथा वह व्यापक नहीं है, किन्तु शरीरपरिमाणक है। दीपके प्रकाशकी ज्यों अन्तःकरण विशाल शरीरमें विकसित होता है। अल्प शरीर प्राप्त होनेपर संकुचित होता है। यह सिद्धान्त-बिन्दुमें श्रीमधुसूदन स्वामीने प्रतिपादन किया है। जिस अन्तःकरणका जिस शरीरसे सम्बन्ध होता है उस अन्तःकरणका उसी शरीरमें भोग होता है।

अन्तःकरणको व्यापक माननेपर सब अन्तःकरणके सर्वसाधरण शरीर होंगे। भोग भी सबको होगा। अतःकरणको व्यापक न मानें तो यह दोष भी नहीं होगा। अन्तःकरणको अणुपरिमाण माननेसे शरीरके एक अंशमें ही अन्तःकरण कहना होगा। अतः यह भी मानना संगत नहीं होगा। यदि अणुपरिमाण मानें तो एक साथ पाद और मस्तकमें कण्टक-वेध होनेपर दोनों स्थानोंमें अनुभव होनेवाली पीड़ा नहीं होगी। क्योंकि अणुपरिमाण अन्तःकरण एक कालमें एक ही स्थानमें रहेगा। तब जिस स्थानमें अन्तःकरण होगा उसी स्थानमें पीड़ा होगी। एक साथ दोनों स्थानोंमें पीड़ाका अनुभव नहीं होगा। इसलिये अन्तःकरण न अणुपरिमाण है न व्यापक है, किन्तु शरीरपरिमाणक है। इसमें कोई दोष नही है। अणुपरिमाण और व्यापकसे जो विलक्षण है उसको मध्यमपरिमाणक कहते हैं।

आत्माके मध्यमपरिमाणत्ववादीके मतका निराकरण

आत्माको मध्यमपरिमाणवाला माननेवाले कोई नवीन न्यायवादी यह कहते हैं कि (१) आत्मा नाना, कर्ता, भोक्ता तो है, किन्तु व्यापक नहीं

है। अतः भोगका सांकर्य नहीं होगा। (२) और अणु भी आत्मा नहीं है। अतः दोनों स्थानोंमें कण्टकवेधजन्य पीड़ाके अनुभवका असम्भवरूप दोष नहीं होगा। किन्तु जैसा वेदान्तीके मतमें अन्तःकरण मध्यमपरिमाणक है वैसे ही आत्मा भी मध्यमपरिमाणक है। उस आत्मामें चतुर्दश गुण होते हैं।

यह मत भी संगत नहीं है। (१) आत्माको संकोच-विकासशाली स्वीकार करनेपर दीपप्रभाके समान ही आत्मा भी विकारी एवं विनाशी होगा। इससे मोक्षप्रतिपादक शास्त्र तथा मोक्षका साधन व्यर्थ हो जायगा। (२) यदि आत्माको मध्यमपरिमाणक मानकर संकोच-विकास स्वीकार नहीं करें तो आत्मा किस शरीरके समान परिमाणवाला होगा इसका निश्चायक प्रमाण भी नहीं है। (३) यदि आत्माका मनुष्य शरीर परिमाण मानें तो जब हस्तिका शरीर प्राप्त करेगा तब समस्त शरीरमें व्याप्त नहीं होगा। इससे हस्तिके जिस अंशमें आत्मा नहीं होगा उस अंशमें पीड़ाका अनुभव नहीं होगा (४) यदि हस्तिके शरीरका परिमाण आत्माका मानें तो जब हस्तिके शरीरसे बृहत्काय प्राप्त होगा तब उस शरीरमें सम्पूर्ण देशमें नहीं होनेके कारण जिस देशमें आत्मा नहीं होगा उस अंशमें पीड़ा नहीं होगी। सब शरीरकी अपेक्षा बृहत् किसीका है नहीं। (५) यदि कहें कि सर्व शरीरकी अपेक्षा विराट् शरीर बृहत् है। उसके समान यदि आत्मा स्वीकार करें तो विराट् शरीर सर्व शरीरके अन्तर्भूत होनेसे सब आत्माका सब शरीरसे सम्बन्ध सिद्ध होगा। यह पूर्वोक्त दोष खड़ा ही रह जायगा।

और भी बात है कि जो वस्तु मध्यमपरिमाणवाली होती है वह शरीरके समान अनित्य होगी यह नियम है। अतः आत्मा भी मध्यमपरिमाण होनेसे अनित्य होगा। वेदान्तसिद्धान्तमें तो अन्तःकरण ज्ञान होनेसे नष्ट होता है। इसलिये अन्तःकरण अनित्य है। अन्तःकरणका मध्यमपरिमाणत्व माननेमें कोई दोष नहीं होता। इस प्रकार नवीन तार्किकका मत भी असंगत ही है।

आत्माके अणुपरिमाणत्ववादीके मतका निराकरण

अन्य कोई नैयायिक यह कहते हैं कि आत्मा अनेक एवं अणुपरिमाणवाला है। उनका कहना भी युक्त नहीं है। (१) आत्माको कर्ता-भोक्ता मानने और अन्तःकरणको अणु स्वीकार करनेमें जो दोष कहा गया है वह दोष यहाँ उपस्थित होगा। (२) आत्माको कर्ता-भोक्ता न स्वीकार करना और उसका नानात्व मानना व्यर्थ ही होगा। व्यापक एक आत्माको सर्व शरीरवर्ती मानना ही श्रेयस्कर है।

आत्माका कर्तृत्व-भोक्तृत्व न स्वीकार करनेपर नैयायिकका अपना सिद्धान्त भी छूट जायगा। ज्ञान, सुख-दुःख, धर्माधर्मादि आत्माके धर्म हैं यह अणुवादीका सिद्धान्त है। इसलिये आत्माको अणु माननेसे शरीरके जिस देशमें आत्मा नहीं रहेगा, वह देश मृतकके समान होगा। उसमें पीड़ा भी नहीं होगी।

आत्माके विषयमें अणुवादीका आक्षेप तथा उसका समाधान, आत्माको अणु बतलानेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य

यदि अणुवादी यह कहें कि यद्यपि आत्मा अणु है शरीरके एक देशमें है, तथापि कस्तूरीकी गन्धकी भाँति आत्माका ज्ञान समस्त शरीरमें व्याप्त होता है। इससे समस्त शरीरमें अनुकूल एवं प्रतिकूल (सुख-दुःख) का सम्बन्ध होता है।

किन्तु यह कहना भी अनुचित है; क्योंकि गुणी द्रव्य होता है उसी (द्रव्य) में गुण रहता है। इसी प्रकार आत्माका ज्ञान भी आत्मासे भिन्न देशमें नहीं रहेगा। कस्तूरीका सूक्ष्म अंश जिस भागमें होता है उसी देशमें उसकी गन्ध व्याप्त होती है। अतः यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। इसलिये आत्मा अणु है यह कहना युक्त नहीं है।

श्रुतिमें कहीं-कहीं जो आत्माको अणुसे भी अणु कहा गया है वह तो आत्माके दुर्विज्ञेयत्वके अभिप्रायसे कहा गया है। जैसे अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुका ज्ञान मन्द दृष्टिवाले व्यक्तिको नहीं होता है। उसी प्रकार बहिर्मुख पुरुषको

आत्माका ज्ञान नहीं होता है। इसलिये आत्माको अणु कहा गया है, यही श्रुतिका तात्पर्य है। 'अणुपरिमाण' कहनेमें तात्पर्य नहीं है। **"अणोरणीयान् महतो महीयान्"** (क० १।२।२०; श्वे० ३।२०) **"ज्यायानाकाशात्" "महान्तं विभुमात्मानम्"** (क० १।२।२०) **"स एषोऽनन्तोऽपर्यन्तः।"** इत्यादिसे बहुत स्थलोंमें श्रुति ही आत्माको व्यापक प्रतिपादन करती है। अतः आत्मा अणुपरिमाण नहीं है।

इस प्रकार 'आत्मा व्यापक तथा अनेक है' अथवा 'आत्मा मध्यम-परिमाण एवं नाना है' या 'आत्मा अणुपरिमाण और नाना है' इत्यादि उक्तियाँ अत्यन्त असंगत हैं।

सिद्धान्त-प्रदर्शन

आत्मा एक और व्यापक है; सुखादि अन्तःकरणके धर्म हैं और अन्तःकरणविशिष्ट आत्मामें कल्पित हैं

पारिशेष्य होनेसे आत्मा एक एवं व्यापक है। [बहुत अर्थोंकी प्राप्तिमें अन्य सबका निषेध होनेपर जो अवशेष रह जाय, तद्विषयक निश्चयको पारिशेष्य कहते हैं—"प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसंगात् शिष्यमाणे संप्रत्ययः।"] आत्मामें धर्माधर्म, सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि माननेपर किसीको सुख, किसीको दुःख, किसीको बन्ध और किसीको मोक्ष—यह व्यवहार सिद्ध नहीं होगा। अतः धर्माधर्मादि बुद्धिके धर्म हैं—यही मानना चाहिये।

गुहाधिकरणमें भाष्यकारके वचनानुसार यह कथन है कि "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्। अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति, इति अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः।" ये दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं। सत्त्व शब्दका अर्थ यहाँ जीव है। क्षेत्रज्ञ शब्दका अर्थ परमात्मा है। यह कहना ठीक नहीं है। सत्त्व एवं क्षेत्रज्ञका अर्थ अन्तःकरण और जीवमें प्रसिद्ध है। इसकी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि यह सत्त्व है जिससे स्वप्न देखता है। और

जो यह शारीर (जीव) उपद्रष्टा है वह क्षेत्रज्ञ है। ये दोनों ही यहाँ सत्त्व-क्षेत्रज्ञ हैं। उपर्युक्त श्रुति अचेतन सत्त्वको भोक्ता कहनेमें प्रवृत्त नहीं है। तो क्या कहती है? चेतन क्षेत्रज्ञको अभोक्ता और ब्रह्मस्वभाव कहूँगी—इस उद्देशसे सुखादि विक्रियायुक्त सत्त्वमें भोक्तृत्वका आरोप करती है। यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व सत्त्व और क्षेत्रज्ञके इतरेतर स्वभावके अविवेकसे कल्पित है। यथार्थमें तो सत्त्व-क्षेत्रज्ञ दोनोंमेंसे किसी एकमें भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्भव नहीं है। क्योंकि सत्त्व अचेतन है और क्षेत्रज्ञ चेतन अविक्रिय है। अविद्यासे प्रत्युपस्थापितस्वभाव होनेसे सत्त्वमें तो किसी प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्भव ही नहीं होता। इसमें श्रुतिप्रमाण भी है। **"यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्"** (बृ० ४।३।३१) इत्यादिसे स्वप्नदृष्ट हस्त्यादि व्यवहारवत् अविद्याके विषयमें ही कर्तृत्वादि व्यवहार दिखलाती है। **"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्"** (बृ० ४।५।१५) इत्यादिसे विवेकीको कर्तृत्वादि समस्त व्यवहारका अभाव ही श्रुति दिखलाती है। (ब्र० सू० १।२।१२ का भाष्य)।

बुद्धि एवं सुख-दुःखादि आत्मामें अध्यस्त हैं। (१) जो वस्तु जिसमें अध्यस्त होती है वह उसमें परमार्थतः नहीं है। जैसे रज्जुमें अध्यस्त सर्पादि परमार्थतः रज्जुमें नहीं है। उसी प्रकार आत्मामें अध्यस्त बुद्धि, सुख-दुःखादि यथार्थमें नहीं हैं। (२) अध्यस्त वस्तु किसीकी आश्रय नहीं होती है। इसीलिये बुद्धि भी सुख-दुःखकी आश्रय नहीं है। परन्तु (१) अज्ञान शुद्ध चैतन्यमें अध्यस्त है। (२) अज्ञानोपहित चैतन्यमें अन्तःकरण अध्यस्त है। (३) अन्तःकरणोपहित चैतन्यमें धर्माधर्म, सुख-दुःख और बन्ध-मोक्ष अध्यस्त हैं। इस प्रकार अन्तःकरण आत्माकी उपाधि होनेसे अन्तःकरणमें अध्यस्त धर्माधर्मादिका अधिष्ठानत्व आत्मामें बन जाता है तथा धर्माधर्मादि अन्तःकरणके धर्म कहे जाते हैं।

अन्तःकरणविशिष्ट आत्मामें धर्माधर्मादि अध्यस्त नहीं हैं

यदि यह कहें कि धर्माधर्मादि अन्तःकरणविशिष्ट आत्मामें अध्यस्त हैं तो यह नहीं कह सकते हैं। क्योंकि विशेषणसहितका नाम विशिष्ट है।

धर्मादि अध्यासका अधिष्ठान जो आत्मा है उसका अन्तःकरण विशेषण मानें तो अन्तःकरण भी धर्मादिका अधिष्ठान होगा। किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि मिथ्या वस्तु किसीका अधिष्ठान नहीं होती। अतः आत्मामें धर्माधर्मादि अध्यासके प्रति अन्तःकरण विशेषण नहीं होता है, किन्तु उपाधि होता है। उपाधिका यह स्वभाव होता है कि जो उपाधि है वह स्वयं तटस्थ रहकर जितने देशमें वह है उतने देशमें स्थित वस्तुका बोध कराती है। और विशेषणका यह स्वभाव होता है कि जो विशेषण जिस देशमें स्वयं है उस देशमें स्थित होकर अपने साथ ही उस वस्तुका बोध कराता है। अतः विशेषणवान्‌को विशिष्ट कहते हैं और उपाधिमान्‌को उपहित कहते हैं।

इस प्रकार अन्तःकरणविशिष्टमें स्थित धर्मादिको यदि अध्यस्त मानें तो जिसमें देशमें अन्तःकरण है उतने देशमें स्थित चैतन्यभाग और अन्तःकरण ये दोनों ही अधिष्ठान होंगे। इनमें अन्तःकरण स्वयं अध्यस्त है। अध्यस्त होनेसे अधिष्ठान नहीं हो सकता। इस अभिप्रायसे अन्तःकरणोपहितमें धर्मादि अध्यस्त हैं—यह कहा जाता है। इससे जिस देशमें अन्तःकरण है तद्देशस्थित चैतन्यभागमात्र ही अधिष्ठान है, अन्तःकरण अधिष्ठान नहीं है—यह कहना युक्त ही है।

इसी प्रकार अज्ञानोपहित चैतन्यमें ही अन्तःकरण भी अध्यस्त है, अज्ञानविशिष्टमें नहीं। इसलिये अध्यस्त धर्मादिका अधिष्ठान आत्मा ही है।

(१) अध्यासके अधिष्ठानके प्रति अन्तःकरण उपाधि होती है। इसी कारण सुख-दुःखादि बुद्धिके धर्म कहे जाते हैं। (२) अविवेकसे अन्तःकरण और आत्मा दोनोंके धर्म प्रतीत होते हैं। अतः अन्तःकरणविशिष्ट प्रमाताके धर्म कहे जाते हैं। (१) इसमें धर्मादि अन्तःकरणके धर्म होते हैं। (२) अथवा अन्तःकरणविशिष्ट प्रमाताके धर्म होते हैं। (३) अथवा रज्जु-सर्पवत्, स्वप्न-पदार्थवत्, गन्धर्व-नगरवत्, नमकी

नीलिमाके समान किसीके भी धर्म नहीं होते हैं। आत्माके धर्म तो सर्वथा नहीं ही होते हैं।

यद्यपि आत्मामें वे सब अध्यस्त हैं तथापि जो वस्तु जिसमें अध्यस्त होती है वह वस्तु उसमें परमार्थतः नहीं होती है। इसलिये राग-द्वेष, धर्मा-धर्म, सुख-दुःख और बन्ध-मोक्षसे रहित एक एवं व्यापक आत्मा है। अध्यस्तका अर्थ कल्पित है।

आत्माके सद्रूपका वर्णन

आत्मा सद्रूप है। जो वस्तु ज्ञानसे बाधित होती है वह वस्तु असत् कही जाती है। और जिसका बाध त्रिकालमें भी नहीं होता वह सत् कहलाती है। समस्त पदार्थोंका एवं उनकी निवृत्तिका अधिष्ठान आत्मा है। यदि आत्माकी भी निवृत्ति स्वीकार करें तो उसका भी कोई अन्य अधिष्ठान कहना होगा। शून्यमें निवृत्ति सम्भव नहीं होती। आत्मा और उसकी निवृत्तिका अधिष्ठानान्तर मानें तो उसका भी कोई अन्य अधिष्ठान स्वीकार करना होगा। इस स्थितिमें अनवस्थादोष होगा।

दूसरी बात यह कि आत्माकी निवृत्ति माननेवालेको पूछना चाहिये कि कोई आत्माकी निवृत्ति अनुभव करता है क्या ? (१) यदि कहें कि आत्माकी निवृत्ति होती है तो यह कहना सर्वथा असंगत है। क्योंकि जो निवृत्तिका अनुभव करता है वही तो आत्मा है। वही अपना स्वरूप है। उसकी निवृत्तिका अनुभव करना मानो अपने मस्तक-छेदनका अपने ही अनुभव करनेके तुल्य है। अतः आत्माकी निवृत्तिका अनुभव असंगत है। (२) यदि यह कहें कि आत्माकी निवृत्ति तो होती है, किन्तु किसीको अनुभूत नहीं होती। तब तो यही मानना चाहिये कि आत्माकी निवृत्ति नहीं होती है। जो वस्तु किसीसे अनुभूत नहीं होती वह वस्तु वन्ध्यापुत्रके समान असत् होती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आत्माकी निवृत्ति नहीं होती है। अतः आत्मा सद्रूप है।

आत्माकी चिद्रूपताका वर्णन

आत्मा सर्वार्थप्रकाशक है

आत्मा चिद्रूप है। प्रकाशस्वरूप ज्ञानको ही चित् कहते हैं। [अलुप्त-प्रकाश ही चित् है। चैतन्यको ही ज्ञान कहते हैं इस ज्ञानका कभी लोप (नाश) नहीं होता है। **"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्"** (बृ० ४। ३। २३)] (१) आत्माको अप्रकाशरूप माननेपर अनात्म जड वस्तुका कभी प्रकाश नहीं होगा। (२) अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंसे पदार्थोंका प्रकाश होता है यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि (१) जो वस्तु परिच्छिन्न होती है वह घटादिवत् कार्य है। अन्तःकरण और इन्द्रियाँ परिच्छिन्न होनेसे कार्य हैं। (२) जिसका देश एवं कालसे अन्त होता है उसका नाम परिच्छिन्न है। (३) जो कार्य होता है वह जड है।

अन्तःकरण और इन्द्रियाँ जड हैं। इनसे कभी वस्तुका प्रकाश नहीं हो सकता है। अतः आत्मा ही वस्तुओंका प्रकाशक है। इसलिये आत्मा चित्—प्रकाशस्वरूप है।

आत्मा प्रकाशरूप नहीं है—यह आक्षेप तथा इसका समाधान

यदि कोई यह कहे कि आत्मा प्रकाशरूप नहीं है, किन्तु जड है। आत्मामें ज्ञान गुण है। उसी ज्ञानरूप गुणसे आत्मा एवं अनात्माका प्रकाश होता है। उसे हम यह पूछते हैं कि 'आत्मामें जो ज्ञान गुण मानते हो वह ज्ञानरूप गुण नित्य है अथवा अनित्य ?'

(१) यदि ज्ञानको नित्य कहें तब तो आत्माका स्वरूप ही ज्ञान हुआ; क्योंकि आत्मासे अन्य सब कुछ अनित्य है यह नियम है—**"अतोऽन्यदार्तम्"** (बृ० ३। ७। २५) **"न तु तद्द्वितीयमस्ति"** (बृ० ४। ३। २३। ३०) इत्यादि श्रुति प्रमाण है। यदि ज्ञान आत्मासे भिन्न है यह अङ्गीकार करें, तब ज्ञान अनित्य ही होगा। अतः ज्ञानको नित्य कहना और आत्मासे भिन्न भी कहना युक्त नहीं है।

(२) यदि ज्ञानको अनित्य कहें तब घटादिवत् ज्ञान जड होगा। जो वस्तु अनित्य होती है वह जड होती है। अतः ज्ञान अनित्य है यह कहना भी असंगत ही है। इसलिये ज्ञान नित्य ही है। और यह ज्ञान नित्य होनेसे आत्माका स्वरूप है। अनित्य माननेपर कभी ज्ञान आत्मामें होगा और कभी नहीं भी होगा। इससे आत्मासे भिन्न भी ज्ञान सिद्ध होगा। नित्य माननेपर आत्मासे भिन्न ज्ञान नहीं होता।

गुण गुणीमें कभी रहता है कभी नहीं भी रहता है। जैसे वस्त्रका नील-पीतादि गुण कभी है कभी नहीं है। अतः गुण आगमापायी होता है। ज्ञान नित्य होनेसे आगमापायी नहीं होता है। अतः आत्माका स्वरूप ही ज्ञान है।

अन्तःकरणादिसे अजन्य ज्ञान अनित्य नहीं है

ज्ञानको अनित्य माननेपर इन्द्रियों अथवा अन्तःकरणसे उत्पन्न होता है, यह कहना चाहिये। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि सुषुप्तिमें इन्द्रियादि नहीं हैं। किन्तु सुखरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। वह नहीं होना चाहिये। सुषुप्तिमें सुखका ज्ञान होना न मानें तो जागनेपर "अहं सुखमस्वाप्सम्" इस सुषुप्ति-सुखका स्मरण नहीं होगा। जो वस्तु पूर्व अनुभूत होती है उसीका स्मरण होता है। अननुभूत वस्तुका स्मरण नहीं होता है। जागनेपर सुषुप्तिके सुखका स्मरण होता है, इससे जाना जाता है कि सुषुप्तिमें सुखका अनुभव होता है। इस ज्ञानके उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियादि सुषुप्तिमें नहीं हैं। इसलिये ज्ञान नित्य है यह सिद्ध हो जाता है।

ज्ञानके विना आत्मा कभी नहीं होता। अतः ज्ञान आत्माका स्वरूप ही है। जैसे उष्णताके विना कभी अग्नि नहीं रहता, अतः उष्णता अग्निका स्वरूप है। उसी प्रकार ज्ञान भी आत्माका स्वरूप ही है। गुण आगमापायी होता है। अतः उष्णता और ज्ञान आगमापायसे रहित हैं। इसलिये अग्निका स्वरूप औष्ण्य और आत्माका स्वरूप ज्ञान है। जो वस्तु कभी होती है कभी नहीं होती, उसका नाम आगमापायी है।

अन्तःकरणवृत्ति उत्पत्ति-विनाशशील है, ज्ञान नहीं

अन्तःकरणकी वृत्तियोंके उत्पत्ति-विनाश होते हैं, ज्ञानके उत्पत्ति-विनाश नहीं होते हैं। (१) आत्मस्वरूपभूत ज्ञानसे विशेष व्यवहार नहीं होता है, किन्तु ज्ञानसहित वृत्ति अथवा वृत्त्यारूढ ज्ञान व्यवहारका कारण होता है। यह अवच्छेदवादकी शैली है। (२) आभासवादमें आभाससहित वृत्तिसे व्यवहार होता है। अथवा आभासद्वारा या साक्षात् वृत्तिद्वारा अथवा आत्मस्वरूप ज्ञानसे ही सब व्यवहार सिद्ध होता है। ज्ञानके विना कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार सबका प्रकाशक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है। अतः आत्मा चिद्रूप है।

आत्मा आनन्दस्वरूप है

आत्मा ही आनन्दस्वरूप है, विषयमें आनन्द नहीं

आत्मा आनन्दस्वरूप है। आत्मा यदि आनन्दरूप न हो तो विषय-सम्बन्धसे स्वरूपानन्दका भान नहीं होगा। विषयमें आनन्द नहीं है यह तो चतुर्थ अंशमें कहा जा चुका है।

विषयमें यदि आनन्द होता तो जिस विषयमें किसीको सुख होता है उसी विषयमें किसीको दुःख होता है वह नहीं होना चाहिये। जैसे अग्निके स्पर्शसे अग्निकीट (कीटविशेष) को, सर्पके दर्शनसे सर्पिणीको, सिंहके दर्शनसे सिंहिनीको आनन्द होता है, अन्य पुरुषको इनसे दुःख होता है। यदि विषयमें आनन्द होता तो यह भेद नहीं होता। सिद्धान्तमें तो अग्निकीटको अग्नि-स्पर्शकी इच्छा होती है। तब उसको अत्यन्त चञ्चल बुद्धिमें स्वरूपानन्द भान नहीं होता है। जब अग्निका सम्बन्ध होता है, उस कालमें क्षणमात्रके लिये इच्छानिवृत्ति होनेपर निश्चल बुद्धिमें स्वरूपानन्दका भान होता है। अन्य पुरुषको अग्नि-स्पर्शकी इच्छा नहीं होती, किन्तु अन्य पदार्थकी इच्छा होती है। वह पदार्थान्तरकी इच्छा अग्निके स्पर्शसे निवृत्त नहीं होती, अतः चञ्चल अन्तःकरणमें अग्नि-स्पर्शसे आनन्द नहीं होता है।

इच्छा निवृत्त होनेसे स्वरूपानन्दभानका प्रकार-निरूपण तथा इसपर शङ्का-समाधान

अन्तःकरणकी इच्छारूप वृत्ति विषयके प्राप्त होनेसे निवृत्त (विनष्ट) हो जाती है। वृत्तिके अभाव-क्षणमें अन्य वृत्ति कोई है नहीं। वृत्तिके अभावमें स्वरूपानन्दका भान नहीं होना चाहिये। अतः विषयमें ही आनन्द है। यह शङ्का है।

किन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है—(१) इच्छारूप अन्तःकरणकी वृत्ति नहीं है, यह बात तो ठीक है। किन्तु इच्छारूप वृत्ति रहनेपर भी उस वृत्तिमें स्वरूपानन्दकी प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि वृत्ति राजसी है। स्वरूपानन्दका प्रकाश तो सात्त्विक वृत्तिमें ही होता है। इच्छा वृत्ति नहीं है। तथापि वाञ्छित पदार्थलाभ होनेपर उस पदार्थरूप विषयको विषय करनेवाली सात्त्विकज्ञानरूप वृत्ति है। ज्ञानरूपा वृत्ति सात्त्विक होती है। क्योंकि सत्त्वसे ही ज्ञान होता है "सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्"। सत्त्वगुणसे ही ज्ञान होता है यह नियम है। उसी सात्त्विक वृत्तिमें स्वरूपानन्द होता है। यदि वही ज्ञानरूपा वृत्ति बहिर्मुख हो जाती है तो उसके पृष्ठभागमें स्थित अन्तःकरणोपहित चैतन्यस्वरूपानन्दका ग्रहण उस वृत्तिसे नहीं होता है। अतः विषयको विषय करनेवाली वृत्तिमें विषयोपहित चैतन्यस्वरूपानन्दका भान होता है। वह विषयोपहित चैतन्य आत्मासे भिन्न नहीं है। इसलिये आत्मानन्द ही विषयमें भान होता है, यह कहते हैं। उस ज्ञानरूप वृत्तिकी उत्पत्तिमें विषयसहित नेत्रादिका सम्बन्ध कारण है।

(२) अथवा विषयज्ञानरूप बहिर्मुख वृत्तिसे अन्य कोई अन्तर्मुख वृत्ति उत्पन्न होती है। उसी वृत्तिमें अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप आनन्द भान होता है। यही उत्तम सिद्धान्त है। इस प्रकारकी वृत्ति उत्पन्न होनेमें इच्छादिका अभाव ही कारण है। इच्छारहित, एकान्तमें स्थित, उदासीन पुरुषको बहिर्मुख ज्ञानरूप कोई भी वृत्ति उत्पन्न नहीं होती और आनन्दका भान उसको होता है। अतः इच्छादिके अभावके कारण उत्पन्न होनेवाली

अन्तर्मुख वृत्तिमें आनन्द होता है यह सिद्ध हो जाता है। इसलिये वाञ्छित पदार्थकी प्राप्ति होनेके पश्चात् इच्छादि वृत्ति न रहनेपर भी विषयज्ञानके अनन्तर अन्तर्मुख वृत्ति उत्पन्न होती है। उसी वृत्तिसे अन्तःकरणोपहित आनन्दका अनुभव होता है।

[इसी एकाग्र सात्त्विक वृत्तिको प्रिय, मोद, प्रमोद वृत्ति कहते हैं।]

इस प्रकार इस वृत्तिमें स्वरूपानन्दका ग्रहण और विषयज्ञान अत्यन्त अव्यवहित कालमें ही उत्पन्न होता है। इसलिये "अहं विषये आनन्द-मन्वभवम्" "मैं विषयमें आनन्द अनुभव करता हूँ" यह भ्रान्ति पुरुषको हो जाती है। प्रथम पक्षकी अपेक्षा यह पक्ष उत्तम है। विषयज्ञानरूप वृत्तिसे अन्तःकरणोपहित आनन्दका प्रकाश होना युक्त नहीं है। विषयरूप वृत्तिसे विषयोपहित आनन्द यदि हो तब तो मार्गस्थ वृक्षादिकोंके ज्ञानरूप वृत्तिसे भी, उसके सात्त्विक होनेसे, वृक्षोपहित चैतन्यस्वरूपानन्दका भान होना चाहिये। उसी प्रकार सभी ज्ञानसे ज्ञानोपहित चैतन्यस्वरूपानन्दका भान होने लगेगा। इसलिये अनात्मरूप वस्तुके ज्ञानरूप बहिर्मुख वृत्तिसे ज्ञेयोपहित चैतन्यस्वरूपके आनन्दका ग्रहण नहीं होता है।

इस रीतिसे विषयके सम्बन्धसे आत्मस्वरूप आनन्दका भान होता है। आत्मा यदि आनन्दस्वरूप न हो तो विषयके सम्बन्धसे आनन्दका अनुभव नहीं होता। अतः आत्मा आनन्दस्वरूप है।

सर्वापेक्षा अतिशय प्रेमका आस्पद होनेसे आत्मा आनन्दस्वरूप है

आत्म-सम्बन्धी (ममताके आस्पद) स्त्री-पुत्रादि वस्तुओंमें प्रीति होती है। इनमें भी सन्निहित—समीपस्थ वस्तुओंमें अधिक प्रेम होता है। बाह्य-बाह्यतरकी अपेक्षा आन्तर-आन्तर वस्तुमें अधिक प्रीति होती है। (१) परम्परासे आत्माके सम्बन्धी पुत्रके मित्रमें प्रेम होता है। (२) पुत्रके मित्रकी अपेक्षा पुत्रमें अधिक प्रेम होता है। (३) पुत्रकी अपेक्षा स्थूल शरीरमें, स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीरमें अधिक प्रेम होता है।

(४) पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर आत्माके समीपकी वस्तुमें अधिकाधिक प्रेम होता है।

उसमें (१) आत्माका आभास सूक्ष्म शरीरमें होता है। अतः आभासद्वारा आत्माका सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध है। (२) स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध है। अतः स्थूल शरीरसे सूक्ष्मशरीरद्वारा आत्माका सम्बन्ध है। (३) पुत्रसे स्थूल शरीरद्वारा सम्बन्ध है। (४) पुत्रके मित्रसे पुत्रके द्वारा सम्बन्ध है। इस रीतिसे उत्तरोत्तर जो आत्माके समीपके सम्बन्धी हैं उनमें अधिक प्रेम होता है।

जिस आत्माके सम्बन्धसे अन्य पदार्थोंमें प्रेम होता है, उस आत्मामें ही मुख्य प्रेम है। अन्यमें प्रेम नहीं है। क्योंकि पुत्रके सम्बन्धसे पुत्रके मित्रमें प्रेम है, अतः वह पुत्रमें ही प्रेम है पुत्रके मित्रमें नहीं है। इसी प्रकार आत्माके अत्यन्त समीपवर्तीमें ही अधिक प्रेम होनेसे सबको आत्मामें ही मुख्य प्रेम है यह सिद्ध हो जाता है।

वह प्रेम आनन्द—सुखमें और दुःखाभावमें ही उत्पन्न होता है, अन्यत्र—दुःखमें प्रेम नहीं होता। आत्मासे अन्य पदार्थमें जो प्रेम होता है वह आनन्दके उद्देश्यसे ही होता है। अथवा दुःख-निवृत्तिके उद्देश्यसे होता है। अतः आनन्दमें ही प्रेम होता है। इसलिये सर्वप्रीतिका विषय आनन्दरूप आत्मा ही है।

दुःखाभाव भी आत्मस्वरूप ही है। कल्पित वस्तुका अभाव अधिष्ठानरूप ही होता है। "अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः"—यह वचन भी है। जैसे सर्पका अभाव रज्जुरूप ही है, उसी प्रकार कल्पित दुःखका अभाव भी आत्मस्वरूप ही है। इस रीतिसे आत्मा आनन्दरूप सिद्ध हो जाता है।

न्यायमतमें आनन्द आत्माका गुण है यह कथन असंगत है

न्यायमतमें आनन्दको आत्माका गुण कहते हैं—यह कहना असंगत है। (१) आनन्द गुण यदि नित्य है तब तो उसका आगमापायित्व कहना

नहीं बनता है। इसलिये आत्माका स्वरूप ही आनन्द है यह सिद्ध हो जाता है। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।" (तै० भृ० ६) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० ३।९।२७।७)। न्यायमतमें आनन्द-को नित्य नहीं मानते। (२) आनन्द यदि अनित्य है, तब अनुकूल विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे आनन्द उत्पन्न होता है यह स्वीकार करना पड़ेगा। इससे सुषुप्तिमें आनन्दका भान नहीं होना चाहिये। क्योंकि सुषुप्तिमें विषय एवं इन्द्रियोंका सम्बन्ध नहीं है। अतः आनन्द आत्माका गुण नहीं है। किन्तु आत्मा ही आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है यह सिद्ध हो गया।

सत्, चित् और आनन्दका ऐक्य तथा ब्रह्म एवं आत्माका ऐक्य-वर्णन

सत्, चित् एवं आनन्द परस्पर अभिन्न एकरूप ही हैं। यदि इनको आत्माके गुण मानें तो परस्पर भिन्न भी होंगे। सत्, चित् तथा आनन्द— ये सब आत्मस्वरूप होनेसे भिन्न नहीं हैं। एक ही आत्मा निवृत्ति (नाश) रहित होनेसे 'सत्' कहा जाता है। जडसे विलक्षण प्रकाशरूप होनेसे 'चित्' कहलाता है। दुःखसे विलक्षण मुख्य प्रीतिका आस्पद होनेसे 'आनन्द' कहलाता है। जैसे उष्ण एवं प्रकाशरूप अग्नि होता है, उसी प्रकार सच्चिदा-नन्दस्वरूप आत्मा है। सच्चिदानन्दस्वरूपको ही शास्त्रोंमें 'ब्रह्म' कहा गया है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" (तै० ब्र० १) "प्रज्ञानं ब्रह्म।" (ऐ० ३।१) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।" (बृ० ३।९।२७।७) "सच्चिदानन्दतेजः कूटस्थं ब्रह्म।" "सत्यज्ञानानन्तानन्दपरिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।" इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं। इसलिये आत्मा ब्रह्मस्वरूप ही है। "ब्रह्म" व्यापकका नाम है। "बृह बृहि वृद्धौ" इस धातुसे ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है। जो निरतिशय व्यापक है वह 'ब्रह्म' शब्दसे कहा गया है। (१) जिसका देशकृत अन्त नहीं है, वह व्यापक कहा जाता है। अतः आत्मा यदि ब्रह्मसे भिन्न हो तो देशकृत

अन्तवान् हो जायगा। जिसका देशकृत अन्त है उसका कालकृत अन्त भी है यह नियम है। इसलिये ऐसी वस्तु अनित्य होती है। अतः आत्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।

ब्रह्म यदि आत्मासे भिन्न हो तो वह अनात्मा होगा। अनात्मभूत घटादि वस्तु जड होती है। इसलिये ब्रह्म आत्मासे भिन्न नहीं है। ब्रह्म-स्वरूप ही आत्मा है।

उपाधिभेदके विना आत्मा और ब्रह्ममें भेद नहीं

(१) एक ही चैतन्य समस्त प्रपञ्च और मायाका अधिष्ठान है। इसलिये उसे ब्रह्म कहते हैं। (२) वही चैतन्य अविद्या और व्यष्टि देहोंका भी अधिष्ठान है, अतः आत्मा कहते हैं। (१) तत्पदके लक्ष्यको ब्रह्म कहते हैं। (२) त्वंपदके लक्ष्यको आत्मा कहते हैं। (१) ईश्वरसाक्षी तत्पदका लक्ष्य होता है। (२) जीवसाक्षी त्वंपदका लक्ष्य है। व्यष्टि सङ्घातोपहित चैतन्य जीवसाक्षी है। समष्टि सङ्घातोपहित चैतन्य ईश्वरसाक्षी है। यद्यपि जीव और ईश्वरका एकत्व नहीं होता है, तथापि जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षीका उपाधिभेदसे भेद है, स्वरूपसे एकत्व है। जैसे मठमें स्थित घटाकाश और मठाकाशमें उपाधिसे भेद है, स्वरूपसे तो अभेद ही है। उसी प्रकार आत्मा एवं ब्रह्ममें उपाधिभेदसे भेद है, वास्तवमें अभेद ही है। आत्मा और ब्रह्म एक ही वस्तु है।

ब्रह्मस्वरूप आत्माके जन्मरहितत्वका प्रतिपादन

आत्माका जन्म नहीं होता

ब्रह्मस्वरूप यह आत्मा जन्मरहित है। आत्माका जन्म स्वीकार करने-पर वह आत्मा अनित्य हो जायगा। परलोकवादीको यह इष्ट-मान्य नहीं है। यदि आत्माको उत्पत्ति-विनाशवान् कहें तब प्रथम जन्ममें पूर्व कर्मके विना सुख-दुःखका भोग मानना पड़ेगा और भोगके विना किये हुए कर्मों-का नाश भी मानना पड़ेगा। इसलिये कर्तृत्व-भोक्तृत्व अङ्गीकार करनेपर भी आत्माको जन्म-मरणसे रहित ही मानना होगा।

दूसरी बात यह कि आत्माका जन्म स्वीकार करनेपर जन्मका कारण भी कहना चाहिये। कारणके विना किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। आत्माके जन्ममें भी कोई कारण कहना चाहिये। किन्तु कोई कारण नहीं है। क्योंकि जो आत्माका कारण होगा, वह आत्मासे भिन्न होगा। आत्मासे भिन्न समस्त पदार्थ आत्मामें कल्पित है। अतः आत्माका कोई कारण नहीं है। जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प रज्जुका कारण नहीं होता, उसी प्रकार आत्मामें कल्पित वस्तु आत्माकी कारण नहीं होगी।

कल्पित वस्तुमें अंशका भेद है

एक रज्जुमें अनेक पुरुषोंको दण्ड, सर्प, भूच्छिद्र और जलधारा—ये अनेक प्रकारकी भ्रान्तियाँ होती हैं। उस भ्रान्तिमें दो अंश है। (१) एक 'इदं' यह सामान्यांश (२) दूसरा सर्पादि विशेषांश है। सामान्य जो 'इदं' है वह सर्पादि समस्त विशेषांशमें व्यापक है। जैसे "अयं सर्पः, अयं दण्डः, इदं भूच्छिद्रं, इयं जलधारा" इस रीतिसे सर्पादि विशेषांशमें इदमंश व्यापक है। यह व्यापक जो सामान्य इदमंश है वह रज्जुका स्वरूप ही है। इस प्रकार सामान्य इदमंशके ज्ञानको ही भ्रान्तिका कारण रज्जुका सामान्यांशज्ञान कहते हैं।

यह जो सामान्य इदमंश है वह सत्य है। क्योंकि रज्जुका ज्ञान होनेपर भी 'इयं रज्जुः' इस इदमंशकी प्रतीति होती है। (१) जैसे भ्रान्तिकालमें 'अयं सर्पः' सर्पके साथ इदमंश प्रतीत होता है, (२) उसी प्रकार भ्रान्ति-निवृत्त होनेपर भी 'इयं रज्जुः' यहाँ रज्जुके साथ इदमंश प्रतीत होता है।

यदि इदमंश भी मिथ्या हो तो सर्पादिके समान भ्रान्ति-निवृत्तिके अनन्तर इदमंशकी भी प्रतीति नहीं होती। इसलिये सर्पादिकी भ्रान्तिमें व्यापक इदमंश सत्य है। अतः अधिष्ठान रज्जुका स्वरूप ही है। उसीमें परस्पर व्यभिचारी सर्पादि कल्पित हैं।

सर्वपदार्थोंमें अंशपञ्चकका वर्णन

समस्त पदार्थोंमें पाँच अंश हैं। नाम, रूप, अस्ति, भाति और प्रिय। जैसे (१) घट—यह दो अक्षरोंका नाम है। (२) पृथुबुध्नवर्तुलादि (चौड़ा, चपटा, गोल आदि) रूप है। (३) घटकी विद्यमानता ही अस्ति है। (४) घट प्रतीत होता है यही भाति है। (५) घटकी जो सुन्दरता है वही प्रिय है। इसी प्रकार समस्त पदार्थोंमें पाँच अंश हैं। इनमें अस्ति, भाति और प्रिय—ये तीन अंश व्यापक हैं। नाम-रूप—ये दो अंश व्यभिचारी हैं। जो वस्तु कहीं रहे कहीं न रहे उसका नाम व्यभिचारी है। जैसे घट यह नाम तथा उसका पृथुबुध्नवर्तुलादि आकार (रूप) यह दोनों वस्तु पटमें नहीं है। तथा पट यह नाम और उसका आतान-वितान आदि रूप घटमें नहीं है। इसी प्रकार समस्त वस्तुओंमें नाम-रूपका व्यभिचार होता है। और अस्ति, भाति एवं प्रिय—ये तीन अंश सर्वत्र व्यापक हैं। जैसे सर्प-दण्डादिमें अनुगत इदमंश सत्य और अधिष्ठान है, उसी प्रकार सर्व पदार्थोंमें अनुगत अस्ति, भाति तथा प्रिय—ये तीनों अंश सत्य और अधिष्ठानरूप हैं। सर्प-दण्डादिके समान व्यभिचारी नाम-रूप—ये दो अंश कल्पित हैं। अस्ति, भाति और प्रिय अंश सच्चिदानन्दरूप हैं। इसीलिये आत्मस्वरूप ही हैं। इस सच्चिदानन्दरूप आत्मामें नाम एवं रूप कल्पित है। कल्पित कोई भी पदार्थ आत्माके जन्म-मरणमें कारण नहीं होता। इसलिये आत्मा जन्मरहित है। जिस वस्तुका जन्म होता है उसीमें जन्मके पश्चात् होनेवाले (१) सत्ता, (२) वृद्धि, (३) परिणाम, (४) अपक्षय और (५) विनाश—ये पाँच विकार होते हैं। आत्माके जन्मका अभाव होनेसे उसमें उत्तरभावी पञ्चविकार नहीं होते हैं। इस प्रकार आत्मा षड् भावविकारशून्य सिद्ध हो जाता है।

आत्माके असंगत्वका वर्णन

आत्मा असंग है। संग नाम सम्बन्धका है। वह सम्बन्ध सजातीय, विजातीय और स्वगत पदार्थोंसे होता है। घटका घटान्तर-सम्बन्ध सजातीय सम्बन्ध है। घटका पटसे सम्बन्ध विजातीय सम्बन्ध है। स्वगतका अर्थ है अवयव। पटका तन्तुओंसे सम्बन्ध स्वगत सम्बन्ध है। (१) दो या अनेक

आत्मा होता तब सजातीय सम्बन्ध होता। आत्मा तो एक ही है। इसलिये आत्माको सजातीय सम्बन्ध नहीं है। (२) आत्माका विजातीय अनात्मा है। अनात्मा मरु-मरीचिकोदकके समान कल्पित है। अतः कल्पितके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं हो सकता। मरीचिकोदकका पृथिवीसे सम्बन्ध नहीं होता। यदि उससे सम्बन्ध होता तो पृथिवी आर्द्र हो जाती। जैसे मरीचिकोदकसे भूमिका सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार आत्मामें कल्पित विजातीय अनात्मासे आत्माका सम्बन्ध नहीं है। (३) यदि आत्माके अवयव हों तब स्वगत सम्बन्ध हो। आत्मा नित्य है इसलिये निरवयव है। अतः स्वगत सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार सजातीय, विजातीय और स्वगत सम्बन्ध आत्माको नहीं है। आत्मा असंग है।

हे सोम्य! इस प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप आत्मा असंग है। वही तुम हो। यह तुम्हारे 'मैं कौन हूँ' इस प्रथम प्रश्नका उत्तर कहा गया।

'इस संसारका कर्ता कौन है?' इस द्वितीय प्रश्नका उत्तर

'जगत्का कर्ता कौन है?' इस द्वितीय प्रश्नका उत्तर कहते हैं। व्यापक चैतन्यके आश्रय एवं उसीको विषय करनेवाली माया ही सदसद्से विलक्षण अत्यद्भुत शक्तिरूपा अज्ञान है। उसी अज्ञानसे जगत्की उत्पत्ति तथा प्रलय होता है। उत्पत्ति-प्रलय कहनेसे मध्यमें स्थितिका भी ग्रहण हो जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि (१) मायायुक्त चैतन्य ही ईश्वर कहलाता है। (२) वही ईश्वर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण है।

उपर्युक्त कथनसे 'जगत्का कोई कर्ता है या स्वयं जगत् उत्पन्न होता है?' इस प्रश्नका तथा 'जगत्का कर्ता कोई जीव है या ईश्वर?' इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया।

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं स्वतन्त्र है

जगत्का कर्ता ईश्वर है। जगत् स्वयं उत्पन्न नहीं होता है। कर्ताके विना यदि जगत् उत्पन्न हो तब तो कुलालके विना भी घट उत्पन्न होना

चाहिये। अतः जगत्का कर्ता कोई है। वह कर्ता सर्वज्ञ भी है। जो जिस कार्यका कर्ता होता है, वह उस कार्यके उपादान कारणको जानकर ही करता है। अतः जगत्का कर्ता भी जगत्के उपादान कारणको जानकर ही जगत् उत्पन्न करता है। इस प्रकार जगत्का कर्ता जगत्के उपादान कारणको जानता है, अतः सर्वज्ञ है। वह सर्वज्ञ जगत्का कर्ता सर्वशक्तिमान् भी है। अल्पशक्तियुक्त जीवोंके द्वारा तो जगत्की सृष्टि करना मनसे भी अचिन्त्य है। अतः इस अद्भुत जगत्का कर्ता अद्भुतशक्तिमान् है। और वह स्वतन्त्र है। जो अल्पशक्तिमान् होता है वह पराधीन होता है। सर्वशक्तिमान् पराधीन नहीं होता। अतः यह ईश्वर स्वतन्त्र है। इस प्रकार जगत्का कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र है। उसीको 'ईश्वर' कहते हैं।

[जगत्के कारणके विषयमें अनेक वाद हैं। (१) असत्कारणवादी कहते हैं कि जगत्का कोई कारण नहीं है। (२) कोई अभावको ही जगत्का कारण मानते हैं। (३) कोई शून्यको कारण कहते हैं। (४) नैयायिक परमाणुको कारण कहते हैं। (५) कालवादी 'काल' को ही कारण कहते हैं। (६) चार्वाक स्वभावको कारण मानते हैं। (७) मीमांसक अदृष्टको कारण मानते हैं। (८) प्रत्यक्षवादी यदृच्छाको कारण कहते हैं। (९) प्रत्यक्षप्रमाणवादी पृथिव्यादि पञ्चभूतोंको ही कारण कहते हैं। (१०) सांख्य प्रकृतिको, (११) योगीलोग हिरण्यगर्भरूप असंग पुरुषको, (१२) कोई कालादिके संयोगको, (१३) कोई परिणामी पुरुष जीवको और (१४) कोई ब्रह्मको जगत्का कारण मानते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न मतवादी भिन्न-भिन्न कारण मानते हैं।

इन सब पक्षोंमें दोष है

(१) जगत् कारणके अभावमें उत्पन्न हो तो घट भी विना कारणके उत्पन्न होना चाहिये, असत्कारणवादमें यह प्रत्यक्ष दोष है।

(२) अभावको कारण कहनेवालेके पक्षमें अभावसे भावकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष ही दोष है ।

(३) शून्यको कारण माननेपर बीजके विना ही धान्यादिकी उत्पत्ति होनी चाहिये, यह दोष है ।

(४) निरवयव जड परमाणुका संयोग सम्भव नहीं, यह परमाणु-कारणवादीके पक्षमें दोष है ही ।

(५) काल सदा रहता है तब तो सदा सर्वकी उत्पत्ति होनी चाहिये । यह देखा नहीं जाता, अतः कालके पक्षमें असम्भव दोष है ।

(६) वन्ध्यामें वीर्यसम्बन्ध होनेपर भी गर्भोत्पादकत्व नहीं देखा जाता, अतः स्वभाव भी कारण नहीं हो सकता ।

(७) अदृष्टको कारण माननेपर किस कारणसे किस कार्यकी उत्पत्ति होगी यह निश्चय नहीं होगा ।

(८) यदृच्छा कारण होनेपर पृथिव्यादिभूतोंसे जगत्की उत्पत्ति असम्भव होगी ।

(९) जड पृथिव्यादिको स्वयं कारणकी अपेक्षा है, अतः ये दूसरेके कारण नहीं हो सकते ।

(१०) जड प्रकृतिकी स्वयं प्रवृत्ति नहीं बन सकती ।

(११) यदि पुरुष स्वयं असंग है तो कारण कैसे होगा ।

(१२) कालादि जड है, अतः कारण नहीं है ।

(१३) जीव कारण नहीं हो सकता, मूलमें ही वर्णन किया गया है ।

(१४) निर्विकार ब्रह्म भी कारण नहीं हो सकता । इस प्रकार उपरि-निर्दिष्ट चौदहों मतोंमें दोष है । 'मायाविशिष्ट ब्रह्म जगत्का कारण है' इस मतमें कोई दोष नहीं है ।]

अल्पज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट जीव जगत्का कर्ता नहीं

जो अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् और पराधीन है वही 'जीव' कहलाता है । यद्यपि अल्पज्ञत्वादि धर्म जीवमें परमार्थतः नहीं हैं, तथापि अविद्याके कारण मिथ्याभूत किञ्चिज्ज्ञत्व आदि जीवमें प्रतीत होते हैं । इसीलिये अल्पज्ञत्वादि जीवमें कहे जाते हैं । अविद्याकृत अल्पज्ञत्वादि भ्रान्ति ही तो जीवत्वका कारण है । वह अल्पज्ञत्वादि भ्रान्ति ईश्वरमें नहीं है । किन्तु मायाकृत सर्वज्ञत्वादि ईश्वरमें है । इस विषयका आगे विस्तारसे प्रतिपादन करेंगे ।

इस प्रकार जगत्का कर्ता जीव नहीं है, किन्तु ईश्वर ही है ।

ईश्वर व्यापक और नित्य है

वह ईश्वर किसी एक देशमें नहीं है, किन्तु सर्वत्र व्यापक है । ईश्वरको एक देशमें मानें तो वह अनित्य होगा । जिसका देशसे अन्त है उसका कालसे भी अन्त होता है यह नियम है । "यदनित्यं तत् कर्तृजन्यम्" जो वस्तु अनित्य होती है वह कर्तासे जन्य होती है—यह नियम है । ईश्वरको अनित्य माननेपर उसका भी कोई कर्ता स्वीकार करना होगा ।

ईश्वरका कर्ता कोई है यह कहना नहीं बनता है । क्योंकि—

(१) ईश्वरका ईश्वर ही कर्ता स्वीकार करें तो 'आत्माश्रयदोष' होगा । यदि स्वयं ही क्रियाका कर्ता (आश्रय) हो एवं स्वयं ही क्रियाका कर्म (विषय) हो, तब आत्माश्रयदोष होता है । जैसे कुलाल क्रियाका कर्ता और घटरूप कर्म है उसी प्रकार सर्वत्र कर्ता तथा कर्म भिन्न ही होता है । इन दोनोंका एकत्व नहीं होता है । अतः ईश्वरकी उत्पत्तिमें उसीका (ईश्वरका) ही कर्तृत्व और कर्मत्व स्वीकार करनेपर आत्माश्रय-दोष अवश्य होगा । कर्म नाम कार्यका है । कार्यके विरोधीका नाम दोष है । आत्माश्रय कार्यका विरोधी है, अतः दोष है । इसलिये ईश्वरका कर्ता किसी अन्यको स्वीकार करना पड़ेगा ।

(२) वह जो द्वितीय कर्ता है वह भी प्रथम कर्ताके समान कर्तृजन्य ही होना चाहिये । वह जो द्वितीय कर्ताका कर्ता है वह द्वितीय कर्तासे भिन्न है । यदि यह कहें कि प्रथम कर्ता जो ईश्वर है वही द्वितीय कर्ताका कर्ता है तो 'अन्योन्याश्रयदोष' होगा ।

(३) इस दोषनिवृत्तिके लिये तृतीय कोई कर्ता मानना पड़ेगा। उस तृतीय कर्ताका कर्ता द्वितीय कर्ता है यह स्वीकार करें तो फिर भी अन्योन्याश्रय निवृत्त नहीं होगा। यदि प्रथम कर्ताको स्वीकार करें तो 'चक्रिकादोष' होगा। चक्रभ्रमणके समान—(१) प्रथम कर्ता द्वितीय कर्तासे जन्य है। (२) द्वितीय कर्ता तृतीय कर्तासे जन्य है। (३) तृतीय कर्ता प्रथम कर्तासे जन्य है। (४) वह प्रथम कर्ता द्वितीय कर्तासे जन्य है इस रीतिसे कार्यकारणभावका भ्रमण होता रहेगा। चक्रिकामें सब परस्पर सापेक्ष होनेसे कोई भी एक ईश्वर सिद्ध नहीं होगा। अन्योन्याश्रयमें भी परस्परकी अपेक्षा है ही। क्योंकि एककी सिद्धिके विना दूसरेकी सिद्धि नहीं होती है।

(४) इसलिये (१) जैसे कुलालका कर्ता स्वयं ही कुलाल नहीं होता है, किन्तु उसका पिता कर्ता होता है, उसी प्रकार प्रथम ईश्वरका कर्ता अन्य कहना ही होगा। (२) कुलालका कर्ता पिता अपने पुत्रसे नहीं उत्पन्न होता, किन्तु अन्य किसी पितासे उत्पन्न होता है। (३) तृतीय कुलालका पितामह न कुलालसे, न कुलालपितासे ही उत्पन्न होता है, किन्तु चतुर्थ जो कुलालका प्रपितामह है उससे उत्पन्न होता है। (४) इसी प्रकार तृतीय कर्ता न प्रथम कर्तासे, न द्वितीय कर्तासे ही उत्पन्न होता है, किन्तु चतुर्थ कर्तासे उत्पन्न होता है। उस चतुर्थका भी कर्ता पञ्चम स्वीकार करना होगा। इस प्रकार 'अनवस्थादोष' होता है। अनवस्थाका अर्थ है धारा—प्रवाह। कर्ताका प्रवाह स्वीकार करनेपर जगत्‌का कर्ता कौन है यह निश्चय नहीं होगा। जिस-किसीको जगत्‌का कर्ता स्वीकार करनेमें कोई युक्ति और प्रमाण नहीं है यही कहना पड़ेगा। युक्तिके अभावका नाम ही 'विनिगमनाविरह' कहा जाता है।

कोई यह कहते हैं कि धाराकी विश्रान्ति जिसमें होती है वही जगत्‌का अन्तिम कर्ता है यह मानना उचित है। ऐसी स्थितिमें पूर्वमें होनेवाले सभी कर्ता निष्फल हो जायँगे। इसीका नाम प्राग्लोप है। कर्ताकी धारा-

विश्रान्तिके अवधिभूत कर्ताके प्राग् अभावका नाम प्राग्लोप है। इस प्रकार ईश्वरका देशसे अन्तवत्त्व होगा, अन्तवत्त्व होनेसे इसकी उत्पत्ति माननी होगी। ईश्वरकी उत्पत्ति माननेपर पूर्वकथित आत्माश्रयादि दोष होने लगेंगे। इसलिये ईश्वरका देशसे अन्त नहीं है। किन्तु ईश्वर व्यापक है, अतः नित्य है।

ईश्वर और जीवका स्वरूपसे भेद नहीं

व्यापक ईश्वर और जीवके स्वरूपमें वास्तवमें भेद नहीं है, किन्तु उपाधिसे भेद है। अवच्छेदवादमें मायाविशिष्ट चैतन्यको ईश्वर कहते हैं, और अविद्याविशिष्ट चैतन्यको जीव कहते हैं। आभासवादमें माया और आभाससे विशिष्ट चैतन्यको ईश्वर मानते हैं, तथा आभाससहित अविद्या-विशिष्ट चैतन्यको जीव कहते हैं। आभासवादमें आभाससहित अविद्याका आभाससहित मायासे ही भेद है। उसी प्रकार अवच्छेदवादमें अविद्या एवं मायामें भेद है। स्वरूपसे चैतन्यमें भेद नहीं है। बिम्ब-प्रतिबिम्बवादमें अज्ञानमें प्रतिबिम्बित चैतन्यको जीव तथा बिम्ब चैतन्यको ईश्वर मानते हैं। इस पक्षमें भी चैतन्यके स्वरूपमें भेद नहीं है। किन्तु एक ही चैतन्यमें जीव तथा ईश्वर कल्पित हैं। इसको आगे कहेंगे। इस रीतिसे जगत्‌का कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र ईश्वर ही है। यह ईश्वर व्यापक है। जीव और ईश्वरमें विशेषणमात्रका भेद है, स्वरूपसे भेद नहीं है। 'जगत्‌का कर्ता कौन है ?' इस द्वितीय प्रश्नका उत्तर कहा गया।

'मोक्षका कारण क्या है ?' इस तृतीय प्रश्नका उत्तर

मोक्षका साधन ज्ञान है

हेतु मोछको ज्ञान इक, नहीं कर्म नहिं ध्यान।
रज्जुसर्प तबही नसै, होय रज्जुको ज्ञान॥

'मोक्षका साधन क्या ज्ञान है ? अथवा कर्म या उपासना ? अथवा दोनों ?' इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं। मुक्तिके साधन कर्म नहीं। न ध्यान

(उपासना) ही है, किन्तु ज्ञान है। आत्मामें बन्ध यदि सत्य होता तब तो उसकी निवृत्तिरूप मोक्ष ज्ञानसे नहीं होता, किन्तु कर्म और उपासनासे ही होता। परन्तु आत्मामें बन्ध सत्य नहीं है, रज्जुसर्पवत् मिथ्या है। उस मिथ्या बन्धकी निवृत्ति अधिष्ठानके ज्ञानसे ही होगी, कर्म-उपासनासे नहीं। जैसे रज्जुमें सर्प किसी भी क्रियासे दूर नहीं होता है, किन्तु रज्जुके ज्ञानसे ही दूर होता है। उसी प्रकार आत्माके अज्ञानसे प्रतीत होनेवाला बन्ध और उसका कारणभूत अज्ञान आत्माके ज्ञानसे ही दूर हो सकता है।

कर्म-उपासना मोक्षका साधन नहीं

कर्म और उपासनाके फल अनित्य हैं। अतः इन दोनोंसे नित्य मोक्ष सिद्ध नहीं होता। मोक्ष यदि कर्मका फल मानें तब मोक्ष अनित्य हो जायगा। जैसे कृषि आदि कर्मका फल अन्न आदि अनित्य होता है। एवं यज्ञादि कर्मोंके फल स्वर्गादि भी अनित्य ही हैं। "**तद्यथा कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।**" (छा० ८। १। ६) "**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमाया-न्नास्त्यकृतः कृतेन**" (मु० १। २। १२) इत्यादि श्रुतियाँ कर्मफलको अनित्य वर्णन करती हैं। मोक्षको यदि कर्मफल स्वीकार करें तो वह भी अनित्य होगा। अतः मोक्ष कर्मका फल नहीं है।

उपासनाका फल मोक्ष अङ्गीकार करें तो भी अनित्य ही होगा। उपासना भी मानस कर्म ही है। "यज्जन्यं तदनित्यम्" कर्मका फल अनित्य होता है इस नियमसे कर्म और उपासना—मानस कर्मका फल मोक्ष नहीं है।

मुमुक्षुको पाँचों कर्मफलोंमेंसे किसी कर्मफलकी अपेक्षा नहीं

कर्मसे उत्पत्ति, आप्ति, विकार, संस्कार और नाश—ये पाँच प्रकारके फल उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति—घट-पटादि पदार्थोंकी उत्पत्ति। आप्ति—पदार्थों-की प्राप्ति। विकार—पूर्वरूपके त्यागसे रूपान्तरकी प्राप्ति। संस्कार—पदार्थ-गत मलकी निवृत्ति तथा गुणाधान-ये दो प्रकारके संस्कार। नाश—पदार्थका

ध्वंस। ये कर्मजन्य फलोंके पाँच प्रकार होते हैं। मुमुक्षुको इन पाँचोंमेंसे किसी भी प्रकारके फलकी अपेक्षा उचित नहीं है। इसलिये मुमुक्षु ज्ञानके साधन श्रवणादिमें ही प्रवृत्त होता है, कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता।

जैसे कुलालके कर्मसे घटोत्पत्तिरूप फल सिद्ध होता है वैसे मुमुक्षुके कर्मसे मोक्षरूप फल सिद्ध नहीं होता है। सर्वानर्थ-निवृत्ति और परमानन्द-प्राप्तिका नाम मोक्ष है। जैसे रज्जुमें सर्प-निवृत्ति नित्यसिद्ध है, उसी प्रकार आत्मामें दुःखनिवृत्ति भी नित्यसिद्ध है। आत्मा परमानन्दस्वरूप है। इसलिये परमानन्द-प्राप्ति भी नित्यसिद्ध ही है। जो इस प्रकार स्वभावसिद्ध मोक्षको कर्मजन्य कहना युक्त नहीं है। जो वस्तु प्रथम असिद्ध है वही वस्तु कर्मसे सिद्ध होती है। प्राक्सिद्ध वस्तुकी उत्पत्ति कर्मसे नहीं होती है।

[(१) जैसे रज्जुमें व्यावहारिक सत्ताके सर्पकी अभावरूपा ही सर्पकी निवृत्ति नित्यसिद्ध है। उसी प्रकार आत्मामें परमार्थ सत्तावाले कार्यसहित अज्ञानरूप अनर्थकी अत्यन्ताभावरूपा ही उसकी निवृत्ति नित्यसिद्ध है।

(२) जैसे विस्मृत कण्ठस्थ चामीकरकी प्राप्ति अथवा गृहमें गूढ़ निहित निधि—खजानेकी प्राप्ति नित्यसिद्ध है, उसी प्रकार निजस्वरूप परमानन्दकी प्राप्ति सबको नित्यसिद्ध है।]

वेदान्त-श्रवण भी मोक्षकी उत्पत्तिके लिये नहीं

वेदान्त-श्रवण भी मोक्षकी उत्पत्तिके लिये नहीं कहा गया है। किन्तु 'नित्यमुक्त चिदात्मामें कोई कर्तव्य नहीं है' इस अर्थको जाननेके लिये ही श्रवण है। इस प्रकारका ज्ञान होनेपर 'मुझको कुछ कर्तव्य है' यह भ्रम दूर हो जाता है। वेदान्त-श्रवणके बाद भी यदि किसीको कर्तव्यता प्रतीत होती है तो वह तत्त्ववित् नहीं है।

[**ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।**
न किञ्चिदपि कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः॥]

इसी कारण नित्यनिवृत्त अनर्थकी निवृत्ति तथा नित्यप्राप्तकी प्राप्ति वेदान्त-श्रवणका फल नहीं है—यह श्रीसुरेश्वराचार्यने नैष्कर्म्यसिद्धिमें कथन किया है। अतः मुमुक्षुको मोक्षकी उत्पत्तिरूप कर्मका फल नहीं है।

मुमुक्षुको पदार्थ-नाश, पदार्थ-प्राप्ति, पदार्थ-विकार और पदार्थ-संस्कार—इन फलोंकी आकाङ्क्षा भी नहीं होती

जैसे दण्ड-प्रहाररूप कर्मसे घट-नाशरूप फल होता है वैसे मुमुक्षुको कर्मसे किसी पदार्थके नाशरूप फलका उपयोग भी नहीं है। अन्य पदार्थका नाश होना मुमुक्षुको इष्ट नहीं है, किन्तु बन्धका नाश इष्ट है। वह बन्ध आत्मामें है नहीं, किन्तु मिथ्या प्रतीत होता है। उस मिथ्या प्रतीतिका कर्मसे नाश नहीं होता। वह मिथ्या प्रतीति तो यथार्थ आत्मज्ञानसे ही नष्ट होती है। अतः मुमुक्षुको पदार्थ-नाशरूप कर्मसे साध्य फल नहीं होता है।

जैसे गमनरूप कर्मसे ग्राम-प्राप्तिरूप फल होता है वैसे मुमुक्षुको कर्मसे मोक्षरूप फल नहीं होता है। नित्यमुक्त आत्माको मोक्ष-प्राप्तिरूप फल वर्णन करना युक्त नहीं है। जिसको बन्ध है उसीको मोक्ष-प्राप्तिका वर्णन हो सकता है। आत्मामें बन्धके अभावमें मोक्ष-प्राप्तिरूप फल भी मुमुक्षुको कर्मसे सिद्ध नहीं हो सकता।

जैसे पाचकको पाकरूप कर्मसे तण्डुलका ओदनात्मक रूपान्तर-प्राप्तिरूप विकार फल सिद्ध होता है वैसे मुमुक्षुको कर्मसे विकाररूप फल भी सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि आत्मा निर्विकार है। जिनके मतमें प्रथम आत्मामें बन्ध मानकर पश्चात् मोक्षदशामें चतुर्भुजत्वादि विलक्षण रूप-प्राप्ति अङ्गीकार करते हैं, उनके मतमें अन्यप्राप्तिरूप विकार मुमुक्षुको कर्मफल प्राप्त होगा। किन्तु उस प्रकार आत्माकी रूपान्तर-प्राप्ति वेदान्तमें

नहीं स्वीकार करते हैं। इसलिये मुमुक्षुको कर्मसे विकाररूप फल सिद्ध नहीं होता है।

(१) जैसे वस्त्रके प्रक्षालनरूप कर्मसे मलनिवृत्तिरूप संस्कार होता है वैसे मुमुक्षुको मलनिवृत्तिरूप संस्कार भी कर्मका फल नहीं होता है। मुमुक्षु अन्यकी मलनिवृत्ति चाहता नहीं, आत्माके मलकी निवृत्ति चाहता है। किन्तु नित्य शुद्ध मुक्त आत्मामें मल है नहीं। अतः मलनिवृत्तिरूप संस्कार भी कर्मका फल नहीं होता।

अन्तःकरणगत पापरूप मलकी निवृत्ति कर्मका फल है यह कहना यद्यपि सत्य है, तथापि विचार करनेसे शुद्धान्तःकरण मुमुक्षुके अन्तःकरणमें पापरूप मल नहीं है। अतः पापरूप मलकी निवृत्तिरूप संस्कार भी कर्मका फल नहीं होता।

आत्मामें अज्ञानरूप मलकी वृत्ति है तथापि उसकी निवृत्ति कर्मसे नहीं होती है। क्योंकि अज्ञानका विरोधी ज्ञान है, कर्म नहीं। अतः मुमुक्षुको कर्मका फल मलनिवृत्तिरूप संस्कार भी नहीं होता है।

(२) जैसे कौसुम्भ-जलमें मज्जनरूप कर्मसे वस्त्रमें रक्तवर्ण-गुणोत्पत्तिरूप संस्कार फल होता है वैसे मुमुक्षुको कर्मसे गुणोत्पत्तिरूप संस्कार भी नहीं होता है। अन्यत्र गुणोत्पत्ति-कथन अयुक्त है, आत्मामें ही गुणोत्पत्ति-वर्णन करना चाहिये। किन्तु निर्गुण आत्मामें गुणोत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः मुमुक्षुको गुणोत्पत्तिरूप संस्कार भी कर्मका फल नहीं होता है।

ये पाँच प्रकारके ही कर्मके फल हैं, अन्य कोई फल नहीं होता। वे पाँचों प्रकारके फल मुमुक्षुको सम्भव नहीं हैं। इसलिये मुमुक्षुको कर्मफलोंको त्यागकर ज्ञानके साधन श्रवणमें प्रवृत्त रहना चाहिये।

उपासना भी मानस कर्म ही है। अतः इसका निराकरण करनेके लिये पृथक् युक्ति नहीं कही गयी। इस रीतिसे केवल कर्म या उपासना मोक्षका साधन नहीं है, किन्तु ज्ञान ही मोक्षका कारण है।

कर्म-उपासनासहित ज्ञान मोक्षका साधन है—यह वाद

कोई कहते हैं कि कर्मोपासनाके सहित ही ज्ञान मोक्षका साधन है।

[प्राचीन वृत्तिकार भर्तृप्रपञ्च समुच्चयवादी हैं। उनके अनुयायीका यह मत है।

यहाँ यह जानना चाहिये कि समसमुच्चय एवं क्रमसमुच्चय—दो प्रकारके समुच्चय होते हैं। अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान और श्रवणादिके एक साथ अनुष्ठानका नाम समसमुच्चय है। अन्तःकरणशुद्धयर्थ विविदिषा सिद्धिपर्यन्त नित्य कर्मानुष्ठान करना चाहिये। विविदिषा सिद्ध हो जानेपर कर्मोंको त्याग-कर श्रवणादिसे ज्ञान-सम्पादन करनेका नाम क्रमसमुच्चय है। इसमें सम-समुच्चय त्याज्य है, क्रमसमुच्चय ग्राह्य है। जहाँ-कहीं खण्डन है वह सम-समुच्चयका ही है, क्रमसमुच्चयका खण्डन नहीं है।]

इसमें यह दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे पक्षी एक पक्षसे आकाशमें नहीं जा सकता, किन्तु दोनों पक्षोंसे ही जानमें समर्थ होता है। उसी प्रकार ज्ञानरूप एक पक्षसे मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता, किन्तु ज्ञान और कर्म दोनोंसे प्राप्त किया जा सकता है। उपासनासहित कर्म एक पक्ष है, दूसरा पक्ष ज्ञान है। उपासना भी मानस कर्म है, अतः कर्म एवं उपासना मिलकर एक पक्ष कहा गया है।

कर्म-उपासना साक्षात् मोक्षका साधन है—यह वाद

इनका एक अन्य ही दृष्टान्त है। ये कहते हैं कि सेतु-दर्शनसे पाप-नाश होता है। सेतु-दर्शन प्रत्यक्ष ज्ञान है। वह ज्ञानरूप जो सेतु-दर्शन है, वह भी श्रद्धा-भक्तिसहित गमनादि नियमकी अपेक्षा करता है। श्रद्धा-भक्ति-रहित पुरुषको सेतु-दर्शनसे फल नहीं होता है, यह शास्त्रका सिद्धान्त है। जैसे सेतु-दर्शनरूप प्रत्यक्ष ज्ञान अपने फल पापनाशकी उत्पत्तिमें श्रद्धा-भक्ति नियमकी अपेक्षा रखता है वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी मोक्षरूप फलोत्पत्तिमें कर्मो-पासनाकी अपेक्षा करता है।

इनका यह भी कहना है कि केवल ज्ञानसे मोक्ष सिद्ध होता है इस पक्षमें भी कर्मोपासनाको ज्ञानका साधन मानते हैं। क्योंकि शुद्ध निश्चल अन्तःकरणमें ज्ञान उदय होता है। वह अन्तःकरण शुभ कर्मसे शुद्ध होता है

एवं उपासनासे निश्चल होता है। इस प्रकार अन्तःकरणकी शुद्धि एवं निश्चलता सम्पादनके द्वारा कर्म और उपासनाको ज्ञानके साधन स्वीकार करते हैं।

कर्म-उपासना भी परम्परासे मोक्षका साधन है—यह वाद

कोई कहते हैं कि जैसे कर्म एवं उपासनाको ज्ञानके साधन मानते हैं, वैसे ही ज्ञानके फल मोक्षके साधन भी कर्म एवं उपासनाको स्वीकार करना चाहिये। इसमें यह दृष्टान्त है कि जैसे जलका सेचन वृक्षकी उत्पत्तिके प्रति और वृक्षके फलकी उत्पत्तिके प्रति भी साधन होता है, वैसे ही कर्म एवं उपासना ज्ञानोत्पत्ति और ज्ञानके फल मोक्षकी उत्पत्तिके प्रति भी साधन होते हैं। यदि यह कहें कि वनस्थ वृक्षके फल तो विना जलसेंचनके ही उत्पन्न होते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उसमें भी वृक्षके मूलमें भूमिस्थ जलसे सम्बन्ध है। उसी जलसे वृक्षके फल उत्पन्न होते हैं। जलके सम्बन्ध विना वृक्ष ही सूख जाता है; फल भी नहीं उत्पन्न होता है। अतः कर्म एवं उपासना ज्ञान और ज्ञानके फल मोक्षके भी साधन हैं।

उक्त रीतिसे कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनों मोक्षके साधन हैं। इस-लिये ज्ञानीको भी कर्मानुष्ठान करना ही चाहिये।

समुत्पन्न ज्ञानके रक्षणार्थ भी कर्म-उपासना अपेक्षित

अथवा कर्मोपासनाको समुत्पन्न ज्ञानके रक्षार्थ भी करना चाहिये। ज्ञानी यदि कर्मोपासनाको त्याग देता है तो जैसे जलके सम्बन्धाभावमें दृढ-मूल भी वृक्ष सूख जाता है वैसे ही ज्ञानीका उत्पन्न ज्ञान भी विनष्ट हो जायगा। क्योंकि शुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञान उत्पन्न होता है। शुभ कर्मोंके न करनेसे ज्ञानीके पाप होगा। उपासना न करनेसे पुनः चित्त चञ्चल हो जायगा। उस अशुद्ध चञ्चल अन्तःकरणमें शुष्क भूमिमें उत्पन्न वृक्षके समान ज्ञान स्थिर नहीं रहेगा।

दूसरा भी दृष्टान्त है कि जैसे परिमार्जन-प्रोक्षणादि संस्कारोंसे शुद्ध किये हुए स्थानमें वेदाध्ययन करनेवाला ब्रह्मचारी निवास करता है। जिस-किसी

कारण अशुद्ध हो जानेपर वहाँ नहीं रहता है, किन्तु उस स्थानको त्याग देता है। वैसे ही कर्मोपासनाको त्याग देनेसे अशुद्ध चाञ्चल्यको प्राप्त अन्तःकरणमें ज्ञान नहीं ठहरता है। इसलिये ज्ञान-संरक्षण करनेके लिये ज्ञानीको भी कर्मोपासना करना चहिये।

कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीनों मोक्षके कारण हैं यह स्वीकार करनेपर कर्म एवं उपासना ज्ञानके संरक्षणके कारण हैं; केवल ज्ञान मोक्षका हेतु है, इस स्थितिमें भी ज्ञानीको कर्मोपासनाका अनुष्ठान करना ही चाहिये। यही समुच्चयवाद है।

कर्म एवं उपासनाका ज्ञानसे विरोध है

पूर्व आक्षेपोंका समाधान

पूर्वोक्त समुच्चयवाद समीचीन नहीं है। जिनको देहातिरिक्त आत्माका ज्ञान नहीं है उनके लिये कर्मका विधान नहीं है। जन्मान्तरमें भोगके लिये ही कर्मानुष्ठान किया जाता है। देह तो अग्निसे जल जाता है। अतः इस देहसे जन्मान्तरका भोग होना सम्भव नहीं है। अतः 'देहातिरिक्त आत्मा है' यह ज्ञान ही कर्मका कारण है, 'उसी देहसे भिन्न आत्माको कर्तृत्व-भोक्तृत्व है' यह ज्ञान भी कर्मका हेतु है। 'मैं पुण्य-पापका कर्ता हूँ। इन पुण्य-पाप कर्मोंका फल मुझको प्राप्त होगा।' यह ज्ञान जिसको है वही व्यक्ति कर्म करता है। ज्ञानी आत्माको ऐसा नहीं जानता है। किन्तु 'पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदिसे रहित असंग ब्रह्मस्वरूप ही आत्मा है' यह वेदान्तजन्य ज्ञान ज्ञानीको है। यह ज्ञान कर्मका हेतु नहीं है, बल्कि कर्मका विरोधी है। इसलिये ज्ञानीको कर्म करना सम्भव नहीं है।

कर्ता तथा कर्मफलका भेदज्ञान कर्मका हेतु है

वह कर्ता और कर्मफल आत्मासे भिन्नरूपसे प्रतीत नहीं होता है। ज्ञानीको सब आत्मस्वरूपसे ही प्रतीत होता है। इसलिये भी ज्ञानीको कर्म

करना सम्भव नहीं। भाष्यकारने ज्ञानियोंके कर्माभावका अनेक प्रकारसे प्रतिपादन किया है।

कर्म और ज्ञानका फलसे भी विरोध है। इसलिये भी ज्ञान-कर्मका समुच्चय होना युक्त नहीं है। (१) कर्मका फल अनित्य संसार है। (२) ज्ञानका फल नित्य मोक्ष है।

आत्मामें जाति आदिका अध्यास कर्मका हेतु है, ज्ञानीको अध्यासका अभाव है

आत्मामें जाति, आश्रम और अवस्था आदिका अध्यास ही कर्मका हेतु है। उन-उन जाति, आश्रम और अवस्थाओंके अनुरूप ही भिन्न-भिन्न कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान है। अतः जाति आदिका अध्यास कर्मका हेतु है।

यद्यपि जाति, आश्रम और अवस्थाएँ देहके ही धर्म हैं। कर्मीको देहमें आत्म-बुद्धि नहीं है, किन्तु देहसे पृथक् आत्माको कर्ता मानता है यह बात पहिले कही गयी है। इसलिये आत्मामें जाति-आश्रमादिकी प्रतीति कर्मीको भी नहीं होती है। तो भी कर्मीको देहसे भिन्न आत्माका अपरोक्ष ज्ञान नहीं है, किन्तु शास्त्रजन्य परोक्ष ज्ञान है। देहमें आत्मज्ञान अपरोक्ष है। यदि कर्मीको देहसे भिन्न आत्माका ज्ञान अपरोक्ष होता तो वह ज्ञान देहमें अपरोक्ष आत्मज्ञानका विरोधी होता। परोक्ष ज्ञानका अपरोक्ष ज्ञानसे विरोध नहीं है। अतः देहसे भिन्न कर्ता आत्माका ज्ञान और देहमें आत्मज्ञान यह दोनों एकमें बन जाता है।

इसमें यह दृष्टान्त है कि पाषाण एवं काष्ठ आदिसे निर्मित मूर्तिमें शास्त्रजन्य परोक्ष ईश्वरका ज्ञान है। अपरोक्ष शिला आदिका भी ज्ञान है। इन दोनों ज्ञानोंमें विरोध नहीं है। एक पुरुषको दो बुद्धि होती है। जिसको रज्जुमें सर्पभिन्नत्व ज्ञान अपरोक्ष होता है उसको अपरोक्ष सर्पज्ञानकी भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। इस उक्तिसे अपरोक्ष भ्रान्तिका अपरोक्ष ज्ञानसे ही

...ज्ञानको कर्म-उपासनाकी अपेक्षा नहीं : ३५७

विरोध है परोक्ष ज्ञानसे विरोध नहीं होता—यह नियमसिद्ध है। अतः देहभिन्न आत्मामें परोक्ष ज्ञान तथा देहमें अपरोक्ष आत्मज्ञान एकको हो सकता है। यह दो ज्ञान भी कर्मका कारण है। आत्मा देहसे भिन्न भी कर्ता-भोक्ता है यह ज्ञान कर्ममें हेतु है। यह आत्मामें कर्तृत्वज्ञान भ्रान्ति है। ज्ञानीको यह भ्रान्ति नहीं रहती है। अतः विद्वान्को कर्ममें अधिकार नहीं है।

देहमें अपरोक्ष आत्मबुद्धि यदि होती तो देहके जाति आदि धर्म प्रतीत होते। वह देहमें आत्मबुद्धि ज्ञानीको नहीं है। किन्तु ब्रह्मरूपसे ही आत्मामें अपरोक्ष ज्ञान है। इसलिये जाति-आश्रमादि-भ्रान्तिका अभाव होनेसे भी ज्ञानीको कर्ममें अधिकार नहीं है।

"मैं उपासक हूँ, देव उपास्य है" इस बुद्धिसे उपासना सिद्ध होती है। विद्वान्को उपास्य-उपासक भाव प्रतीत नहीं होता है। 'मेरे देहादि संघात और देवादिके देह भी स्वप्नवत् कल्पित हैं, एक चैतन्य ही है' यह विद्वान्को निश्चय है। अतः ज्ञान और उपासनामें भी विरोध है।

आकाशमें पक्षीके उड़नेका दृष्टान्त ठीक नहीं

पक्षीके दोनों पक्ष एक कालमें ही हैं। अतः इनमें विरोध नहीं है। ज्ञानका कर्म तथा उपासनासे विरोध है। अतः एक कालमें दोनोंका होना सम्भव नहीं है।

मोक्षके उद्देशसे ज्ञानको कर्म एवं उपासनाकी अपेक्षा नहीं

सेतु-दर्शन दृष्टान्त यहाँ युक्त नहीं

मोक्षके लिये कर्म तथा उपासना ज्ञानके सहायक हैं—इस विषयमें सेतु-दर्शनका दृष्टान्त संगत नहीं होता। सेतु-दर्शन दृष्ट फलका हेतु नहीं है। किन्तु अदृष्ट फलका हेतु है। जो फल प्रत्यक्ष प्रतीत होता है उसको प्रत्यक्ष फल कहते हैं। जैसे भोजनकी फलभूता तृप्ति प्रत्यक्ष फल है। अतः भोजन दृष्ट फलका हेतु है। वैसे ही सेतु-दर्शनसे कुछ भी प्रत्यक्ष फल नहीं प्रतीत होता है, किन्तु पापका नाशरूप फल शास्त्रसे ही जाना जाता है। जो

प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता उसको अदृष्ट फल कहते हैं। इसलिये जैसे यज्ञादि कर्म स्वर्गादि अदृष्ट फलका हेतु है वैसे सेतु-दर्शन भी पाप-नाशरूप अदृष्ट फलका ही हेतु है। जो अदृष्ट फलका हेतु है उसके फलोत्पादनमें सहायतार्थ जितनी सामग्रीका शास्त्र विधान करता है, उतनी सामग्रीसहित ही वह फलका हेतु होता है। वह केवल हेतु नहीं होता है। इसलिये श्रद्धा-भक्तिरहित सेतु-दर्शन फलका हेतु नहीं होता। सेतु-दर्शनसे प्रत्यक्ष कुछ भी फल नहीं देखा जाता। केवल शास्त्रसे ही उसका फल जाना जाता है। शास्त्र श्रद्धा-नियमादिसहित ही सेतु-दर्शनको पापनाशक कहता है। केवल सेतु-दर्शनसे फल होता है इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं है। अतः सेतु-दर्शन अपने फलकी उत्पत्तिमें श्रद्धा-भक्ति-नियमादिकी अपेक्षा रखता है।

ज्ञानका फल मोक्ष नित्यप्राप्त होनेसे ज्ञानको कर्म-उपासनाकी अपेक्षा नहीं

तमनिवृत्तिमें दीपप्रभाके समान अपने फलकी उत्पत्तिमें ब्रह्मविद्या कर्म एवं उपासनाकी अपेक्षा नहीं रखती। क्योंकि ब्रह्मविद्याका फल भी यदि स्वर्गादि लोकवत् लोकविशेष अदृष्ट फल होता और यदि शास्त्र उस लोकविशेषको केवल ब्रह्मविद्यासे अप्राप्य कहकर कर्मोपासनासहित ब्रह्मविद्यासे उसकी प्राप्ति बतलाता, तब तो ब्रह्मविद्या भी सेतु-दर्शनवत् स्वफलोत्पत्तिमें कर्मोपासनाकी अपेक्षा करती। ब्रह्मविद्याका फलभूत मोक्ष स्वर्गादिवत् लोकविशेष अदृष्ट फल नहीं है, किन्तु मोक्ष नित्य प्राप्त है। बन्ध भ्रान्तिसे प्रतीत होता है। उस भ्रान्तिकी निवृत्ति ही ब्रह्मविद्याका फल है। केवल ब्रह्मविद्यासे उस भ्रान्तिकी निवृत्ति ब्रह्मविद् ज्ञानीको प्रत्यक्ष है, जैसे कि रज्जुके ज्ञानसे सर्पभ्रान्तिकी निवृत्ति प्रत्यक्ष सबको होती है। इसलिये अधिष्ठान ज्ञानका भ्रान्तिनिवृत्तिरूप दृष्ट ही फल है, अदृष्ट नहीं।

दृष्ट फलकी उत्पत्तिमें जितनी सामग्री साध्यतासे प्रत्यक्ष प्रतीत होती है उतनी सामग्री दृष्ट फलकी हेतु कही जाती है। जैसे तुरी-तन्तु-वेमादिसे पटकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष है, अतः तुरी-तन्तु-वेमादि पटके हेतु हैं। जैसे केवल

कारण अशुद्ध हो जानेपर वहाँ नहीं रहता है, किन्तु उस स्थानको त्याग देता है। वैसे ही कर्मोपासनाको त्याग देनेसे अशुद्ध चाञ्चल्यको प्राप्त अन्तःकरणमें ज्ञान नहीं ठहरता है। इसलिये ज्ञान-संरक्षण करनेके लिये ज्ञानीको भी कर्मोपासना करना चाहिये।

कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीनों मोक्षके कारण हैं यह स्वीकार करनेपर कर्म एवं उपासना ज्ञानके संरक्षणके कारण हैं; केवल ज्ञान मोक्षका हेतु है, इस स्थितिमें भी ज्ञानीको कर्मोपासनाका अनुष्ठान करना ही चाहिये। यही समुच्चयवाद है।

कर्म एवं उपासनाका ज्ञानसे विरोध है

पूर्व आक्षेपोंका समाधान

पूर्वोक्त समुच्चयवाद समीचीन नहीं है। जिनको देहातिरिक्त आत्माका ज्ञान नहीं है उनके लिये कर्मका विधान नहीं है। जन्मान्तरमें भोगके लिये ही कर्मानुष्ठान किया जाता है। देह तो अग्निसे जल जाता है। अतः इस देहसे जन्मान्तरका भोग होना सम्भव नहीं है। अतः 'देहातिरिक्त आत्मा है' यह ज्ञान ही कर्मका कारण है, 'उसी देहसे भिन्न आत्माको कर्तृत्व-भोक्तृत्व है' यह ज्ञान भी कर्मका हेतु है। 'मैं पुण्य-पापका कर्ता हूँ। इन पुण्य-पाप कर्मोंका फल मुझको प्राप्त होगा।' यह ज्ञान जिसको है वही व्यक्ति कर्म करता है। ज्ञानी आत्माको ऐसा नहीं जानता है। किन्तु 'पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदिसे रहित असंग ब्रह्मस्वरूप ही आत्मा है' यह वेदान्तजन्य ज्ञान ज्ञानीको है। यह ज्ञान कर्मका हेतु नहीं है, बल्कि कर्मका विरोधी है। इसलिये ज्ञानीको कर्म करना सम्भव नहीं है।

कर्ता तथा कर्मफलका भेदज्ञान कर्मका हेतु है

वह कर्ता और कर्मफल आत्मासे भिन्नरूपसे प्रतीत नहीं होता है। ज्ञानीको सब आत्मस्वरूपसे ही प्रतीत होता है। इसलिये भी ज्ञानीको कर्म

करना सम्भव नहीं। भाष्यकारने ज्ञानियोंके कर्माभावका अनेक प्रकारसे प्रतिपादन किया है।

कर्म और ज्ञानका फलसे भी विरोध है। इसलिये भी ज्ञान-कर्मका समुच्चय होना युक्त नहीं है। (१) कर्मका फल अनित्य संसार है। (२) ज्ञानका फल नित्य मोक्ष है।

आत्मामें जाति आदिका अध्यास कर्मका हेतु है, ज्ञानीको अध्यासका अभाव है

आत्मामें जाति, आश्रम और अवस्था आदिका अध्यास ही कर्मका हेतु है। उन-उन जाति, आश्रम और अवस्थाओंके अनुरूप ही भिन्न-भिन्न कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान है। अतः जाति आदिका अध्यास कर्मका हेतु है।

यद्यपि जाति, आश्रम और अवस्थाएँ देहके ही धर्म हैं। कर्मीको देहमें आत्म-बुद्धि नहीं है, किन्तु देहसे पृथक् आत्माको कर्ता मानता है यह बात पहिले कही गयी है। इसलिये आत्मामें जाति-आश्रमादिकी प्रतीति कर्मीको भी नहीं होती है। तो भी कर्मीको देहसे भिन्न आत्माका अपरोक्ष ज्ञान नहीं है, किन्तु शास्त्रजन्य परोक्ष ज्ञान है। देहमें आत्मज्ञान अपरोक्ष है। यदि कर्मीको देहसे भिन्न आत्माका ज्ञान अपरोक्ष होता तो वह ज्ञान देहमें अपरोक्ष आत्मज्ञानका विरोधी होता। परोक्ष ज्ञानका अपरोक्ष ज्ञानसे विरोध नहीं है। अतः देहसे भिन्न कर्ता आत्माका ज्ञान और देहमें आत्मज्ञान यह दोनों एकमें बन जाता है।

इसमें यह दृष्टान्त है कि पाषाण एवं काष्ठ आदिसे निर्मित मूर्तिमें शास्त्रजन्य परोक्ष ईश्वरका ज्ञान है। अपरोक्ष शिला आदिका भी ज्ञान है। इन दोनों ज्ञानोंमें विरोध नहीं है। एक पुरुषको दो बुद्धि होती है। जिसको रज्जुमें सर्पभिन्नत्व ज्ञान अपरोक्ष होता है उसको अपरोक्ष सर्पज्ञानकी भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। इस उक्तिसे अपरोक्ष भ्रान्तिका अपरोक्ष ज्ञानसे ही

विरोध है .परोक्ष ज्ञानसे विरोध नहीं होता—यह नियमसिद्ध है। अतः देहभिन्न आत्मामें परोक्ष ज्ञान तथा देहमें अपरोक्ष आत्मज्ञान एकको हो सकता है। यह दो ज्ञान भी कर्मका कारण है। आत्मा देहसे भिन्न भी कर्ता-भोक्ता है. यह ज्ञान कर्ममें हेतु है। यह आत्मामें कर्तृत्वज्ञान भ्रान्ति है। ज्ञानीको यह भ्रान्ति नहीं रहती है। अतः विद्वान्‌को कर्ममें अधिकार नहीं है।

देहमें अपरोक्ष आत्मबुद्धि यदि होती तो देहके जाति आदि धर्म प्रतीत होते। वह देहमें आत्मबुद्धि ज्ञानीको नहीं है। किन्तु ब्रह्मरूपसे ही आत्मामें अपरोक्ष ज्ञान है। इसलिये जाति-आश्रमादि-भ्रान्तिका अभाव होनेसे भी ज्ञानीको कर्ममें अधिकार नहीं है।

'मैं उपासक हूँ, देव उपास्य है' इस बुद्धिसे उपासना सिद्ध होती है। विद्वान्‌को उपास्य-उपासक भाव प्रतीत नहीं होता है। 'मेरे देहादि संघात और देवादिके देह भी स्वप्नवत् कल्पित हैं, एक चैतन्य ही है' यह विद्वान्‌को निश्चय है। अतः ज्ञान और उपासनामें भी विरोध है।

आकाशमें पक्षीके उड़नेका दृष्टान्त ठीक नहीं

पक्षीके दोनों पक्ष एक कालमें ही हैं। अतः इनमें विरोध नहीं है। ज्ञानका कर्म तथा उपासनासे विरोध है। अतः एक कालमें दोनोंका होना सम्भव नहीं है।

मोक्षके उद्देश्यसे ज्ञानको कर्म एवं उपासनाकी अपेक्षा नहीं

सेतु-दर्शन दृष्टान्त यहाँ युक्त नहीं

मोक्षके लिये कर्म तथा उपासना ज्ञानके सहायक हैं—इस विषयमें सेतु-दर्शनका दृष्टान्त संगत नहीं होता। सेतु-दर्शन दृष्ट फलका हेतु नहीं है। किन्तु अदृष्ट फलका हेतु है। जो फल प्रत्यक्ष प्रतीत होता है उसको प्रत्यक्ष फल कहते हैं। जैसे भोजनकी फलभूता तृप्ति प्रत्यक्ष फल है। अतः भोजन दृष्ट फलका हेतु है। वैसे ही सेतु-दर्शनसे कुछ भी प्रत्यक्ष फल नहीं प्रतीत होता है, किन्तु पापका नाशरूप फल शास्त्रसे ही जाना जाता है। जो

प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता उसको अदृष्ट फल कहते हैं। इसलिये जैसे यज्ञादि कर्म स्वर्गादि अदृष्ट फलका हेतु है वैसे सेतु-दर्शन भी पाप-नाशरूप अदृष्ट फलका ही हेतु है। जो अदृष्ट फलका हेतु है उसके फलोत्पादनमें सहायतार्थ जितनी सामग्रीका शास्त्र विधान करता है, उतनी सामग्रीसहित ही वह फलका हेतु होता है। वह केवल हेतु नहीं होता है। इसलिये श्रद्धा-भक्तिरहित सेतु-दर्शन फलका हेतु नहीं होता। सेतु-दर्शनसे प्रत्यक्ष कुछ भी फल नहीं देखा जाता। केवल शास्त्रसे ही उसका फल जाना जाता है। केवल शास्त्र श्रद्धा-नियमादिसहित ही सेतु-दर्शनको पापनाशक कहता है। केवल सेतु-दर्शनसे फल होता है इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं है। अतः सेतु-दर्शन अपने फलकी उत्पत्तिमें श्रद्धा-भक्ति-नियमादिकी अपेक्षा रखता है।

ज्ञानका फल मोक्ष नित्यप्राप्त होनेसे ज्ञानको कर्म-उपासनाकी अपेक्षा नहीं

तमनिवृत्तिमें दीपप्रभाके समान अपने फलकी उत्पत्तिमें ब्रह्मविद्या कर्म एवं उपासनाकी अपेक्षा नहीं रखती। क्योंकि ब्रह्मविद्याका फल भी यदि स्वर्गादि लोकवत् लोकविशेष अदृष्ट फल होता और यदि शास्त्र उस लोकविशेषको केवल ब्रह्मविद्यासे अप्राप्य कहकर कर्मोपासनासहित ब्रह्मविद्यासे उसकी प्राप्ति बतलाता, तब तो ब्रह्मविद्या भी सेतु-दर्शनवत् स्वफलोत्पत्तिमें कर्मोपासनाकी अपेक्षा करती। ब्रह्मविद्याका फलभूत मोक्ष स्वर्गादिवत् लोकविशेष अदृष्ट फल नहीं है, किन्तु मोक्ष नित्य प्राप्त है। बन्ध भ्रान्तिसे प्रतीत होता है। उस भ्रान्तिकी निवृत्ति ही ब्रह्मविद्याका फल है। केवल ब्रह्मविद्यासे उस भ्रान्तिकी निवृत्ति ब्रह्मविद् ज्ञानीको प्रत्यक्ष है, जैसे कि रज्जुके ज्ञानसे सर्पभ्रान्तिकी निवृत्ति प्रत्यक्ष सबको होती है। इसलिये अधिष्ठान ज्ञानका भ्रान्तिनिवृत्तिरूप दृष्ट ही फल है, अदृष्ट नहीं।

दृष्ट फलकी उत्पत्तिमें जितनी सामग्री साध्यतासे प्रत्यक्ष प्रतीत होती है उतनी सामग्री दृष्ट फलकी हेतु कही जाती है। जैसे तुरी-तन्तु-वेमादिसे पटकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष है, अतः तुरी-तन्तु-वेमादि पटके हेतु हैं। जैसे केवल

भोजनसे तृप्तिरूप फल प्रत्यक्ष है अतः केवल भोजन ही तृप्तिका हेतु है। अथवा जैसे केवल अधिष्ठानके ज्ञानसे भ्रान्तिनिवृत्ति प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। अतः अधिष्ठानज्ञान ही भ्रान्तिनिवृत्तिका हेतु है। जैसे रज्जुका ज्ञान भ्रान्तिकी निवृत्तिमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं करता है, उसी प्रकार बन्धकी भ्रान्तिका अधिष्ठानभूत नित्यमुक्त आत्मज्ञान भी बन्धरूप भ्रान्तिकी निवृत्तिमें कर्म तथा उपासनाकी अपेक्षा नहीं करता है।

केवल ज्ञान ही मोक्षका साधन है इसमें शास्त्रोंका प्रामाण्य

ज्ञानके फल मोक्षको स्वर्गादिके तुल्य लोकविशेष अदृष्ट अङ्गीकार करनेसे वेदवाक्यसे विरोध भी होगा। **"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।"** (बृ० ४ । ४ । ६) **"अत्र ब्रह्म समश्नुते।"** इत्यादि श्रुतियाँ 'ज्ञानीके प्राण किसी लोकमें नहीं जाते' यह वर्णन करती हैं।

मोक्षको लोकविशेष स्वीकार करनेपर स्वर्गादिके समान मोक्ष अनित्य होगा। मोक्षको लोकविशेष माननेपर भी केवल ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त होता है यह स्वीकार करना होगा। शास्त्रसे प्रतिपादित विषयको शास्त्रानुसार ही अङ्गीकार करना चाहिये। शास्त्र यह स्पष्ट कह रहे हैं कि केवल ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त होता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मु० २ । २ । ८)

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥
(श्वे० ६ । २०)

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति॥" (श्वे० ३ । ८)
"तरति शोकमात्मवित्॥" (छा० ७ । ३ । १)
"तमेवं विद्वानमृत इह भवति।"

"ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः॥" इत्यादि।

ये सभी मन्त्र केवल ज्ञानको ही मोक्षका हेतु वर्णन करते हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंको मोक्षके कारण नहीं कहते हैं।

कर्म एवं उपासना ज्ञानके साधन हैं, मोक्षके नहीं

वृक्षका दृष्टान्त भी असंगत

पूर्वपक्षीके द्वारा प्रदर्शित वृक्षका दृष्टान्त असंगत है। यद्यपि जलसेचन वृक्षकी उत्पत्ति तथा रक्षणमें कारण है, तथापि फलोत्पत्तिमें कारण नहीं है। क्योंकि बढ़े हुए वृक्षका जलसेचन उसके रक्षार्थ होता है फलार्थ नहीं। जलसेचनसे पुष्ट वृक्षमें फल होता है यह कहना ठीक है। किन्तु जलसेचन फलोत्पत्तिके प्रति हेतु नहीं है। इसी प्रकार कर्म और उपासना ज्ञानोत्पत्तिमें हेतु होता है, मोक्षमें नहीं। अतः ज्ञानोत्पत्तिके प्राक् अन्तःकरण-शुद्धिके लिये तथा चाञ्चल्य-निवृत्त्यर्थ कर्मोपासनाका अनुष्ठान करना चाहिये। ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तर मोक्षके लिये कर्मोपासना अनुष्ठेय नहीं है।

ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व भी जबतक अन्तःकरणमें मल-विक्षेप है तबतक कर्मोपासना अनुष्ठेय है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध एवं निश्चल हो गया है वह जिज्ञासु है। जिज्ञासुको श्रवणके विरोधी कर्मोपासनाको त्यागकर विविदिषा संन्यास कर लेना चाहिये।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
(गीता ६ । ३)

जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम्।
चित्तस्य शान्तये कर्म न तु वस्तूपलब्धये॥
वस्तुसिद्धिर्विचारेण नान्यथा कर्मकोटिभिः।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥

इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं। शमका अर्थ है संन्यास। मल नाम पापका है। उसका मूल कारण है अशुभ वासना। यावत्काल मल है तावत्काल अशुभ वासना है। जब अशुभ वासनाका उदय न हो तब मल नहीं है यह निश्चय करना चाहिये। अन्तःकरणकी चञ्चलता और एकाग्रता यह अनुभवसे ही सिद्ध है। अतः उत्तम जिज्ञासु विद्वान्‌के लिये कर्मोपासना निष्प्रयोजन ही सिद्ध होता है।

ज्ञानके विरोधी होनेसे कर्मोपासना ज्ञान-रक्षाके लिये भी उपयुक्त नहीं

पूर्वपक्षीने जो कहा कि ज्ञानरक्षाके लिये कर्मोपासना अनुष्ठेय है। जैसे जलसेचनसे उत्पन्न वृक्ष जलसे ही रक्षित होता है, जलसम्बन्धके अभावमें बढ़ा हुआ वृक्ष भी सूख जाता है। वैसे ही कर्म एवं उपासनासे उत्पन्न ज्ञान कर्मोपासनासे ही रक्षित होता है। यदि ज्ञानी कर्म-उपासना न करे तो पुनः अन्तःकरण अशुद्ध एवं चञ्चल हो जायगा। शुष्क भूमिमें वृक्षके तुल्य अशुद्ध तथा चञ्चल अन्तःकरणमें पूर्वोत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जायगा। इसलिये ज्ञानवान्‌को भी कर्मोपासनाका अनुष्ठान करना चाहिये। यह भी कहना ठीक नहीं है। आभाससहित अथवा चैतन्यविशिष्ट अन्तःकरणमें "अहम् असंग ब्रह्मैवास्मि" यह जो वृत्ति उदय होती है, वही वृत्ति वेदान्तमतमें फलरूप ज्ञान है। वह ज्ञान कर्मोपासनाके विना स्वयं नष्ट होता है अथवा चैतन्यस्वरूप ज्ञानमें लीन हो जाता है।

यदि यह कहें कि स्वरूपभूत ज्ञान तो नित्य है, अतः उसका विनाश या रक्षण युक्त नहीं है। परन्तु वेदान्तका फलभूत ब्रह्मविद्यारूप ज्ञान कर्मोपासनासे उत्पन्न होता है। तथा कर्मोपासनाके त्यागसे उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट होता है। अतः उसकी भी रक्षा करनेके लिये ज्ञानीको कर्मोपासनाका अनुष्ठान करना चाहिये, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। (१) सकृत्—एक बार उत्पन्न हुई ब्रह्माकारवृत्तिसे तत्काल ही अज्ञान और भ्रान्तिका नाशरूप फल सिद्ध होता है। अज्ञान एवं भ्रान्तिके नाशके अनन्तर पुनः

वृत्ति-रक्षाका उपयोग नहीं है। (२) कर्मोपासनासे अन्तःकरणकी वृत्तिकी रक्षा भी नहीं हो सकती। क्योंकि कर्मोपासनाके अनुष्ठान करनेसे कर्मोपासनाकी सामग्रीविषयक वृत्तिरूप ज्ञान होगा, ब्रह्मज्ञानविषयक वृत्ति नहीं होगी। वृत्त्यन्तर उत्पन्न होनेपर प्रथम वृत्ति नहीं रह सकती यह नियम है। इसलिये कर्मोपासना ज्ञानरूप वृत्त्युत्पत्तिमें परम्परासे हेतु होता है। उत्पन्न वृत्ति तो विरोधी होती है। अतः कर्मोपासनासे ज्ञानका रक्षण होना नहीं बनता है।

ज्ञानीके पाप एवं चाञ्चल्यके अभावमें कर्मोपासना उपयुक्त नहीं

शुभ कर्मके त्यागसे ज्ञानीको पाप सम्भव नहीं—(१) पूर्वपक्षीने जो कहा कि ज्ञानीको कर्म-त्यागसे पाप होगा। यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि शुभ कर्मका त्याग पापका हेतु नहीं होता है। किन्तु निषिद्ध कर्मानुष्ठान ही पापका हेतु होता है।

["नासतो विद्यते भावः" "कथमसतः सज्जायेत" इत्यादि वचनसे अभावसे भावकी उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है।]

भाष्यकार आदिने इस विषयको बहुत प्रकारसे जगह-जगह वर्णन किया है। अतः कर्मत्यागसे पाप सम्भव नहीं है। (२) ज्ञानीको पाप होना सम्भव भी नहीं है। क्योंकि पुण्य-पापका आश्रय अन्तःकरण परमार्थ नहीं है। "अतोऽन्यदार्तम्" (बृ० ३।७।२३) "न तु तद् द्वितीयमस्ति।" (बृ०.३।२३।३) "यत्र नान्यत्पश्यति।" (छा० ७।२।४१) इत्यादि। अविद्यासे मिथ्या वस्तु प्रतीत होती है। वह अविद्यासे मिथ्या प्रतीति ज्ञानीको नहीं होती है। अतः शुभ कर्मके त्यागसे ज्ञानीको पाप होना सम्भव नहीं है।

> अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम्।
> सञ्चितं विलयं याति पुण्यं वा पापमुल्बणम्॥
> यत्कृतं स्वप्नवेलायां पुण्यं वा पापमुल्बणम्।
> सुप्तोत्थितस्य किं तत्स्यात् स्वर्गाय नरकाय वा॥

पुण्यानि पापानि निरिन्द्रियस्य
निश्चेतसो निर्विकृतेर्निराकृतेः।
कुतो ममाखण्डसुखानुभूते-
र्ब्रूते ह्यनन्वागतमित्यपि श्रुतिः॥
हयमेधसहस्राण्यथवा कुरुताद्ब्रह्महतिलक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः॥

जीवन्मुक्तानन्दमें ब्रह्माकारवृत्ति ही कारण है, इससे भी ज्ञानीको कर्मोपासनाकी अपेक्षा नहीं

यहाँ यह सिद्धान्त है कि—मन्द एवं दृढ़ दो प्रकारका ज्ञान होता है। (१) संशयादिसहित ज्ञानका नाम मन्द ज्ञान है। (२) संशयादिरहित ज्ञान दृढ़ ज्ञान है। दृढ़ ज्ञानीको कुछ भी कर्तव्य नहीं है। एक बार उत्पन्न संशयादिरहित अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ज्ञान ही अविद्याका निःशेष नाश कर देता है, जैसे आलोक तमका। उस वृत्तिरूप ज्ञानका नाश होनेपर भी सम्यक् ज्ञात आत्मामें पुनः भ्रान्ति उदय नहीं होती। क्योंकि भ्रान्तिका कारण अविद्या एक बार उत्पन्न ज्ञानसे ही नष्ट हो जाती है। अतः भ्रान्ति एवं भ्रान्तिकी कारण अविद्याका अभाव होनेसे ज्ञानोत्पत्तिमें पुनः वृत्तिका कुछ प्रयोजन नहीं है।

जीवन्मुक्तानन्दकी अनुवृत्तिके लिये यदि किसी वृत्तिज्ञानकी अपेक्षा हो तो वह सदा बार-बार वेदान्तार्थका अनुचिन्तन करे। वेदान्तार्थानुसन्धानके बलसे ही ब्रह्माकारवृत्ति पुनः-पुनः उदय होगी। कर्मोपासनासे ब्रह्माकार-वृत्ति उदय नहीं होती है। अन्तःकरणकी शुद्धि एवं निश्चलता सम्पादन-द्वारा ही कर्मोपासना ज्ञानमें उपयोगी होते हैं, अन्य प्रकारसे नहीं हो सकते। विद्वान्के अन्तःकरणमें पाप तथा चाञ्चल्य नहीं है। अविद्या ही राग-द्वेषादिके द्वारा पाप और चाञ्चल्यका कारण होती है। वह अविद्या ज्ञानसे नष्ट हो जाती है। इसलिये विद्वान्के पाप एवं चाञ्चल्यके अभावमें कर्मोपासनाका कोई उपयोग नहीं होता है।

'ज्ञानीको भी अन्तःकरण-चाञ्चल्यकी निवृत्तिके लिये कर्मोपासना अनुष्ठेय है' इस आक्षेपका समाधान

यदि यहाँ यह आशङ्का करें कि राग-द्वेषादि अन्तःकरणके स्वाभाविक धर्म हैं। जितने कालपर्यन्त अन्तःकरण है उतने कालतक राग-द्वेषादि ज्ञानीके भी सर्वथा नष्ट नहीं होंगे। उस राग-द्वेषसे ज्ञानीके अन्तःकरणमें चाञ्चल्य होगा। अतः चाञ्चल्य-निवृत्त्यर्थ ज्ञानीको भी कर्मोपासनाका अनुष्ठान करना चाहिये। यद्यपि अन्तःकरणके चाञ्चल्यसे ज्ञानीकी विदेह-मुक्तिमें कुछ हानि नहीं है, तथापि चञ्चल अन्तःकरणमें स्वरूपानन्दका भान नहीं होगा। अतः जीवन्मुक्तिके आनन्द-प्राप्त्यर्थ अन्तःकरणके चाञ्चल्यको दूर करनेके लिये ज्ञानीको भी कर्मोपासनाका अनुष्ठान करना चाहिये। तो यह कहना भी संगत नहीं है। यद्यपि दृढ़ बोध जिसके अन्तःकरणमें है उस ज्ञानीको समाधि-विक्षेप दोनों समान हैं, इसलिये विद्वान्को चाञ्चल्य दूर करनेका कोई प्रयत्न कर्तव्य नहीं है। तथापि विद्वान्की प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रारब्धाधीन ही होती है। प्रारब्ध कर्म प्रतिप्राणि विलक्षण है—

(१) जनकादिके समान किसी विद्वान्के लिये प्रारब्ध कर्म भोगका कारण होता है। जिसका प्रारब्ध भोगका कारण है उसको प्रारब्धवश भोग-की इच्छा तथा भोग-साधन-सम्पादनमें प्रयत्न भी होता है। (२) शुकदेव, वामदेव आदिके तुल्य किसीका प्रारब्ध निवृत्तिका हेतु होता है। जिसका प्रारब्ध निवृत्तिका हेतु होता है उसको जीवन्मुक्तिके आनन्दकी इच्छा उत्पन्न होती है, भोगमें वैमनस्य होता है। जीवन्मुक्तिके आनन्दका इच्छुक निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनी रहे इसके लिये वेदान्तार्थका ही चिन्तन करे, उसे उपा-सना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि केवल अन्तःकरणके नैश्चल्यमात्रसे ब्रह्मा-नन्दका विशेषरूपसे भान नहीं होता है। किन्तु ब्रह्माकारवृत्तिसे ही होता है। वह ब्रह्माकाराकारित वृत्ति सतत वेदान्तार्थ-चिन्तनसे ही होती है, उपा-सनासे नहीं होती। विद्वान्के अन्तःकरणका चाञ्चल्य भी वेदान्तार्थ-विचारसे ही दूर होता है। अतः विद्वान्की अन्तःकरणमें नैश्चल्य सम्पादनके लिये भी

उपासनामें प्रवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार जिसको दृढ़ बोध है उसकी
कर्म एवं उपासनामें प्रवृत्ति नहीं होती।

दृढज्ञानी; अदृढज्ञानी और उत्तम जिज्ञासुको कर्मोपासनामें अधिकार नहीं

मन्द बोधवान् एवं उत्तम जिज्ञासु भी कर्मोपासनामें प्रवृत्त
नहीं होता है—

(१) जिसको मन्द बोध है वह भी मनन-निदिध्यासन ही करे, कर्मो-
पासना न करे। जिसको मन्द बोध है वही उत्तम जिज्ञासु है। उसको मनन
तथा निदिध्यासनके सिवा दूसरा कुछ कर्तव्य नहीं है। इस विषयको
शारीरकमें सूत्रकार एवं भाष्यकारने भी प्रतिपादन किया है।

(२) विद्वान्को मनन-निदिध्यासन भी कर्तव्य बुद्धिसे अनुष्ठेय नहीं
है। किन्तु जीवन्मुक्तिके आनन्दके लिये मनन-निदिध्यासनमें विद्वान् प्रवृत्त
होता है। वह प्रवृत्ति विद्वान्की स्वेच्छासे ही होती है, विधिसे नहीं।
"यद्यहं वेदाज्ञारूपं कर्म न कुर्यां तदा मे जननमरणादिरूपः संसारो
भवेत्" यदि मैं वेदके आज्ञारूप कर्मको न करूँ तो मुझे जनन-मरण संसार
प्राप्त होगा, इस बुद्धिसे किया हुआ कर्म ही कर्तव्य कहा जाता है। वह
जनन-मरणविषयक बुद्धि विद्वान्को नहीं होती है। अतः स्वेच्छासे ही
मनन-निदिध्यासनमें विद्वान् प्रवृत्त होता है। अतः उसके लिये मनन-
निदिध्यासन कर्तव्य नहीं है। इस प्रकार जिसको मन्द बोध अथवा दृढ़ बोध
हो गया है उसको कर्मोपासना कर्तव्य नहीं है।

[शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः॥
विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्ययात्।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम्॥

तत्त्वबोधशून्यको श्रवण, संशयवान्को मनन, विपर्यस्त (अन्यथा प्रति-
पन्न) को निदिध्यासन कर्तव्य कहा गया है। अज्ञान, संशय, विपर्ययसे
शून्य तत्त्ववित्को कुछ भी कर्तव्य नहीं है।]

जिसको बोध नहीं उत्पन्न हुआ है और उत्तम जिज्ञासु
है, या जो मन्द जिज्ञासु है इन दोनोंको भी कर्मोपासनाका
अधिकार नहीं—

(१) जिसको बोध उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु तीव्रतर आत्मज्ञानकी
इच्छा है, भोगकी इच्छा नहीं है उसका अन्तःकरण शुद्ध ही है। अतः
वह उत्तम जिज्ञासु कहा जाता है। उसको बोधके लिये श्रवणादिका ही
अनुष्ठान करना चाहिये, कर्मोपासनाका नहीं। कर्मोपासनाका फल अन्तः-
करणशुद्धि एवं निश्चलता उसको सिद्ध ही है।

(२) जो ज्ञानकी इच्छासे श्रवणादिमें तो प्रवृत्त होता है, किन्तु
जिसका अन्तःकरण भोगमें आसक्त है वह मन्द जिज्ञासु है। वह भी श्रवण
त्यागकर पुनः कर्मोपासनामें प्रवृत्त होने योग्य नहीं है।

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्।
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत कर्मचोदनाम्॥

कर्मोपासनाके फलभूत अन्तःकरणशुद्धि तथा नैश्चल्य श्रवणसे ही उसको
सिद्ध होते हैं। श्रवणकी आवृत्तिसे ही अन्तःकरणदोष-निवृत्तिद्वारा उसको
इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें अथवा ब्रह्मलोकमें ज्ञान होता है। आवृत्ति
नाम अभ्यास—पुनः-पुनः अनुष्ठान करनेका है। श्रवणको त्यागकर जो
कर्मोपासनामें प्रवृत्त होता है वह आरूढपतित कहलाता है।

[मोक्षके सोपान—सीढ़ीपर चढ़कर वहाँसे गिरे हुए आरूढपतितके
विषयमें "करस्थं पायसं त्यक्त्वा कूर्परं लेढि दुर्मतिः।" यह
करंलेढिन्यायका दृष्टान्त कहा गया है।

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम्।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत्॥]

इस प्रकार ज्ञानी तथा उत्तम जिज्ञासुको कर्मोपासनामें अधिकार नहीं

है। मन्द जिज्ञासु जो वेदान्त-श्रवणमें प्रवृत्त हो गया है उसको भी कर्मोपासनामें अधिकार नहीं है। जिसको ज्ञानकी इच्छा है, परन्तु श्रवणमें प्रवृत्त नहीं हुआ है उस मन्द जिज्ञासुको निष्काम कर्मोपासनामें अधिकार है। जिसको भोगकी ही इच्छा है, ज्ञानकी इच्छा नहीं है वह बहिर्मुख कहलाता है। उसका तो सकाम कर्ममें भी अधिकार है।

अतः ज्ञानीको कर्मोपासनामें अधिकार नहीं है; क्योंकि कर्मोपासनासे ज्ञानका विरोध है।

कर्मोपासनासे दृढ ज्ञानका विरोध नहीं है किन्तु मन्द ज्ञानका ही विरोध है—

यद्यपि कर्मोपासना भी अन्तःकरणशुद्धि एवं नैश्चल्य सम्पादनद्वारा ज्ञानोत्पत्तिके प्रति हेतु होता है तथापि ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तर कर्मोपासनाके अनुष्ठानसे उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट होगा इसलिये कर्मोपासना ज्ञानका विरोधी है, ज्ञानेच्छाका हेतु नहीं है।

(१) 'मैं कर्ता हूँ, यज्ञादि मेरा कर्तव्य है, यज्ञादिका फल स्वर्ग है' इस भेद-बुद्धिसे कर्मानुष्ठान होता है। (२) 'मैं उपासक हूँ, देव उपास्य है' इस भेद-बुद्धिसे उपासना की जाती है। ये दोनों बुद्धि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस बुद्धिको दूर करके ही होती है। इसलिये कर्मोपासना ज्ञानका विरोधी है।

यद्यपि ज्ञानी आत्माको असंग जानता है तथापि देहका भोजनादि व्यवहार अथवा जनकादिके तुल्य भोजनादिसे भी अधिक राज्यपालनादि व्यवहार करता ही है। उसके व्यवहारका ज्ञान विरोधी नहीं होता है और ज्ञानका विरोधी व्यवहार नहीं होता है। क्योंकि जिसने आत्मस्वरूपको ज्ञानसे असंग जाना है उस आत्मामें यदि व्यवहार प्रतीत हो तब तो व्यवहारका विरोधी ज्ञान होता और ज्ञानका विरोधी व्यवहार होता। विद्वान्‌को इस प्रकार आत्मामें व्यवहार नहीं प्रतीत होता है। 'समस्त व्यवहारका आश्रय देह है। व्यवहारसहित देहका आत्मासे सम्बन्ध नहीं

है।'—इस बुद्धिसे ज्ञानी समस्त व्यवहार करता है। अतः विद्वान्‌की प्रवृत्ति भी निवृत्ति ही है।

[जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद्यदि।
तदा विरोधि विद्यायाः भोगमात्रान्न सत्यता॥
यदि विद्याऽपह्नुवीत जगत्प्रारब्धघातिनी।
तदा स्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः॥
मायामयः प्रपञ्चोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक्।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः॥
अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपञ्चस्य वस्तुताम्।
नाप्यात्मजाड्यं किं त्वेषा साधनान्येव काङ्क्षति॥

उपर्युक्त श्लोकोंका तात्पर्य यह कि ज्ञान प्रारब्धजन्य व्यवहारका विरोधी नहीं होता।]

ज्ञानीके कर्म आभासरूप ही हैं

जैसे ज्ञानीका भोजनादिरूप व्यवहार ज्ञानका विरोधी नहीं होता, तथा "आत्मा असङ्गः, सर्वाः क्रिया मनोवाक्कायाश्रिताः" आत्मा असङ्ग है, समस्त क्रियाएँ मन, वाणी और शरीरके आश्रित होती हैं'—यह जानकर किया हुआ कर्मोपासना ज्ञानका विरोधी नहीं होता। यदि विद्वान् असङ्गरूपसे ज्ञात आत्माको कर्ता मानकर कर्मोपासना करे, तब तो वह कर्मोपासना ज्ञानका विरोधी होगा। वह यह आत्माका असंगत्वविषयक दृढ निश्चय विद्वान्‌को कर्मोपासनासे दूर नहीं होता है। इसलिये आभासरूप कर्मोपासना दृढ बोधका विरोधी नहीं है। इसी कारण जनकादि आभासरूप कर्मानुष्ठान किया करते थे।

आत्मा असंग है यह जानकर अन्य व्यवहारकी भाँति वैदिक कर्मादि अनुष्ठान भी देहादिके धर्म हैं यह जाननेवाले विद्वान्‌का किया हुआ शुभ कर्म भी कर्माभासरूप ही है। उसका भी ज्ञानके साथ विरोध नहीं है। भाष्यकार आदिने जो कर्मोपासनाका ज्ञानसे विरोध कहा है, वह आत्मा

कर्ता-भोक्ता हूँ' इस ज्ञानपूर्वक किये हुए कर्मोपासनाके विषयमें है। आभास रूप कर्मोपासनाके विषयमें नहीं।

मन्द बोधका कर्मोपासनासे विरोध

मन्द बोध आभासरूप होनेपर भी कर्मोपासनाका विरोधी है। संशयादिसहित बोधको मन्द बोध कहते हैं। जिसके अन्तःकरणमें 'आत्मा असङ्ग है किंवा नहीं' यह संशय होता है उसको 'आत्मा असङ्ग ही है, मुझको कुछ कर्तव्य नहीं है'—यह बार-बार अनुसन्धान करना चाहिये। इस प्रकारके अनुसन्धानसे कुछ कालमें संशय निवृत्त होकर दृढ बोध हो जाता है। ऐसा चिन्तन न करके यदि कर्मोपासनाका अनुष्ठान करता है तो उत्पन्न बोध भी नष्ट हो जाता है, 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' यह विपरीत निश्चय दृढ हो जाता है। अतः मन्द बोधके उदयसे पूर्व ही कर्मोपासनाका अनुष्ठान करना चाहिये, मन्द बोधके उदय होनेपर नहीं।

मन्द बोध उदय होनेपर जो पुरुष कर्मोपासनाका अनुष्ठान करता है तो उसका उत्पन्न हुआ बोध भी नष्ट हो जाता है। इसमें यह दृष्टान्त है कि जैसे पक्षिणी बच्चोंके पक्ष उत्पन्न होनेतक अपने अण्डोंको सेवन करती है। बच्चोंके पक्ष उत्पन्न होनेके अनन्तर अण्डोंकी रक्षा नहीं करती है। यदि पक्ष उत्पन्न होनेपर भी अण्डोंकी रक्षा करे तो अण्डोंके अन्तर्गत जलसे अत्यन्त कोमल बच्चोंके पंख द्रवीभूत होकर नष्ट हो जायँ। इसी प्रकार ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व ही कर्मोपासनाका अनुष्ठान करना चाहिये। ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तर भी कर्मोपासनाका अनुष्ठान करता है तो बालपक्षि-न्यायसे मन्द बोध भी विनष्ट हो जाता है। मातारूप वृद्ध पक्षिणीको जैसे अण्डेके सम्बन्धसे कुछ भी हानि नहीं होती है, वैसे ही दृढ ज्ञानीको कर्मोपासनासे कुछ भी हानि नहीं होती। ज्ञानीको मोक्षार्थ कुछ भी अनुष्ठेय नहीं होता है। इस प्रकार 'मोक्षका कारण क्या है?' इस तृतीय प्रश्नका उत्तर कहा गया।

उपसंहार—हे सोम्य! मेरे द्वारा किया हुआ उपदेश समस्त वेदका

सार है। इसलिये इसमें तुम श्रद्धा करो, इस विषयके ज्ञानसे इस जनन-मरण-प्रवाहरूप अपार संसार-महासमुद्रको अनायास पार कर जाओगे।

उपदिष्टार्थसंग्रह

जीवका स्वरूप—'जगत्‌का कर्ता ईश्वर है। वह तुम्हारे स्वरूपसे भिन्न नहीं है। तुम सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही हो।' इस प्रथम उपदिष्ट ही विषयका पुनः आचार्य कृपा करके शिष्यके प्रति संग्रहके रूपमें उपदेश करता है—'हे सोम्य! तुम दीनता त्यागकर अपने स्वरूपको जानो। जन्मादिरहित शुद्ध ब्रह्म ही तुम हो। समस्त दृश्य जगत्‌के तुम ही प्रकाशक हो। अपने अज्ञानसे समस्त जगत्‌की तुम ही रचना करते हो। तुम ही सबको अपनेमें संहार करके अविनाशीरूपसे अवशेष रहते हो। मिथ्या प्रपञ्चको देखकर किञ्चित् मात्र भी तुमको खेद नहीं होता है। तुम देवोंके भी देव हो। तुम अखण्डानन्दघन हो। जगत्, जीव एवं ईश्वरादि सब तुम्हारी मायासे स्वप्नवत्, रज्जु-सर्प और शुक्तिकामें रजतादिवत् प्रतीत होते हैं।' इस विषयमें ये श्लोक हैं—

दैन्यं परित्यज्य निजात्मरूपं
सच्चित्सुखं पश्य सदाऽद्वितीयम्।
जन्मादिशून्यं परमेव तत्त्वं
ब्रह्मासि शुद्धं निजबोधरूपम्॥
दृश्यं समस्तं दृगभिन्न आत्मा
त्वमेव विद्योतयसि स्वभासा।
स्वाज्ञानतः सर्वमिदं विसृज्य
पश्चाच्च संहृत्य विशिष्यसेऽजः॥
मिथ्याप्रपञ्चं दृष्ट्वापि न किञ्चित्खिद्यते तव।
मनो देवादिदेवोऽपि त्वमेव सुखनीरधिः॥
त्वन्मायावशतो भाति जगज्जीवेशविभ्रमः।
स्वप्नवद्रज्जुसर्पादिशुक्तिकारजतादिवत्॥

ज्ञानके साधन

मुमुक्षुको हेयवर्गका उपदेश—हे सोम्य ! पदार्थोंमें दृढ़ आसक्ति-रूप राग, लोभ, द्वेष और कामका त्याग करो। यहाँ राग, लोभ, द्वेष आदिका ग्रहण समस्त रजोगुणी मानस वृत्तिका उपलक्षण है। सकल राजस-तामस वृत्तियोंका समूल त्याग करो। क्योंकि राजस-तामस वृत्तियाँ ही ज्ञानकी विरोधी हैं। इन वृत्तियोंके उन्मूलनके विना ज्ञानका उदय नहीं हो सकता। अतः जिज्ञासुको इन वृत्तियोंकी निवृत्तिकी अपेक्षा अवश्य ही है। इस प्रकार जिज्ञासुको हेय वस्तुका उपदेश किया गया है।

ज्ञानके बहिरङ्ग साधन

विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता—ये चार ज्ञानके साधन हैं। इनमें विवेक प्रधान है। इसीलिये इसका नाम प्रथम आया है। विवेकसे ही वैराग्य आदि भी उत्पन्न होते हैं। अतः आचार्य शिष्यको विवेकका ही उपदेश पहिले करता है। हे सोम्य ! संसार-समुद्र मृग-तृष्णाके जलके समान मिथ्या है—यह बार-बार चिन्तन करो। संसारको मिथ्या कहनेसे मिथ्या संसारका कल्पनाधिष्ठानभूत आत्मा मिथ्या नहीं है, किन्तु सत्य है यह भी जानना चाहिये। बाजीगरके द्वारा रचित अद्भुत पदार्थोंको देखते हुए पुत्रको पिताने कहा—ये बाजीगरद्वारा दिखलाये हुए आम्रादि वृक्ष सब मिथ्या हैं। पिताके इस वचनको सुनकर पुत्र 'ऐन्द्रजालिक भी मिथ्या है'—यह नहीं जानता किन्तु उसको सत्य समझता है। इसी प्रकार 'जगत् मिथ्या है' इस उपदेशसे 'आत्मा सत्य है' यह शिष्य जाने—इस अभिप्रायसे आचार्यने 'संसार-समुद्र मिथ्या है' यह कहा है।

'जगत् मिथ्या, आत्मा सत्य है' यह गुरुने विवेकका उपदेश दिया। विवेक होनेपर इतर साधनोंका ज्ञान उपदेशके विना स्वयं हो जाता है। अतः विवेकोपदेशसे ही सब साधनोंका उपदेश अर्थात् सिद्ध हो गया—यह जानना चाहिये। ये ज्ञानके बहिरङ्ग साधन हैं।

ज्ञानके अन्तरङ्ग साधन श्रवणादिक ही हैं। हे शिष्य ! श्रवणरूप साधनसे ज्ञानरूप सूर्यको प्राप्तकर अज्ञानरूप तमका विनाश करो। तम अन्धकार और अज्ञानका नाम है। इसमें अन्धकार उपमान एवं अज्ञान उपमेय है। सादृश्यानुयोगी उपमेय होता है तथा सादृश्यप्रतियोगी उपमान—यह जानना चाहिये।

ज्ञानका स्वरूप

ज्ञानका स्वरूप सांख्य, न्याय आदि शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न वर्णन किया गया है। अतः यहाँ महावाक्यानुसार ज्ञानका स्वरूप वर्णन किया जाता है। जीव एवं ईश्वरके उपाधिभूत अविद्या और मायाभागको त्यागकर और उनसे प्रतीयमान जो भेद है उसको दूर करके उनका ज्ञानरूप जो चैतन्यांश है उसको भेदरहित जानो। इस प्रकार महावाक्योंमें भागत्याग लक्षणासे जीव और ईश्वरका एकत्व जानना चाहिये। इस वेदके सारको बार-बार चिन्तन करते हुए आत्माकी रक्षा करके, देहादिमें आसक्तिपूर्वक प्रपञ्चको मत देखो।

उक्त अर्थको ही पुनः संक्षेपसे कहते हैं—हे सोम्य ! तुम विनाशी देहादि संघातरूप नहीं हो। किन्तु अविनाशी ब्रह्मस्वरूप हो। वृक्षरूप संसार मिथ्या है। जैसे आकाशमें नैल्य, अधोमुख इन्द्रनील कटाहरूपत्वादि अविद्यमान भी मिथ्या प्रतीत होता है। उसी प्रकार संसार भी आत्मामें अविद्यमान ही मिथ्या प्रतीत होता है। कहा भी है—

अविद्यमानोऽप्यवभासते ह्यो-
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत्कर्म संकल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नाऽनर्थागमो यथा॥

इत्यादि श्रुति-स्मृतिसे संसारकी वृक्षके रूपकमें कल्पना होनेसे यहाँ भी संसारमें वृक्ष शब्दका प्रयोग किया गया है।

[(१) सबसे उत्कृष्ट होनेसे ऊँचा मायाविशिष्ट ब्रह्म ही जिसका मूल है, (२) महत्तत्त्व अङ्कुर है, (३) अहङ्कार स्कन्ध है, (४) पञ्च-तन्मात्रा जिसकी शाखाएँ हैं, (५) महत्तत्त्वादि सभी कार्यरूपके कारण निकृष्ट होनेसे जिसके नीचेकी शाखाएँ हैं, (६) वेदादिरूप शास्त्र ही प्ररोचनरूप मधुरवाक्योंसे जिसके अनित्यत्वादि दोषोंके आच्छादक होनेसे पर्ण (पत्ते) कहे गये हैं, (७) चार पुरुषार्थ जिसमें रस हैं, (८) धर्मा-धर्म जिसके पुष्प हैं, (९) जनन-मरणादि दुःख ही जिसके फल हैं, (१०) अज्ञानी जीव ही भोक्ता है और (११) वैराग्यद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप कुठार जिसका छेदक है—इस प्रकारका यह संसाररूप अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष है। इस रीतिसे शास्त्रोंमें संसाररूप वृक्षका अनेक प्रकारसे वर्णन किया गया है।]

मोक्षके साधन ज्ञानका प्रकारान्तरसे वर्णन

राग और वैराग्य ही क्रमसे अज्ञानी एवं ज्ञानीके चिह्न हैं

मोक्षका साधन ज्ञान ही है। इस विषयका प्रकारान्तरसे वर्णन करते हैं। हे सोम्य ! देहाभिमानीका नाम अज्ञानी है और देहाभिमानशून्यका नाम ज्ञानी।'' ये दोनों क्रमसे बन्ध और मोक्षके पात्र हैं। अज्ञानी बन्धका पात्र है और ज्ञानी मोक्षका पात्र है। राग और वैराग्य ये दोनों क्रमसे इनके ध्वज–चिह्न हैं। जैसे राजाके नगरकी ध्वजा होती है, उसी प्रकार राग अज्ञानीका चिह्न है और वैराग्य ज्ञानीका चिह्न है। यद्यपि अज्ञानियोंको भी वैराग्य उत्पन्न होता है, तथापि उनका वैराग्य ज्ञानियोंके वैराग्यसे विलक्षण होता है। हे सोम्य ! शब्दादि विषयोंमें सत्यत्वकी भ्रान्ति और रज्जुसर्पवत् विषय भ्रमरूप है—यह बुद्धिका निश्चय वायुसे लताके समान क्रमसे वैराग्य और रागको चलायमान करता रहता है। राग एवं वैराग्यको शिथिल नहीं

होने देता है। विषयोंमें सत्यत्वबुद्धि रागके शैथिल्यको दूर करती है। विषयोंमें भ्रमत्व—मिथ्यात्वबुद्धि वैराग्यके शैथिल्यको दूर करती है।

> विषै विषै सत्यभ्रम, भ्रम मति वात तात।
> हललात प्रात रात, घरी न ठहरात है ॥

ज्ञानी-अज्ञानीके वैराग्यमें वैलक्षण्य-प्रदर्शन तथा अज्ञानियों-के अन्तःकरणके साक्ष्यविषयकत्वका और ज्ञानियोंके अन्तःकरण-के साक्षिविषयकत्वका वर्णन—

ज्ञानीको यह निश्चय है कि विषय असत्य है, अतः इसमें जो सत्यत्व-बुद्धि है वह भ्रान्ति ही है। भ्रान्तिज्ञान एवं उसके विषयभूत मिथ्या वस्तु दोनोंको ही भ्रम कहते हैं। इस उक्तिसे ज्ञानीके वैराग्यकी अपेक्षा अज्ञानी-के वैराग्यमें भेद कहा गया। क्योंकि अज्ञानीका जो वैराग्य है वह विषयमें मिथ्यात्वबुद्धिसे उत्पन्न नहीं है, किन्तु तात्कालिक विषयदोषज्ञानसे उत्पन्न है। इसीलिये वह मन्द वैराग्य होता है। 'विषय मिथ्या है' ऐसी बुद्धि अज्ञानीको उदय नहीं होती है।

(१) यद्यपि शास्त्र और युक्तिसे अज्ञानी भी 'विषय मिथ्या है' यह जानता है। तथापि 'विषय मिथ्या है' यह अपरोक्ष बुद्धि ज्ञानीको ही होती है। शास्त्रज्ञ अज्ञानीको भी अपरोक्ष बुद्धि नहीं होती है। अतः अज्ञानीकी विषयमें सत्यत्वबुद्धि परोक्ष विषयमिथ्यात्वबुद्धिसे ही निवृत्त होती है, अपरोक्ष बुद्धिसे नहीं। इस रीतिसे अज्ञानीको जब विषयमें वैराग्य होता है तब यह परोक्ष ही मिथ्यात्वबुद्धि रहती है। इसलिये अज्ञानीकी परोक्ष मिथ्यात्वबुद्धि दृढ वैराग्यमें हेतु नहीं होती, किन्तु प्रबल सत्यत्वबुद्धिसे विषयोंमें राग ही होता है। कदाचित् होनेवाले वैराग्यमें विषयोंमें मिथ्यात्व-बुद्धि हेतु नहीं है, किन्तु तात्कालिक विषयदोषज्ञान ही हेतु है। इसीको श्मशान वैराग्य भी कहते हैं।

(२) ज्ञानी समस्त प्रपञ्चको अपरोक्ष—प्रत्यक्ष मिथ्या जानता है। इस अपरोक्ष बुद्धिसे प्रत्यक्ष सत्यत्वबुद्धि निवृत्त हो जाती है। अतः रागके हेतुभूत विषयमें सत्यत्वबुद्धि ज्ञानीको नहीं होती है। वैराग्यकी हेतुभूत विषय-मिथ्यात्वबुद्धि ही रहती है। यदि ज्ञानीको विषयमें सत्यत्वबुद्धि हो तो पुनः रागोद्भव होकर वैराग्य नष्ट हो जायगा। किन्तु अपरोक्ष मिथ्यात्व-निश्चयज्ञानसे पुनः विषयमें सत्यत्वबुद्धि नहीं होती है। जैसे अपरोक्षरूपसे मिथ्याज्ञात रज्जु-सर्पमें पुनः सत्यत्वबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है, वैसे ही ज्ञानी-को पुनः विषयमें सत्यत्वबुद्धि नहीं होती है। इस रीतिसे ज्ञानीको रागकी उत्पत्ति और वैराग्यकी निवृत्ति सम्भव नहीं। इसीलिये ज्ञानीका वैराग्य दृढ होता है।

(३) अज्ञानीका विषयदोषदृष्टिजन्य वैराग्य कुछ कालमें नष्ट हो जाता है। क्योंकि जिस कालमें विषयमें दोषदृष्टि होती है उसी विषयमें कालान्तर-में सम्यक्त्वबुद्धि होती है। जैसे सभी पुरुषोंको पशुधर्मके अन्तमें दोषदृष्टि होती है, किन्तु पुनः दूसरे क्षणमें उसीमें सम्यक्त्वबुद्धि हो जाती है। इसी-लिये अज्ञानीको दृढ वैराग्य नहीं है।

इस प्रकार अज्ञानी और ज्ञानीके क्रमसे राग एवं वैराग्यरूप लिङ्ग—चिह्न कहकर अन्य भी अज्ञानी और ज्ञानीके चिह्न कहते हैं। जैसे प्रासाद—किलेके ऊपर राजादिकी मूर्तिरूप चिह्न होता है, उसी प्रकार (१) बन्धके पात्र अज्ञानीके अन्तःकरणमें साक्ष्य—विषयकी मूर्ति होती है, (२) मोक्षके पात्र ज्ञानीके अन्तःकरणमें साक्षी—द्रष्टाकी मूर्ति होती है। साक्षीके विषयभूत प्रपञ्चको साक्ष्य कहते हैं। (१) साक्ष्यरूपा मूर्ति मलिन है। (२) साक्षीरूप मूर्ति शुद्ध है। उस साक्ष्यरूप मूर्तिमें आसक्त रागी है। साक्षिरूप मूर्तिमें आसक्त त्यागी विरागी है। चञ्चल भ्रमरूप जगत्को जो अपना स्वरूप मानता है वह दुःखस्वरूप कूपमें डूबता है। अचल ब्रह्म-को ही अपना स्वरूप माननेवाला आनन्दस्वरूप होता है।

महावाक्यार्थज्ञान

त्रिविध लक्षणाका निरूपण

पहिले भागत्याग लक्षणाका वर्णन किया गया है। उसमें हेतु-वर्णनके लिये यहाँ लक्षणाके भेद कहे जाते हैं।

त्रिविध लच्छना कहत हैं, कोविद बुद्धिनिधान।
जहती अरु अजहती पुनि, भागत्याग जिय जान ॥
आदि दोइ नहिं सम्भवैं, महावाक्यमैं तात।
भागत्यागतैं रूप निज, ब्रह्मरूप दरसात ॥

पण्डित लोग (१) जहती लक्षणा, (२) अजहती लक्षणा, (३) भागत्याग लक्षणा—यह तीन प्रकारकी लक्षणा कहते हैं। उनमें प्रथम दो तो महावाक्यार्थज्ञानमें उपयोगी नहीं हैं। महावाक्यार्थ भागत्याग लक्षणासे बोद्धाको निजस्वरूपभूत ब्रह्मका बोध कराता है।

'लक्षणाका सामान्य स्वरूप क्या है ?'

शिष्यका प्रश्न—स्वामिन् ! सामान्य ज्ञानके अनन्तर विशेष ज्ञान होता है। जैसे 'यह ब्राह्मण है' यह सामान्य ज्ञान होनेपर 'सारस्वत है या द्रविड है' यह विशेष ज्ञान होता है, उसी प्रकार लक्षणाके सामान्य ज्ञानके अनन्तर ही विशेष रूप जाननेकी इच्छा होती है। अतः लक्षणाका सामान्य स्वरूप दिखलाकर जहती आदि विशेष स्वरूपका तत्तत् लक्षण आदिके वर्णन-पूर्वक बोध करायें।

शक्ति एवं लक्षणा नामक दो वृत्तियोंका वर्णन

गुरुका उत्तर—हे सोम्य ! एकाग्र होकर मेरी बात सुनो, तब लक्षणा एवं उसके भेदोंको जानोगे। पदके अर्थके साथ जो सम्बन्ध है उसका नाम वृत्ति है। वह वृत्ति शक्ति तथा लक्षणाभेदसे दो प्रकारकी होती है। उनका लक्षणके सहित स्वरूप सुनो।

[वत्सका गौके साथ जो सम्बन्ध है, इसी सम्बन्धसे वत्स बहुत-सी गौओंके मध्यमें विद्यमान अपनी माताको जानकर उसके समीप जाता है। सम्बन्धके विना नहीं जान सकता है। इस वत्सकी प्रवृत्तिसे वत्स और गौका जन्यजनकभावरूप सम्बन्ध जाना जाता है। इस प्रकारके जन्यजनक-भावरूप सम्बन्ध-ज्ञानके प्रति हेतुभूत वत्सकी प्रवृत्तिको ही सम्बन्ध कहा जाता है।]

इसी प्रकार शब्दोंकी अपने-अपने अर्थमें प्रवृत्ति भी इन दोनों (शब्द और अर्थ) के किसी सम्बन्धके विना नहीं हो सकती। अतः शब्दका अपने अर्थसे वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध है तथा लक्ष्यार्थके साथ लक्ष्यलक्षकभाव-रूप सम्बन्ध जाना जाता है। दो प्रकारके इस सम्बन्धको स्मार्यस्मारकभाव-रूप सम्बन्ध भी कहते हैं। (१) वाच्यरूप अथवा लक्ष्यरूप अर्थ पदसे ही स्मरणके योग्य होता है। इसलिये अर्थ स्मार्य कहलाता है। (२) वाचक-रूप अथवा लक्षकरूप शब्द उस अर्थका स्मारक—स्मरण करानेवाला होता है। अतः शब्दको स्मारक कहते हैं। इस कारण शब्द और अर्थका परस्पर स्मार्यस्मारकभावरूप सम्बन्ध है। इस सम्बन्धज्ञानके प्रति हेतुभूत शब्दकी अपने अर्थमें जो प्रवृत्ति है, वही शब्दार्थके साथ सम्बन्ध है—ऐसा कहते हैं। इस प्रकार प्रवृत्तिरूप सम्बन्धको शब्दकी वृत्ति कहते हैं। यह वृत्तिरूप सम्बन्ध कहीं शक्तिरूप होता है, कहीं लक्षणारूप होता है।

इस प्रसंगमें यह भी जानना चाहिये कि—(१) वेदान्तशास्त्रमें वृत्ति शब्द अन्तःकरणके अथवा अविद्याके परिणामका नाम है। (२) 'वर्तनम्' —व्यवहार अथवा स्थितिको भी वृत्ति कहते हैं। (३) कहीं जीवनके साधनको भी वृत्ति कहते हैं। (४) प्राणके व्यापारका भी वृत्ति नाम है। (५) व्याकरणशास्त्रमें किसी विभागका नाम भी वृत्ति है। इन सब अर्थों-मेंसे शब्दके अर्थसे सम्बन्धरूप वृत्ति ही इस ग्रन्थमें वृत्तिका शब्दार्थ ग्रहण किया गया है, अन्य अर्थ नहीं।

शब्दगत जो स्वार्थावबोधनसामर्थ्य है उसीको शब्दशक्ति कहते हैं। वह शक्तिरूपा वृत्ति कपालद्वयके मध्यमें स्थित कपाल-संयोगके समान अथवा

कार्यकारणात्मक दो पदार्थके मध्यमें स्थित समवायसम्बन्धके तुल्य अथवा तादात्म्य सम्बन्धवत् शब्द और अर्थके मध्यमें स्थित है। इसलिये वही शक्ति शब्दके अर्थके साथ विद्यमान होकर शक्तिवृत्तिरूप साक्षात् सम्बन्ध होती है। यह साक्षात् सम्बन्धरूपा शक्तिवृत्ति (१) योग, (२) रूढि, (३) योगरूढि—तीन प्रकारकी है।

(१) जिस शब्दमें अपने अवयवके योग (मेलन) से अर्थज्ञानका सामर्थ्य है, उस शब्दका अपने अर्थके साथ योगशक्तिरूप सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध ही शब्दकी योगवृत्ति कहलाती है। जैसे 'पादरक्षा' इस पदमें 'पाद' एवं 'रक्षा'—ये दो अवयव हैं। इन दोनों अवयवोंके योगसे कण्टकादिसे पादत्राणरूप अर्थका ज्ञान होता है। इसलिये 'पादरक्षा' इस पदका अपने पादत्राणरूप अर्थसे योगशक्तिरूप सम्बन्ध है।

(२) जिस पदका अवयवोंसे अर्थ नहीं होता, किन्तु 'इस पदका यही अर्थ है' यही पदार्थबोधनविषयक संकेत जिस पदके साथ जिस अर्थसे है, उस पदका उस अर्थके साथ रूढिशक्तिरूप सम्बन्ध है। वही सम्बन्ध शब्दकी रूढिवृत्ति कही जाती है। जैसे 'उष्णीष' (पगड़ी) इस शब्दके अवयवोंसे किसी अर्थका बोध नहीं होता, किन्तु 'उष्णीष' इस पदसे शिरोवेष्टनरूप अर्थ लोकमें प्रतीत होता है। यही उष्णीष पदका शिरोवेष्टनरूप अर्थके साथ रूढिशक्तिरूप सम्बन्ध है।

(३) जिस पदके अवयवोंसे जिस अर्थका बोध होता है उसका उसी अर्थमें लोकमें संकेत भी होता है, उस पदकी उसी अर्थमें योगरूढि यह उभयरूप शक्ति है। जैसे 'अङ्गरक्षा' इस पदमें 'अङ्ग' तथा 'रक्षा' यह दो अवयव हैं। इन दोनोंके योगसे 'चोल'—कञ्चुक (पहननेका वस्त्र) इस अर्थका ज्ञान होता है। यहाँ पादरूप अङ्गका रक्षण करनेवाली पादुकाका बोध करानेके लिये 'अङ्गरक्षा' शब्दका प्रयोग नहीं होता, किन्तु कञ्चुक—पहननेके वस्त्ररूप अर्थका ही बोध करानेके लिये 'अङ्गरक्षा' शब्दका प्रयोग होता है। इसीलिये 'अङ्गरक्षा' इस शब्दका अपने अर्थ कञ्चुकके साथ योगरूढि इस उभयरूप शक्तिसे सम्बन्ध है। (यहाँ पङ्कजादि शब्द प्रसिद्ध

उदाहरण हैं) इस प्रकार शब्दोंकी तीन प्रकारकी शक्तिवृत्ति 'मुख्यवृत्ति' कही जाती है ।

शब्दके शक्तिवृत्तिरूप सम्बन्धसे होनेवाले साक्षात् अर्थको शक्यार्थ कहते हैं । जैसे 'पिता' शब्दका शक्तिवृत्तिरूप साक्षात् सम्बन्ध 'जनक' रूप अर्थके साथ है । अतः 'पिता' शब्दका शक्तिवृत्तिरूप सम्बन्धसे जाननेयोग्य साक्षात् सम्बन्धी जनकरूप अर्थ ही 'पिता' शब्दका शक्यार्थ कहा जाता है ।

लक्षणाका जो विषय है उसको लक्ष्य कहते हैं । लक्षणा नाम शक्यके सम्बन्धका है । वह लक्षणा 'केवल लक्षणा' तथा 'लक्षित लक्षणा' के भेदसे दो प्रकारकी है । उनमें शक्यके साक्षात् सम्बन्धका नाम केवल लक्षणा है । जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलमें गङ्गापदवाच्य प्रवाहके साथ साक्षात् सम्बन्धवाले तीरमें गङ्गापदकी केवल लक्षणा है । एवं जिस स्थलमें शक्यके साथ परम्परारूप सम्बन्धसे अर्थान्तरकी प्रतीति होती है वहाँ लक्षित लक्षणा है । जैसे 'द्विरेफ' पद दो रेफोंमें शक्त है उसीकी भ्रमरपदघटित परम्परा-सम्बन्धसे मधुकरमें लक्षित लक्षणा है । अथवा जैसे 'सिंहो माणवकः' इसमें सिंह शब्द वाच्यके सम्बन्धी शौर्य्य, क्रौर्य आदि हैं, इस शौर्य्य-क्रौर्य्यादि धर्मसम्बन्धसे माणवककी प्रतीति लक्षित लक्षणा है । यहाँ "स्ववाच्यार्थसम्बन्धी सम्बन्धाश्रयत्व" स्वपरम्परा-सम्बन्धसे लक्षित लक्षणासे लक्षित अर्थका भान होता है ।]

शक्तिके लक्षण

न्यायमतसे शक्ति-लक्षण

'घट' इस पदके श्रवणमात्रसे कलशरूप अर्थका ज्ञान सबको होता है, यह ईश्वरेच्छा ही न्यायमतमें शक्ति कही जाती है ।

पदनिष्ठ अर्थज्ञानोत्पादनसामर्थ्यको पदशक्ति कहते हैं—यह सिद्धान्तमें शक्तिका लक्षण—

(१) घट शब्दको सुनते ही कलशरूप अर्थके ज्ञान करानेकी घट

शब्दमें निष्ठ जो सामर्थ्य है वही घट शब्दकी शक्ति है । इसी प्रकार पटशब्दको सुननेसे वस्त्ररूप अर्थके बोधन करानेकी जो पटशब्दनिष्ठ सामर्थ्य है उसीको पटकी शक्ति कहते हैं । इस प्रकार समस्त पदोंके तत्तत् अर्थका बोधन करानेवाली तत्तत्पदनिष्ठ सामर्थ्यको तत्तत्पदकी शक्ति जानना चाहिये ।

इसमें दृष्टान्त—जैसे अग्निमें स्वसम्बद्ध पदार्थको जलानेकी सामर्थ्यरूप शक्ति है वैसे ही श्रोताके श्रवणेन्द्रियसे संयुक्त शब्दकी स्वसम्बन्धसे अर्थ-ज्ञान उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यरूप शक्ति है । अग्निमें दाहकत्व शक्तिके समान जलमें सेचकत्व, दाहशान्तिकरत्व और चूर्णको पिण्डी करनेकी सामर्थ्य भी है । इस सामर्थ्यका नाम ही शक्ति है । इसी प्रकार सब पदार्थोंमें अपने-अपने कार्य करनेकी सामर्थ्य है । वह सामर्थ्य ही शक्ति है यह श्रुतिका सिद्धान्त है । इस अर्थको मनमें निश्चय करके धारण करो । नैयायिकोंका सिद्धान्त त्याज्य है ।

आक्षेप—वर्णके समुदायरूप पदमें पदसे पृथक् कोई शक्ति नहीं है, अतः ईश्वरेच्छा ही शक्ति है । अग्निके स्वरूपके अतिरिक्त शक्ति नामका कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता है । दाहकी हेतुभूत वह्निनिष्ठ सामर्थ्य ही वह्निकी शक्ति है यह कहना युक्त नहीं है । अग्निमें केवल दाह हेतुत्व है । अप्रसिद्ध सामर्थ्यकी अग्निमें कल्पना करके अग्निमें दाहका कारणत्व माननेका और अग्निनिष्ठ प्रसिद्ध दाहका हेतुत्व त्यागनेका कोई प्रयोजन नहीं है । जैसे दृष्टान्तमें अग्निकी शक्ति नामकी कोई वस्तु पृथक् भान नहीं होती, उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक पदोंमें भी अक्षरसमुदायात्मक पदस्वरूपके अतिरिक्त कोई शक्ति भान नहीं होती । ऐसी शक्ति स्वीकार करनेसे प्रयोजन भी नहीं है । अतः न्यायमतमें ईश्वरेच्छारूप शक्ति मानना ही युक्त है ।

पूर्वोक्त आक्षेपका समाधान

अग्नि आदिमें अग्निके अतिरिक्त दाहादि कार्य करनेकी सामर्थ्यरूप शक्तिका वर्णन—

हे सोम्य ! प्रतिबन्ध होनेपर प्रज्वलित भी अग्निसे दाह नहीं होता है

और उत्तेजक पदार्थके सान्निध्यमें अग्निसंयुक्त पदार्थ किसी प्रतिबन्धके होनेपर भी जल जाता है। विना शक्तिके केवल अग्निको दाहका हेतु माननेसे, उत्तेजकसहित प्रतिबन्धकाल और प्रतिबन्धरहित कालके समान उत्तेजक-रहित प्रतिबन्धकालमें भी दाह होना चाहिये। क्योंकि दाहका हेतु अग्नि उस कालमें भी है। हमारे मतमें तो अग्निनिष्ठ शक्ति अथवा शक्तिसहित अग्नि दाहका कारण है, केवल अग्नि दाहका हेतु नहीं है। अतः दोष नहीं है। प्रतिबन्धककी सद्भावदशामें प्रतिबन्धकसे अग्निका नाश या तिरोभाव नहीं होता है। किन्तु अग्निनिष्ठ शक्तिका नाश या तिरोधान हो जाता है। इसलिये दाहके हेतुभूत अग्निकी शक्तिका या शक्तिविशिष्ट अग्निका अभाव होनेसे दाह नहीं होता है। जहाँ प्रतिबन्धकके समीपमें उत्तेजक वस्तु नहीं है वहाँ प्रतिबन्धक अग्निकी शक्तिको तिरोधान या नाश करता है। उत्तेजक पुनः शक्तिको उत्पन्न या आविर्भाव कर देता है। अतः प्रतिबन्धक होनेपर भी उत्तेजकके माहात्म्यसे दाहक शक्तिका अथवा शक्तिविशिष्ट अग्निका सद्भाव होनेसे दाह उत्पन्न हो जाता है। इस रीतिसे प्रतिबन्धकसे विनष्ट होती हुई उत्तेजकसे पुनः उत्पन्न होकर अग्निकी शक्ति ही दाहकी कारण होती है। कार्यके विरोधीको प्रतिबन्धक कहते हैं। प्रतिबन्धक रहनेपर भी जो कार्यसाधक है उसको उत्तेजक कहते हैं। अग्निके विषयमें प्रति-बन्धक और उत्तेजक मणि, मन्त्र और औषधादि हैं। इनमेंसे जिसके सान्निध्यसे दाह नहीं होता वह प्रतिबन्धक है तथा जिसके सान्निध्यसे प्रति-बन्ध रहते हुए भी दाह होता है वह उत्तेजक है।

हे सोम्य! अग्निके समान जलादि समस्त पदार्थोंमें स्थित तत्तत् कार्य करनेवाली शक्ति है यह जानो। विना शक्तिके कोई भी कारण कुछ भी कार्य नहीं उत्पन्न कर सकता। इस प्रकार शक्तिका प्रयोजन कहा गया। अग्निस्वरूपके अतिरिक्त शक्ति नहीं है—इस आक्षेपके समाधानरूपसे शक्तिके सद्भावमें अनुभव सुनो। प्रतिबन्धकके सद्भावमें अग्नि प्रज्वलित है तो भी अग्निमें शक्ति (दाह-सामर्थ्य) नहीं है। पश्चात् उत्तेजक पदार्थके सद्भावमें शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह शक्तिसद्भावविषयक अनुभव सिद्ध

पुरुषोंके विनोद देखनेसे सभीको होता है, इसका कोई अपलाप नहीं कर सकता। अनुमिति-प्रमात्मक यह अनुभव किसी प्रकारसे बाधित नहीं किया जाता। इस प्रकार सिद्धान्तानुसार शक्तिका स्वरूप तथा प्रमाण निरूपण किया गया है।

शक्तिविषयमें मतान्तर-खण्डन

ईश्वरेच्छा ही शक्ति है यह नैयायिकोंका कथन ठीक नहीं है। ईश्वरेच्छा तो ईश्वरनिष्ठ धर्म है, पदका धर्म नहीं। ईश्वरेच्छाका पदनिष्ठत्व सम्भव नहीं है। अतः उसको पदशक्ति नहीं कह सकते। शक्ति पदका धर्म है, पदमें निष्ठ है, अतः पदमें है यह कहना युक्त है। इसलिये पदनिष्ठ अर्थके अवबोधन-सामर्थ्यको ही पदशक्ति कहते हैं।

[जैसे कुम्भकार (कुलाल) को घट बनानेकी इच्छा कुलालके आश्रय है, अतः कुलालका धर्म है, घटका नहीं। वैसे ही 'यह शब्द इसी अर्थका बोधन करे' यह ईश्वरेच्छा ईश्वरके आश्रय है, अतः ईश्वरका ही धर्म है, शब्दका धर्म नहीं। इसलिये ईश्वरेच्छा ईश्वरकी शक्ति है, पदकी शक्ति नहीं।]

वैयाकरणकी रीतिसे शक्तिका लक्षण

पदनिष्ठ अर्थकी योग्यताको ही शक्ति कहते हैं। 'घट' पदमें कलशरूप अर्थज्ञानकी हेतुतारूप योग्यता है। वह योग्यता ही शक्ति है। यह विषय हरिकारिकाको प्रमाण मानकर वैयाकरणभूषण नामक ग्रन्थमें वर्णित है।

वैयाकरणमत-खण्डन

अर्थज्ञानकी हेतुतारूप योग्यताको शक्ति माननेवालेसे यह पूछना चाहिये कि आपके मतमें पदमें सामर्थ्य है अथवा नहीं? प्रथम पक्षमें तो हमारे सिद्धान्तके अभिमत शक्ति ही स्वीकार है। द्वितीयमें लोकप्रसिद्ध सामर्थ्यरूप शक्ति ही पदशक्ति स्वीकार हो जाती है। पदनिष्ठ अर्थबोधकी हेतुतारूप योग्यता पदशक्ति है यह नहीं सिद्ध होता।

इसका तात्पर्य यह कि पदमें सामर्थ्य स्वीकार करें तो तादृश सामर्थ्यसे भिन्न शक्त्यन्तर स्वीकार करना युक्त नहीं है। किन्तु सामर्थ्य ही शक्ति है यही अङ्गीकार करना युक्त है। क्योंकि सामर्थ्य, बल, जोर और शक्ति इन पदोंका एकार्थबोधकत्व प्रसिद्ध है। इसी कारण लोकमें सामर्थ्यरहित पुरुष-को 'अशक्तोऽयम्' यह अशक्त है ऐसा कहते हैं। और भर्जित-प्ररोह (उत्पत्ति) में असमर्थ बीजको देखकर इस बीजमें अङ्कुर उत्पादन करनेकी शक्ति नहीं है ऐसा कहते हैं। इस प्रकार सामर्थ्य और शक्ति इन दोनों शब्दोंमें एकार्थत्व लोकमें प्रसिद्ध है। अग्निमें भी सामर्थ्यरूप ही शक्ति निश्चित है। अतः शब्दमें भी सामर्थ्यको ही शक्तित्व स्वीकार करना उचित है। पदमें सामर्थ्य मानकर तद्विलक्षण योग्यताको शक्ति अङ्गीकार करें तो लोकप्रसिद्धिका विरोध होगा। यदि सामर्थ्यको ही योग्यता कहें, तब तो हमारा ही मत सिद्ध होता है।

यदि वैयाकरण यह कहें कि सामर्थ्य स्वीकार करें तब तो पदमें सामर्थ्य-रूप शक्ति हो सकती है किन्तु हम सामर्थ्य स्वीकार ही नहीं करते हैं। अतः "अर्थज्ञानजनकत्वरूप योग्यता" ही पदकी शक्ति है। तब उनको यह पूछना चाहिये कि सामर्थ्य क्या केवल पदमें ही नहीं स्वीकार करते हैं अथवा अग्नि आदि समस्त पदार्थोंमें भी। द्वितीय पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि आदि सब पदार्थोंमें सामर्थ्यरूप शक्तिका सद्भाव पहिले ही युक्तिसे सिद्ध हो चुका है। पदमें केवल अर्थबोधजनकत्वरूप योग्यता ही शक्ति है, उसके अतिरिक्त सामर्थ्य नहीं है—इस प्रथम पक्षमें, द्वितीय पक्षमें कहा हुआ दोष तो नहीं है। क्योंकि वह्नि आदि सर्व पदार्थमें शक्ति नहीं मानें तो प्रतिबन्धकके सान्निध्यमें दाहादिका अभाव नहीं बनता—यह जो अन्त्य पक्षमें दोष है, वह दोष प्रथम पक्षमें यद्यपि नहीं है। तथापि पदमें सामर्थ्य न माननेका अर्थ यह होगा कि पद असमर्थ है अर्थात् पदमें सामर्थ्य नहीं है। 'असमर्थ पद योग्य है यानी सामर्थ्यहीन पद अर्थज्ञानको उत्पन्न करता है' यह वैयाकरणका सिद्धान्त होगा। परन्तु यह सिद्धान्त असंगत है। भाव यह कि 'पद तो असमर्थ है किन्तु अर्थज्ञानका जनक है' यह कथन ऐसा

है जैसा "अयं नपुंसकः, तथापि अमोघवीर्यः" 'यह नपुंसक है तथापि अमोघवीर्य है', इस उक्तिके समान अत्यन्त व्याहत—विरोधयुक्त है। सामर्थ्यसे युक्त समर्थ है, सामर्थ्यहीन असमर्थ है। असमर्थसे कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता—यह लोकप्रसिद्धि है। अतः असमर्थ पदसे अर्थज्ञानरूप कार्य भी नहीं हो सकता। इसलिये पदमें सामर्थ्य अवश्य स्वीकार करना चाहिये। इसी प्रकार भर्जित बीजमें अङ्कुर-उत्पत्ति हेतुत्वके तुल्य असमर्थ पदमें अर्थबोधका हेतुत्व असम्भव होनेसे अर्थबोधहेतुत्वरूप योग्यता पदकी शक्ति नहीं हो सकती। किन्तु वह योग्यता पदके जिस सामर्थ्यसे सम्पन्न होती है वह सामर्थ्य ही पदकी शक्ति है यह स्वीकार करना चाहिये। इससे लोकप्रसिद्ध सामर्थ्य ही शक्ति है यह स्वीकार करनेमें कुछ भी दोष नहीं है।

भट्टके मतसे शक्तिका लक्षण

पदका अर्थके साथ तादात्म्यरूप जो सम्बन्ध है वही शक्ति है—यह भट्टमतानुयायी कहते हैं और इस तादात्म्यरूप सम्बन्धको भेदाभेदस्वरूप बतलाते हैं।

[कुमारिल भट्टको ही भट्टपाद इस नामसे कहते हैं। यह मण्डन-मिश्र और प्रभाकरके गुरु हैं। जैमिनीय पूर्व मीमांसाकी इन्होंने वार्तिकरूप-से रचना की है।

पदके अर्थके साथ तादात्म्यरूप सम्बन्धका अभिप्राय यह है कि अभावसादृश्य भिन्न है, प्रतियोगिसापेक्ष और ज्ञानके विषयको ही यहाँ सम्बन्ध कहते हैं। जिससे जिस वस्तुका सम्बन्ध होता है उसके अधिकरणको अनुयोगी कहते हैं। और जो वस्तु संयोगी है उसको प्रतियोगी कहते हैं। सम्बन्ध अनेक प्रकारके होनेपर भी संयोग, समवाय और तादात्म्य—ये तीन प्रधान हैं।

(क) इनमें दो द्रव्यके सम्बन्धको 'संयोग' कहते हैं। यह संयोग तीन प्रकारका होता है—(१) कर्मज संयोग, (२) संयोगज संयोग और (३) सहज संयोग। जिसकी उत्पत्तिमें क्रिया असमवायिकारण (निमित्त) है, वह 'कर्मज संयोग' है। यह कर्मज संयोग दो प्रकारका है—अन्यतर कर्मज

और उभय कर्मज। एककी क्रियासे जन्य अन्यतर कर्मज है, जैसे पक्षीसे वृक्षके साथ होनेवाला संयोग। तथा उभय-क्रियासे जन्य संयोग उभय कर्मज है, जैसे मेषद्वयका सम्बन्धजन्य दोनोंका संयोग है। और संयोगरूप असमवायिकारणजन्य 'संयोगज संयोग' है। जैसे हस्त एवं वृक्षके संयोगसे काय (शरीर) और वृक्षका संयोग यह संयोगज संयोग है। और जन्मतः सिद्ध सम्बन्धको 'सहज संयोग' कहते हैं। जैसे सुवर्णमें पार्थिव भाग और तैजस भागका विद्यमान सम्बन्ध सहज संयोग है।

(ख) नित्य सम्बन्धको समवाय सम्बन्ध कहते हैं। न्यायमतमें गुण-गुणीका, जाति-व्यक्तिका, क्रिया-क्रियावान्का और कार्य-कारण (अवयवावयवी) का सम्बन्ध 'समवाय' है।

(ग) न्यायमतमें स्वरूपसम्बन्धको ही 'तादात्म्य' सम्बन्ध कहते हैं। पूर्व मीमांसाके वार्तिककार भट्टने अपने मतमें स्वल्पभेदसहित अभेदको तादात्म्य कहा है। वेदान्त-सिद्धान्तमें भेदाभेदसे विलक्षण सम्बन्धको 'तादात्म्य' कहते हैं। इसीका नाम अनिर्वचनीय तादात्म्य भी है। भेदसे विलक्षण कहनेसे वास्तविक अभेद सिद्ध है। और अभेदसे विलक्षण कहनेसे कल्पित भेद सिद्ध होता है। इसलिये सिद्धान्तमें कल्पित भेदविशिष्ट वास्तविक अभेद ही तादात्म्य सिद्ध होता है। गुण-गुणी आदिके न्यायमतमें कहे हुए समवायके स्थानमें भट्ट और वेदान्तीको तादात्म्य सम्बन्ध ही अभीष्ट है। वह तादात्म्य तीन प्रकारका है—सहज तादात्म्य, कर्मज तादात्म्य और भ्रान्तिजन्य तादात्म्य।

(१) सहज तादात्म्य—चित् अहंकारमें प्रतिफलित होता है। चित्प्रतिबिम्ब और अहंकार दोनों मिलकर तप्त लौहपिण्डके समान एकीभूत हो चैतन्यवत् भान होता है। इस प्रकार चित्प्रतिबिम्बसे युक्त अहंकारका ही सहज तादात्म्य नाम है। उत्पत्तिदशामें ही दोनों मिले-जुले ही उत्पन्न हैं, अतः चित् एवं अहंकारके तादात्म्यको ही 'सहज तादात्म्य' कहते हैं।

(२) चित्प्रतिबिम्बयुक्त चिदाभासमान अहंकारका स्थूल शरीरसे जो सम्बन्ध है उसको 'कर्मज तादात्म्य' कहते हैं। जाग्रत्के भोगप्रद कर्मकी

उत्पत्तिमें तत्कर्मज तादात्म्य ही होता है। उस कर्मका नाश होनेसे उस कर्मसे होनेवाला तादात्म्य भी नष्ट हो जाता है। कर्मकी उत्पत्ति होनेसे कर्मज तादात्म्यकी उत्पत्ति हो जाती है। कर्मके अभावमें कर्मज तादात्म्यका भी अभाव होता है। जाग्रत्-सुषुप्ति आदिमें वैसा देखा जाता है।

(३) 'मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, ब्रह्मचारी या गृहस्थ हूँ' इत्यादि चित्तवृत्तिसहित अहंकारके अहंशब्दार्थभूत साक्षीके साथ तादात्म्यको 'भ्रान्तिज तादात्म्य' कहते हैं। सबको अभीष्ट आत्मस्वरूप ही अहंरूपसे प्रतीत होता है। अज्ञानाधीन भ्रान्तिजन्य होनेसे इसका भ्रान्तिज तादात्म्य नाम है। न्यायमतमें कहे हुए गुण-गुणी आदि सम्बन्धरूप समवायके स्थानमें वेदान्ती और भट्टके मतमें तादात्म्य कहा जाता है। इन दोनोंके तादात्म्यमें भेद भी है। केवल भेदमें तादात्म्य नहीं हो सकता। अभेद-प्रतीति विषयके तादात्म्य-कथनमें केवल भेदके आश्रयमें अभेद-प्रतीति असम्भव होती है। अतः तादात्म्य सम्बन्धमें अभेद आवश्यक है। और केवल अभेदमें सम्बन्ध ही नहीं सिद्ध होता। दोका ही सम्बन्ध सम्भव होता है। अपनेसे आपका नहीं। इसलिये सर्वत्र सम्बन्धमें भेद आवश्यक है। अतः तादात्म्य सम्बन्धमें भेदकी भी अपेक्षा है। इस प्रकार भेदाभेदके बिना तादात्म्य नहीं बन सकता। यद्यपि विरोध होनेसे भेदाभेदका सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं होता, तथापि पहिले कही हुई रीतिसे कल्पित भेदसहित वास्तविक अभेदका एकत्र सामानाधिकरण्य होता है। इसीको अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं।]

भेदाभेदवादी भट्टका तात्पर्य यह है कि—(१) अग्नि इस शब्दका अङ्गाररूप अर्थसे अत्यन्त भेद नहीं है। अत्यन्त भेद होनेसे तो जैसे अग्नि शब्दसे अत्यन्त भिन्न जलादि पदार्थ प्रतीत नहीं होते, वैसे ही अग्नि शब्दसे उसके अङ्गाररूप अर्थसे अत्यन्त भिन्न अग्निरूप पदार्थ भी नहीं प्रतीत होगा। अतः भेद नहीं है।

(२) जैसे शब्दका अपने अर्थसे अत्यन्त भेद नहीं है उसी प्रकार अत्यन्त अभेद भी नहीं है। यदि वाच्य-वाचकमें अत्यन्त अभेद हो, तब तो

अग्नि शब्दके वाच्यार्थभूत अङ्गारसे जैसे मुख जलता है, वैसे ही अग्नि शब्दके उच्चारणमात्रसे भी मुखमें दाह होना चाहिये। किन्तु अग्नि शब्दके उच्चारणसे मुखमें दाह नहीं होता। अतः वाच्य-वाचकमें अत्यन्त अभेद भी नहीं है।

उपर्युक्त युक्तिसे अग्नि शब्दका अङ्गाररूप अर्थके साथ भेदसहित अभेद है। भेद होनेसे मुखमें दाह नहीं होता है। अभेद होनेसे अग्नि पदसे अङ्गाररूप अर्थकी प्रतीति होती है। जैसे अग्नि इस पदका अङ्गार-रूप अर्थसे भेदसहित अभेद है उसी प्रकार उदक, वन, नीर और जीवन आदि पदोंका जलरूप अर्थसे भेदसहित अभेद है। उदक शब्दसे जलरूप अर्थका अत्यन्त भेद हो तब तो जैसे उदक आदि शब्दसे अत्यन्त भिन्न अग्नि आदि अर्थ उदक शब्दसे नहीं प्रतीत होते, वैसे ही जलरूप अर्थ भी उदकादि पदसे नहीं प्रतीत होता। इसलिये अत्यन्त भेद नहीं है। एवं उदक शब्दसे जलरूप अर्थका अत्यन्त अभेद भी नहीं है। अत्यन्त अभेद होनेसे जलके सम्बन्धसे मुखमें शैत्यवत् उदकादि शब्दके उच्चारणसे भी मुखमें शीतलता होनी चाहिये। किन्तु उदकादि शब्दोच्चारणसे मुखमें शीतलता नहीं होती। अतः उदकादि पदोंका जलरूप अर्थसे अत्यन्त अभेद भी नहीं है। इस प्रकार शब्द और अर्थमें भेदसहित अभेद होनेसे दोनों प्रकार-के दोष नहीं हैं।

इसी प्रकार सर्वत्र अपने-अपने वाच्यसे वाचकका भेदसहित अभेद है। इसी भेदसहित अभेदको भट्टमतानुयायी तादात्म्य सम्बन्ध और भेदाभेद सम्बन्ध भी कहते हैं। इस प्रकार भेदाभेदरूप सम्बन्ध ही सर्वपदनिष्ठ अपने-अपने वाच्यार्थ-ज्ञानजनक शक्ति है। तादात्म्य सम्बन्धसे अन्य सामर्थ्यरूप शक्ति नहीं है यह भट्टका मत है। भेदाभेद-पक्षमें युक्ति कही गयी। प्रमाण भी आगे कहते हैं।

भेदाभेद-पक्षमें प्रमाण—माण्डूक्य आदि वेद-वाक्योंमें "ओमित्येतदक्षरं ब्रह्म" यह कहा गया है। यहाँ व्याकरणकी रीतिसे स्वप्रकाश-

रूप, सबका रक्षक ओंकारका अर्थ है। इसी प्रकारका ब्रह्म है। अतः 'ओंकार' यह अक्षर ब्रह्मका वाचक है, तथा ब्रह्म वाच्य है। वाच्यवाचकमें यदि अत्यन्त भेद होता तो वाचक ओंकाररूप अक्षरका एवं वाच्यभूत ब्रह्मका उपनिषदोंमें अभेद नहीं कहा जाता, किन्तु अभेद सुना जाता है— "ओमिति ब्रह्म"। अतः वाच्य-वाचकके अभेदमें वेद-वाक्य ही प्रमाण है।

['अव' रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु" इन उन्नीस अर्थोंमें 'अव' धातु है। "अवतेष्टिलोपश्च" इस औणादि सूत्रसे 'अव' धातुसे मन् प्रत्यय है। मन् प्रत्ययकी टिका लोप होकर 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' इत्यादि सूत्रसे उपधा वकारको ऊठ् सम्प्रसारण करके अनुबन्ध ठका लोप होकर गुण करनेसे 'ओम्' सिद्ध होता है। श्रुतिमें यह ओंकार ही सार माना गया है। यह सर्वमय भी है। सर्वात्म ब्रह्मस्वरूपकी अभिव्यक्तिका हेतु भी कहा गया है।]

लोकप्रसिद्धिसे वाच्य-वाचक भेद सिद्ध ही है। जैसे अग्नि आदि शब्द वाणीके आश्रित हैं। उनके अर्थ अङ्गार आदि पदार्थ वाणीके बाहर चुल्ली आदि स्थानमें हैं, वैसे ही 'ओम्' यह अक्षररूप पद भी वाणीमें है और इसका अर्थभूत परब्रह्म वाणीमें नहीं है। किन्तु वाणीसे बाहर अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है। यद्यपि व्यापक होनेसे वाणीमें भी ब्रह्म है, तथापि ब्रह्मके अभावमें भी वाणी ब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित है, वाणीमें ब्रह्म नहीं। इस रीतिसे शब्द वाणीमें और अर्थ वाणीसे बाहर है—यह सब लोगोंमें प्रसिद्ध है। अतः पद एवं अर्थमें भेद प्रसिद्ध है। इस प्रकार वाच्य-वाचकमें सर्वानुभव प्रमाण है तथा अभेदमें वेदवचन प्रमाण है। यह पदका अपने-अपने अर्थोंसे भेदाभेद तादात्म्य सम्बन्ध अप्रामाणिक नहीं है, किन्तु प्रमाणसिद्ध है।

प्रसंग (वाच्यवाचकभावस्थल) से अन्यत्र भी भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्धका वर्णन—

रूप, रस और गन्धादि गुण हैं। इनका आश्रयभूत द्रव्य गुणी है।

अनेकमें समवेत रहनेवाले एक धर्मको जाति कहते हैं। जैसे समस्त ब्राह्मण-शरीरोंमें ब्राह्मणत्व एक ही रहता है, वैसे ही सब पुरुषोंमें पुरुषत्व और सब घटोंमें घटत्व भी एक ही रहता है। लोकमें ब्राह्मणत्व, पुरुषत्व आदि जिसको कहते हैं यहाँ ब्राह्मणादि शरीरमें ही ब्राह्मणत्व, पुरुषत्वादि जाति रहती है। ब्राह्मणत्वादि जातिके आश्रयभूत ब्राह्मणादि शरीरको व्यक्ति कहते हैं। गमनागमनादिको क्रिया कहते हैं। जिसमें क्रिया हो उस क्रियाके आश्रयको कर्ता कहते हैं। इतने पदार्थोंमें तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। इसको जानकर कार्यकारणरूप वस्तुमें भी गुण-गुणी आदिके समान तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ देना चाहिये।

इसका अभिप्राय यह है कि गुण-गुणीके समान कार्य-कारणका भी तादात्म्य सम्बन्ध है। गुण-गुणीका परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध ही है। उसी प्रकार जाति-व्यक्ति, क्रिया-क्रियावान्‌का भी परस्पर तादात्म्य ही सम्बन्ध है। इसी प्रकार कार्य-कारणका भी तादात्म्य ही सम्बन्ध है। तादात्म्यका अर्थ है भेदसहित अभेद। निमित्त कारणका कार्यसे परस्पर भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। उपादान कारण एवं कार्यका भेदाभेदरूप तादात्म्य ही सम्बन्ध है। घटका निमित्त कारण कुलाल एवं दण्डादि है उसका घटादि कार्यसे अत्यन्त भेद है। उपादान कारणभूत मृत्पिंड एवं उसके कार्य घटादिमें भेदसहित अभेद ही है।

मृत्पिण्डसे घट यदि अत्यन्त भिन्न हो तो अत्यन्त भिन्न तैल आदिके समान (अर्थात् जैसे मृत्पिण्डसे तैल आदि नहीं उत्पन्न होते वैसे ही) घट भी मृत्पिण्डसे उत्पन्न नहीं होता। उपादान कारणका अपने कार्यसे यदि अत्यन्त अभेद हो तब तो मृत्तिकासे घट उत्पन्न ही नहीं होता। अपने-अपने स्वरूपसे अपनी उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये उपादान कारणका अपने कार्यसे भेदसहित ही अभेद है। अभेद माननेसे भेद-पक्षमें कहा हुआ दोष उपस्थित होगा। यदि भेद मानें तो अभेद-पक्षमें कहा हुआ दोष होगा। इस प्रकार उपादान कारणका अपने कार्यसे भेदाभेदरूप सम्बन्ध युक्तिसे सिद्ध होता है।

प्रतीतिसे भी उपादान कारण एवं कार्यका भेदाभेद सिद्ध होता है। 'यह मृत्तिका है', 'यह घट है'—इस प्रतीतिसे भेद सिद्ध होता है। विचार करनेपर घटके बाहर और भीतर मृत्तिकासे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं प्रतीत होती, किन्तु मृत्तिका ही प्रतीत होती है। अतः अभेद सिद्ध होता है। इस प्रकार उपादान कारण तथा कार्यमें भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध है। इसी युक्तिसे गुण-गुणीका भी भेदाभेद सम्बन्ध है। घटरूपका घटसे यदि अत्यन्त भेद हो तो जैसे घटसे पटका अत्यन्त भेद है; वह घट पटके आश्रित नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र है, वैसे ही घटका रूप भी घटके आश्रित नहीं रहेगा, किन्तु स्वतन्त्र ही रहेगा। गुण-गुणीका यदि अत्यन्त अभेद हो तो भी घटका रूप घटके आश्रित नहीं होगा। क्योंकि अपना आश्रय आप नहीं हो सकता है। इसलिये गुण-गुणीका भी भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध है। यही युक्ति जाति-व्यक्ति और क्रिया-क्रियावान्‌के भी भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्धमें जाननी चाहिये। खण्डन करने योग्य मतोंके अनेक युक्तियोंसे खण्डनमें कुछ प्रयोजन नहीं है, अतः अन्य युक्तियाँ नहीं कही गयी हैं।

भट्टमत-खण्डन

वाच्य-वाचकका भेदाभेदरूप तादात्म्य असंगत है

एक वस्तुका एक अधिकरणमें भेद और अभेद दोनोंका सामानाधिकरण्य विरुद्ध है। इसलिये चारों स्थलोंमें जो भेदाभेदरूप तादात्म्य कहा वह सब विरुद्ध है ऐसा युक्तिविद् कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि—(१) एक घटमें अपना अभेद तथा अन्य वस्तुके भेदका सामानाधिकरण्य यद्यपि है तथापि जिसका अभेद है उसीका भेद उसमें नहीं है और जिसका भेद है उसका अभेद नहीं है। इस अभिप्रायसे एक वस्तुका भेदाभेद विरुद्ध है—ऐसा कहते हैं। (२) एक घटका अपनेमें अभेद और अन्यमें यद्यपि भेद है, तो भी जहाँ अभेद है वहाँ भेद नहीं है तथा जहाँ भेद है वहाँ अभेद नहीं है। इस अभिप्रायसे एक वस्तुके एक अधिकरणमें भेदाभेदको विरुद्ध कहते हैं।

और भी बात है कि भेदाभेदका परस्पर विरोध है। एक ही वस्तुमें जिसका भेद है उसका अभेद और जिसका अभेद है उसका भेद विरुद्ध ही है। अतः वाच्य-वाचक, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्के उपादान कारण एवं उसके कार्यमें भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करना असंगत ही है।

जो यह कहा गया कि वाचक शब्द वाणीमें और वाच्यार्थ बाहर है—यह लोकप्रसिद्ध भेद है। तथा श्रुतिमें ओंकाररूप अक्षरको ब्रह्म कहे जानेसे अभेद सिद्ध है, अतः वाच्य-वाचकमें भेदाभेद प्रमाणसिद्ध है।

इसपर कहते हैं कि प्रणवरूप ओंकार अक्षर और परब्रह्मका वेदमें अभेद कहा है। वह वेदका वाच्य-वाचकमें अभेद कहनेमें तात्पर्य नहीं है। उसका तात्पर्य गूढ है। जहाँ-जहाँ 'ओंकार यह अक्षर ब्रह्म है' यह कहा गया है वहाँ-वहाँ 'ओंकार'—यह अक्षर ब्रह्मरूपसे उपास्य है, इस अर्थमें वाक्यका तात्पर्य है, परब्रह्म और ओंकार अक्षरके अभेदमें तात्पर्य नहीं है। इस तात्पर्यको भट्टने नहीं जाना है।

प्रनववर्न अरु ब्रह्मको, कह्यो जु वेद अभेद।
तामें अन्य रहस्य कछु, लख्यो न भट्ट सु भेद॥

जैसी उपासनाका विधान किया गया है उसके उपास्यका वैसा ही स्वरूप है—यह नियम नहीं है। किन्तु वस्तुके स्वरूपको त्यागकर रूपान्तरसे भी वस्तु उपास्य होती है। जैसे सालग्रामकी विष्णुरूपसे, बाणलिङ्गकी शिवरूपसे उपासनाका शास्त्रोंमें उपदेश है, वहाँ शङ्ख, चक्र और गदादियुक्त, चतुर्भुजविशिष्ट मूर्ति सालग्राममें नहीं है और बाणलिङ्गमें भी गङ्गासे अलंकृत, जटाजूट, डमरू-कपालादिसे युक्त, भद्रामुद्रासे शरणागतोंको गुणातीत आत्मतत्त्वका उपदेश करनेवाली मूर्ति नहीं है। किन्तु सालग्राम एवं बाण शिलारूप ही है; परन्तु शास्त्रकी आज्ञासे शिलादृष्टिको त्यागकर सालग्राम और बाणमें क्रमसे विष्णुस्वरूपसे एवं शिवस्वरूपसे

उपासना की जाती है। इसलिये उपास्यस्वरूपके अधीन उपासना नहीं होती है, किन्तु विधिके अधीन होती है। जैसे शास्त्र विधान करता है वैसे ही उपासना करनी चाहिये।

छान्दोग्य उपनिषद् (५ । ३ । १०) में पञ्चाग्निविद्याके प्रकरणमें—द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योषित् (स्त्री) रूप पाँच पदार्थोंमें अग्निदृष्टिसे उपासना करनी चाहिये—यह विधि है। इसमें द्युलोकादि अग्नि नहीं है एवं न श्रद्धा आदि आहुतियाँ हैं। किन्तु वेदाज्ञासे द्युलोकादिरूप अग्निमें श्रद्धादिकी आहुतिरूपसे उपासना की जाती है। इसी प्रकार 'ओम्' इस अक्षरके वस्तुतः ब्रह्मस्वरूपत्वके अभावमें भी उसे ब्रह्मस्वरूपसे उपास्य कहा गया है। उपासना-वाक्यमें वस्तुके अभेदकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु भिन्न वस्तु भी अभिन्नरूपसे उपास्य होती है।

विचार करनेपर ब्रह्मके वाचक 'ओङ्कार' इस अक्षरका तो वाच्य ब्रह्मसे अभेद बनता है, किन्तु कलशादि जडरूप अर्थके वाचक घट आदि पदोंका अपने वाच्य जडरूप अर्थोंसे अभेद नहीं बनता है। तो भी सभी नाम-रूप ब्रह्ममें कल्पित होनेसे ब्रह्म सबका अधिष्ठान होता है। ओङ्कार भी ब्रह्मका नाम है। अतः ब्रह्ममें ओङ्कार कल्पित है। कल्पित वस्तु अधिष्ठानसे अभिन्न होनेसे अधिष्ठानस्वरूप ही होती है। इसलिये 'ओङ्कार' यह अक्षर ब्रह्मस्वरूप ही है। घट आदि पदोंका जडरूप अपना अर्थ अधिष्ठान नहीं है, किन्तु अपने वाच्यके सहित घटादि वाचक शब्द ब्रह्ममें कल्पित हैं। अतः घट-पटादि शब्दोंका भी ब्रह्म अधिष्ठान है। सबका कारण एवं सर्वाधिष्ठान होनेसे सब घटादि पदोंका ब्रह्मसे अभेद हो सकता है। किन्तु घटादि पदों (शब्दों) का जडरूप अपने वाच्योंसे अभेद किसी भी प्रमाणसे नहीं हो सकता। इसलिये भट्टका अभिमत वाच्य-वाचकका अभेद सम्भव नहीं, अतः असंगत है।

केवल वाच्य-वाचकमें भेद माननेवालेके मतमें भट्टने जो दोष दिखाया है वह दोष सिद्धान्तमें सामर्थ्यरूप शक्तिको स्वीकार करनेवालोंके मतमें सम्भव नहीं होता। भट्टका दिखाया हुआ दोष इस प्रकार है—

यदि घट पदका वाच्यार्थ घट पदसे अत्यन्त भिन्न हो तो जैसे घट पदसे अत्यन्त भिन्न पटरूप अर्थ उससे नहीं प्रतीत होता, वैसे ही कलश-रूप अर्थ अत्यन्त भिन्न होनेसे घट पदसे कलशरूप अर्थ भी नहीं प्रतीत होगा। और भी बात है कि घट पदके वाच्य कलशको घट पदसे अत्यन्त भिन्न मानकर उसकी घट पदसे प्रतीति स्वीकार करनेमें जैसे घट पदसे अत्यन्त भिन्न कलशरूप अर्थ प्रतीत होता है वैसे ही अत्यन्त भिन्न पट-रूप अर्थ भी प्रतीत होना चाहिये।

इसमें यह कहते हैं कि यह दोष सामर्थ्य अथवा इच्छारूप शक्ति न स्वीकार करनेवालोंके मतमें होगा, सामर्थ्यरूप शक्ति माननेवालोंके मतमें यह दोष नहीं होता। सिद्धान्तमें वाच्य-वाचकमें भेद स्वीकार है। तथापि घट पदका वाच्य कलश और उसका अवाच्य पट—ये दोनों भी घट पदसे अत्यन्त भिन्न ही हैं। तो भी पटादिरूप अर्थान्तर-ज्ञानोत्पादन शक्ति नहीं है, घट पदमें कलशरूप अर्थ-ज्ञानोत्पादन शक्ति ही है। अतः घट पदसे कलशरूप अर्थकी ही प्रतीति होती है, अर्थान्तरकी प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार जिस पदमें जिस अर्थके बोधनकी शक्ति है उस पदसे उसी अर्थ-का बोध होता है, अर्थान्तरका ज्ञान नहीं होता। अतः वाच्य-वाचकमें भेद होनेपर भी कोई दोष नहीं है। भेदाभेदका परस्पर विरोध होनेसे तथा इन दोनोंमें एकत्र सामानाधिकरण्य सम्भव न होनेसे वाच्य-वाचकमें भेद-सहित अभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता।

उपादान-कारण एवं कार्योंमें भेदाभेदरूप तादात्म्य भी दुर्घट है—

भेदाभेदका परस्पर विरोध होनेसे तथा इन दोनोंके सामानाधिकरण्य-का अभाव होनेसे उपादान कारणका अपने कार्यसे भेदसहित अभेद नहीं है। इन दोनोंमें केवल भेद है। केवल-भेद-पक्षमें भट्टके द्वारा कहा हुआ दोष नैयायिकोंके मतमें और सामर्थ्यरूप शक्तिवादी सिद्धान्तीके मतमें सम्भव नहीं है। उपादान कारण एवं इसके कार्योंमें अत्यन्त भेद माननेमें

भट्टने यह दोष दिखाया है कि 'मृत्पिण्डसे अत्यन्त भिन्न घट यदि मृत्पिण्डसे उत्पन्न हो तब तो मृत्पिण्डसे अत्यन्त भिन्न तैलकी भी उत्पत्ति होनी चाहिये। क्योंकि ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। मृत्पिण्डसे यदि तैल नहीं उत्पन्न होता है तब अत्यन्त भिन्न होनेसे घट भी मृत्पिण्डसे-नहीं उत्पन्न होगा। क्योंकि भिन्नतामें कोई विशेषता नहीं है।'

[सामर्थ्यरूप शक्तिवादी सिद्धान्तीके मतमें उपादान कारणका कार्यसे अत्यन्त भेद नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध है। तो भी दोनोंमें अत्यन्त भेद कहा गया है वह प्रौढिवाद है। 'प्रौढिर्नाम स्वमाहात्म्यं, वादः—कथनम्' अर्थात् अपना माहात्म्य प्रकट करनेके लिये जो वाद है उसका नाम प्रौढिवाद है। प्रौढिवादका लक्षण यह है कि—'प्रतिवाद्युक्तम-ङ्गीकृत्यापि स्वमते दोषपरिहारः'। प्रकरणमें उपादान कारण तथा उसके कार्यके भेद-पक्षमें भट्टने जो दोष कहा है, उस भट्टोक्त दोषको स्वीकार करके भी अपने मतमें दोषका परिहार किया। अतः यह प्रौढिवाद है।]

नैयायिक मतमें भी यह दोष नहीं

नैयायिक समस्त पदार्थकी उत्पत्तिमें अभावको भी कारण कहते हैं। घटकी उत्पत्तिमें जैसे दण्ड, चक्र, कुलालादि कारण हैं, वैसे प्राग् अभाव भी कारण है। इस प्रकार सकल पदार्थोंकी उत्पत्तिमें तत्तत्पदार्थोंके प्राग् अभाव भी कारण हैं। घटका प्राग् अभाव भी मृत्पिण्डमें ही है, अन्यत्र नहीं। तैलका प्राग् अभाव तिलमें है, अन्यमें नहीं। इस रीतिसे समस्त पदार्थोंके प्राग् अभाव अपने-अपने उपादान कारणमें हैं। जिस पदार्थमें जिस कार्यरूप वस्तुका प्राग् अभाव रहता है, उस-उस पदार्थसे वही कार्य उत्पन्न होता है, अन्य कार्य नहीं। मृत्पिण्डमें घटका प्राग् अभाव है, अतः मृत्पिण्डसे घट ही उत्पन्न होता है, तैल नहीं। तिलमें तैलका ही प्राग् अभाव है। अतः तिलसे तैल ही उत्पन्न होता है, घटादि नहीं होते। इस प्रकार समस्त कार्योत्पत्तिमें तत्तत्प्रागभाव कारण है। अतः उपादान एवं उपादानके कार्यमें अत्यन्त भेद स्वीकार करनेपर भी नैयायिक मतमें भट्टद्वारा कथित दोष नहीं है।

सामर्थ्यरूप शक्तिवादीके मतमें भी दोष नहीं

जैसे मृत्पिण्डमें घटोत्पादनरूप शक्ति ही है, तैलोत्पादनरूप शक्ति नहीं है। अतः मृत्पिण्डसे घट ही उत्पन्न होता है, तैल नहीं। वैसे ही तिलमें तैलोत्पादन-सामर्थ्यरूप शक्ति ही है, घटोत्पादनरूप शक्ति नहीं है। इसी कारण तिलसे तैल ही उत्पन्न होता है, घट नहीं होता। इस प्रकार उपादान कारणका उसके कार्यसे अत्यन्त भेद माननेमें भी दोष नहीं है।

उपादान कारण एवं इसके कार्यमें भट्टका अभिमत भेदाभेद असंगत ही है। भेदपक्षमें और अभेदपक्षमें भट्टके कहे हुए दोष उनके मतमें अवश्य होंगे। भट्ट भेदसहित अभेद मानते हैं, अतः उनके मतमें कारण और कार्यमें भेद सिद्ध है तथा अभेद भी सिद्ध है। भेदके सद्भावपक्षमें भेदपक्षके उक्त दोषोंका और अभेद-सद्भावमें अभेद-पक्षोक्त दोषोंका प्रसंग होनेसे भेदाभेदपक्ष असंगत है। चोरको चोरीका दोष होता है। जुआरीको द्यूतका दोष होता है। दोनों करनेवालेको दोनों प्रकारके दोष होते हैं। इसी प्रकार गुण एवं गुणी आदिमें भी भेदाभेद स्वीकार करनेपर भेद और अभेद दोनों पक्षोंमें कहे हुए दोषोंका प्रसंग होगा। सामर्थ्यरूप शक्ति माननेवालेके पक्षमें गुण-गुणीमें केवल भेद अङ्गीकार करनेसे भी दोष नहीं है। क्योंकि गुणीमें गुण धारण करनेकी ही शक्ति है, अन्य वस्तु धारणकी शक्ति नहीं है। अतः भेदपक्षमें जो दोष दिखाया गया है—जैसे घटके रूपादि घटसे भिन्न हैं वैसे पटादि भी घटसे भिन्न हैं। रूपादिके समान पटादि भी घटके आश्रित होने चाहिये। अथवा पट आदिके तुल्य ही घटके रूपादि भी घटके आश्रित नहीं होने चाहिये। यह दोष सामर्थ्यरूप शक्ति न स्वीकार करनेवालोंके पक्षमें ही होता है। सामर्थ्यरूप शक्ति माननेवालेके पक्षमें तो गुण-गुणीमें केवल भेद स्वीकार करनेमें भी जिस प्रकार दोष नहीं होता वह युक्ति ऊपर दिखायी गयी है। गुण एवं गुणी आदिमें भेदाभेद माननेवालेके पक्षमें पूर्वोक्त दृष्टान्तकी रीतिसे दोनों पक्षोंमें दोष होगा ही। और भेदाभेद विरुद्ध होनेसे असम्भवरूप दोष भी होगा।

दूसरी बात यह कि जाति-व्यक्ति, क्रिया-क्रियावान्में केवल भेद है। तो भी व्यक्तिमें जातिके आश्रयत्व (धारण) की शक्ति है। क्रियावान्में भी क्रियाको धारण करनेकी शक्ति है। अन्यके आश्रयत्व—धारणकी शक्ति नहीं है। इस प्रकार उपादान कारण एवं तत्कार्यमें तथा गुण-गुणीमें भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध असंगत ही है। पूर्वोक्त स्थलोंमें सर्वत्र भेद स्वीकार करनेमें भट्टके द्वारा प्रदर्शित भेदपक्षके दोषको सामर्थ्यरूप शक्ति स्वीकार करनेवाला सिद्धान्त अपनेमें आत्मसात् कर लेता है।

वस्तुतस्तु वेदान्त-सिद्धान्तमें उपादान कारण एवं कार्य, गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति और क्रिया-क्रियावान्में अत्यन्त भेद नहीं है। किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध ही स्वीकार करते हैं। तथापि भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। किन्तु भेदाभेदसे विलक्षण अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध है। भेदपक्षसे विलक्षण होनेसे अभेदपक्षमें उक्त दोष नहीं होता। तथा अभेदपक्षसे विलक्षण होनेके कारण भेदमें कहे हुए दोष भी नहीं हैं। इस प्रकार भेदाभेदसे विलक्षण अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध होता है। भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध तो असंगत ही है। अतः 'वाच्य-वाचकमें भेदाभेदरूप तादात्म्य ही शक्ति है' यह भट्टमत समीचीन नहीं है। किन्तु शब्दके श्रवणमात्रसे अर्थज्ञानोत्पादकत्वरूप पदनिष्ठ सामर्थ्य ही पदकी शक्ति है यही सम्यक् मत है। इस प्रकार शक्तिका निरूपण किया गया है।

[केवल भेदमें तादात्म्य सम्भव नहीं होता। क्योंकि अभेदज्ञानकी प्रतीतिको ही तादात्म्य कहते हैं। अतः केवल भेदमें अभेद प्रतीत नहीं होता। अतः तादात्म्य सम्बन्धमें अभेदकी अपेक्षा है। केवल भेदस्थलमें सम्बन्ध भी नहीं होता है। क्योंकि दो पदार्थका ही सम्बन्ध होता है। अपने स्वरूपसे अपना सम्बन्ध असम्भव है। अतः सम्बन्धसामान्यमें भेदकी अपेक्षा है। तादात्म्यको भी सम्बन्धरूप होनेसे भेदकी अपेक्षा है। भेदाभेदके विना तादात्म्य सम्बन्ध हो नहीं सकता। और भेदाभेदका एकमें सामानाधिकरण्य विरुद्ध है।

तथापि कल्पित भेदविशिष्ट वास्तविक अभेदका नाम तादात्म्य है।

मूलमें भेदाभेदसे विलक्षण तादात्म्य कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि—(१) भेदसे विलक्षणका तात्पर्य वास्तवमें भेदाभाव है, किन्तु कल्पित भेदविशिष्ट है यह जानना चाहिये। (२) अभेदसे विलक्षण कहनेका तात्पर्य कल्पित अभेदका अभाव है, इससे वास्तवमें अभेद जानना चाहिये। इस प्रकार सिद्धान्तमें कल्पित भेदविशिष्ट वास्तविक अभेदका नाम तादात्म्य है। इसीको अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं।]

शक्यका लक्षण

लक्षणासे जहाँ ज्ञान होता है वहाँ शक्यार्थज्ञान उपयोगी होता है। क्योंकि शक्यका सम्बन्ध ही लक्षणाका स्वरूप है। शक्यार्थज्ञानके बिना शक्यसम्बन्धरूप लक्षणाका ज्ञान सम्भव नहीं होता। अतः शक्यका लक्षण कहते हैं।

> है पदमें जा अर्थकी, सक्ति सक्य सो जानि।
> वाच्य अर्थ पुनि कहत तिहि, वाचक पदहि पिछानि॥

जिस पदमें जिस अर्थका बोध करानेकी शक्ति है उस पदके उस अर्थको शक्यार्थ कहते हैं। शक्यार्थ ही वाच्यार्थ है इसीका नाम अभिधेयार्थ अथवा मुख्यार्थ भी है। जैसे अग्नि पदमें अङ्गाररूप अर्थ-बोधनकी शक्ति है। अग्नि पदका शक्यार्थ अङ्गार है। वाच्यार्थ, अभिधेयार्थ और मुख्यार्थ भी यही है। वाच्यार्थबोधक पदको वाचक कहते हैं।

लक्षणा और लक्ष्यार्थका सामान्य लक्षण

वाच्यार्थका जो सम्बन्ध—मिलाप है वही लक्षणाका स्वरूपभूत लक्षण है। जिस अर्थका पदकी शक्तिसे ज्ञान न हो, किन्तु जो लक्षणासे जाना जाय उसको लक्ष्यार्थ कहते हैं।

जहद्‌जहद्भागत्याग लक्षणाओंके लक्षण

जहती लक्षणा—समस्त वाच्यार्थको त्यागकर तत्सम्बन्धिमात्र जहाँ

प्रतीत हो वहाँ 'जहती लक्षणा' होती है। जैसे कोई कहता है कि गङ्गामें ग्राम है। वहाँ गङ्गा पदकी तीरमें जहती लक्षणा है। गङ्गा पदका वाच्यार्थ है गङ्गाका प्रवाह। प्रवाहमें ग्रामका होना सम्भव नहीं; अतः प्रवाहरूप समस्त वाच्यार्थको त्यागकर तीरमें गङ्गा पदकी जहती लक्षणा है। वाच्यार्थके सम्बन्धको लक्षणा कहते हैं। 'गङ्गामें ग्राम है'—यहाँ गङ्गा पदके वाच्यार्थभूत प्रवाहका तीरसे संयोग सम्बन्ध है। वही लक्षणा है। यहाँ समस्त वाच्यका त्याग होनेसे जहल्लक्षणा जानना चाहिये।

> सक्यको संबंध जो, स्वरूप जानि लच्छन को।
> लच्छना सो भान जाको, लच्छ सु पिछानियें॥
> वाच्य अर्थ सारो त्यागि, वाच्यको संबंध जहां।
> होई परतीति तहां, जहती वखानिये॥

अजहल्लक्षणा—वाच्यार्थके साथ ही वाच्यके सम्बन्धीका ज्ञान जिस पदसे होता है उस पदमें उसी अर्थमें 'अजहल्लक्षणा' जानना चाहिये। जैसे—'शोणो धावति' शोण—रक्त-वर्ण दौड़ता है' यहाँ 'शोण' पदकी रक्त-वर्णविशिष्ट अश्वमें अजहल्लक्षणा है। क्योंकि शोणका अर्थ रक्तवर्ण है। केवल रक्तवर्णमें धावन—दौड़ना सम्भव नहीं है। अतः शोण पदके वाच्यार्थ-भूत रक्तवर्णविशिष्ट अश्वमें शोण पदकी अजहल्लक्षणा है। गुण-गुणीका तादात्म्य सम्बन्ध कहा गया है। शोण वर्णविशेष होनेसे गुण है। अतः शोण पदके वाच्य रक्त गुणका गुणी अश्वके साथ जो तादात्म्य सम्बन्ध है वही लक्षणा है। वाच्यार्थके सहित अधिकांशके ग्रहणसे अजहल्लक्षणा जानना चाहिये।

> वाच्यजुत वाच्यके, संबंधीका जु ज्ञान होय।
> ताहि ठौर लच्छना, अजहतीहि मानिये॥

भागत्यागलक्षणा—पदके अर्थमें एक अंशको त्यागकर एक अंशके ग्रहण करनेका नाम 'भागत्याग लक्षणा' है। इसीको 'जहदजहल्लक्षणा'

भी कहते हैं। जैसे, किसी देशमें देखे हुए पदार्थको पुनः देशान्तरमें देखकर 'तदेवेदम्' वह यही है यह कहता है। इसमें भागत्याग लक्षणा है। भूतकालमें देशान्तरमें स्थित वस्तुको 'तत्' (वह) कहते हैं। अतः भूतकालविशिष्ट और देशान्तरविशिष्ट वस्तु 'तत्' (वह) पदका वाच्यार्थ है। वर्तमानकालमें एवं समीपदेशमें स्थित वस्तु 'इदम्' 'इस' पदका वाच्यार्थ है। अतः भूतकालविशिष्ट तथा देशान्तरविशिष्ट वस्तु ही वर्तमानकालविशिष्ट और समीपदेशविशिष्ट भी है। यही 'तदेवेदम्' इस वाचक-समुदायका वाच्यार्थ है। किन्तु यह अर्थ सम्भव नहीं है। क्योंकि भूतकाल और वर्तमानकालके सामानाधिकरण्यमें विरोध है। इसी प्रकार देशान्तर और समीपदेशका भी सामानाधिकरण्यमें विरोध है। अतः दोनों पदोंके वाच्यार्थभूत देश-कालात्मक वाच्यांशको त्यागकर वस्तुमात्रमें दोनों पदोंकी भागत्याग लक्षणा है।

एक वाच्य भागत्याग, होत तहां भागत्याग।
दूजो नाम जहती, अजहती प्रमानिये ॥

महावाक्योंमें लक्षणा

'तत्त्वमसि' इस महावाक्यमें लक्षणा दिखानेके लिये 'तत्' और 'त्वम्' इन पदोंके वाच्यार्थ दिखाते हैं।

'तत्' पदका वाच्यार्थ—सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, विभु, ईश्वर, स्वतन्त्र, परोक्ष, मायी और बन्धमोक्षरहित—इन सर्वशक्तिमत्त्वादि धर्म-विशिष्ट ईश्वरचैतन्य 'तत्' पदका वाच्यार्थ है। ईश्वरमें बन्धके अभावसे मोक्ष भी नहीं है। बद्धको ही मोक्ष होता है।

सर्वसक्ति सर्वज्ञ विभु, ईस, स्वतन्त्र परोछ।
मायी तत्पद वाच्य सो, ज्ञामैं बंध न मोछ ॥

'त्वम्' पदका वाच्यार्थ—ईश्वर-धर्मके विपरीत धर्म जहाँ हो वह जीवचेतन 'त्वम्' पदका वाच्यार्थ है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव

अल्पशक्तिमान्, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, असमर्थ, अनीश, कर्माधीन, अविद्या-से मोहित, बन्धमोक्षयुक्त और नित्य अपरोक्ष है। अपना स्वरूप किसीको भी परोक्ष नहीं है अतः नित्य अपरोक्ष ही जीव है। ईश्वरका स्वरूप यद्यपि ईश्वरको प्रत्यक्ष है तो भी जीवको प्रत्यक्ष नहीं है। इसीलिये ईश्वरको परोक्ष कहते हैं। जीवका स्वरूप तो जीव और ईश्वर दोनोंको प्रत्यक्ष है। इसी कारण जीवको प्रत्यक्ष कहते हैं। पूर्वोक्त अल्पशक्तिमत्त्वादि धर्मविशिष्ट जीवचेतन 'त्वम्' पदका वाच्यार्थ है।

कहे धर्म जो ईसके, सब तिनतैं विपरीत।
है जिहि चेतन जीव तिहि, त्वंपदवाच्य प्रतीत ॥

महावाक्यमें वाच्यार्थके विरोधसे लक्षणाका वर्णन

सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद्के षष्ठ अध्यायमें महर्षि उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति जगत्का कारण ईश्वर कहकर 'तत्त्वमसि' 'वह तू है' यह उपदेश किया। इसका वाच्यार्थ यह है कि—'तत्' जगत्का उत्पत्ति-कर्ता सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट ईश्वर। 'त्वम्' अल्पशक्तिमान् किञ्चिज्ज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट जीव। 'असि' 'है'। यहाँ 'तत् त्वमसि' इस कथनसे जीव एवं ईश्वरमें वाच्यार्थसे एकत्व प्रतीत होता है। किन्तु यह सम्भव नहीं; क्योंकि जो सर्वशक्तिमान् है, वही अल्पशक्तिमान्, जो सर्वज्ञ है वही अल्पज्ञ, जो व्यापक है वही परिच्छिन्न, जो स्वतन्त्र है वही कर्माधीन, जो परोक्ष है वही प्रत्यक्ष, माया जिसके अधीन है, वहीं अविद्यासे मोहित है—इस प्रकार विरुद्ध धर्मवान्को 'एक है' यह कहना 'अग्निः शीतलः' 'अग्नि शीतल है' इस कथनके समान नहीं बनता। अतः वाच्यार्थमें विरोध होनेसे लक्षणावृत्तिसे लक्ष्यार्थमात्रका ग्रहण है यह जानना चाहिये। महा-वाक्यमें जहल्लक्षणा एवं अजहल्लक्षणाके भी अयुक्त होनेसे भागत्याग लक्षणा ही जानना युक्त है। भागत्याग लक्षणाके आश्रयणसे विरोधका परिहार हो जाता है।

महावाक्यमें जहल्लक्षणा असम्भव

सर्ववेदान्तवेद्य वस्तु साक्षिचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य ही है। वे दोनों चैतन्य 'त्वम्' पदके वाच्यार्थ एवं 'तत्' पदके वाच्यार्थमें प्रविष्ट हैं। जहाँ जहती लक्षणा होती है वहाँ समस्त वाच्यार्थको त्यागकर वाच्यार्थका सम्बन्धी अन्य अर्थ ही ग्रहण होता है। अतः महावाक्यमें जहल्लक्षणा स्वीकार करनेपर दोनों वाच्यार्थके अन्तर्गत चैतन्यका भी त्याग करके उसके बहिर्भूत अन्य ही कोई नवीन वस्तु विशेय—जाननी होगी। चैतन्यसे अन्य वस्तु तो असत्, जड, दुःखरूप ही होती है। उसके ज्ञानसे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। इसलिये महावाक्यमें जहल्लक्षणा सम्भव नहीं है।

> ज्ञेय जु साछी ब्रह्मचित, वाच्यमांहि सो लीन।
> मानैं जहती लच्छना, ह्वै कछु ज्ञेय नवीन॥

महावाक्यमें अजहल्लक्षणा भी असम्भव

जहाँ अजहल्लक्षणा होती है वहाँ वाच्यार्थका त्याग न करके वाच्यार्थसे अधिक भी ग्रहण होता है। महावाक्यमें अजहल्लक्षणा माननेपर समस्त वाच्यार्थ रहेगा। समस्त वाच्यार्थका स्वीकार करना विरोधयुक्त है। इस विरोध-परिहारके लिये अजहल्लक्षणाका आश्रयण किया गया है। अजहल्लक्षणाके आश्रयणसे भी महावाक्यमें विरोध-परिहार नहीं होता। अतः महावाक्यमें अजहल्लक्षणा भी त्याज्य है।

> वाच्यकु सारो रहत है, जहां अजहती मीत।
> वाच्यअर्थसविरोध यूं, तजहु अजहती रीत॥

महावाक्यमें भागत्याग लक्षणाका स्वीकार

'तत्' पदका वाच्य ईश्वर एवं 'त्वम्' पदका वाच्य जीव है। इन दोनोंमें परस्पर विरुद्धांशको त्यागकर शुद्ध असंग चैतन्यांश ही लक्षणासे ग्रहण किया जाता है। इसीका नाम भागत्याग लक्षणा है।

> त्यागि विरोधी धर्म सब, चेतन सुद्ध असंग।
> लखहु लच्छनातैं सुमति, भागत्याग यह अंग॥

यहाँ यह सिद्धान्त है कि जीव और ईश्वरका स्वरूप बहुत प्रकारसे अद्वैत-ग्रन्थोंमें वर्णन किया गया है। विवरण-ग्रन्थमें अज्ञानके प्रतिबिम्बको जीव और बिम्बको ईश्वर कहा गया है तथा श्रीविद्यारण्य स्वामीके मतमें शुद्ध सत्त्वगुणप्रधान मायामें प्रतिफलित आभासको ईश्वर और मलिन सत्त्वगुणप्रधान अन्तःकरणके उपादानभूत अविद्यामें प्रतिफलित आभासको जीव कहा गया है।

जीव एवं ईश्वरके स्वरूप-वर्णनमें आभास, प्रतिबिम्ब और अवच्छेद—ये तीन वाद मुख्य हैं

आभासवाद

पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य स्वामीने अन्तःकरणमें आभासको जीव कहा है। यदि अन्तःकरणमें आभासको जीव मानें तो सुषुप्तिमें अन्तःकरणका अभाव होनेसे जीवका अभाव भी होना चाहिये, किन्तु सुषुप्तिका अभिमानी प्राज्ञरूप जीव रहता है यह प्रसिद्धि है। अतः अन्तःकरणमें आभास जीव है यह कहनेका तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणात्मना परिणममान अविद्यांशमें प्रतिफलित आभास जीव है। यह अविद्यांश सुषुप्तिमें भी रहता ही है। अतः प्राज्ञके अभावका प्रसंग नहीं होता है।

यहाँ यह विशेषता है कि केवल आभासमात्र जीव एवं ईश्वर नहीं हैं। किन्तु मायाका अधिष्ठान चैतन्य, माया और मायामें चैतन्याभास-ये तीनों मिलकर ईश्वर शब्दसे कहे जाते हैं। और अविद्यांशका अधिष्ठान चैतन्य, अविद्यांश और इसमें प्रतिफलित चैतन्याभास-ये तीनों मिलकर जीव कहे जाते हैं। ईश्वरकी उपाधि शुद्ध सत्त्वगुण होनेसे ईश्वरमें सर्वज्ञत्व एवं सर्वशक्तिमत्त्वादि धर्म होते हैं। और जीवकी उपाधि मलिन सत्त्वगुण

होनेसे जीवमें अल्पशक्तिमत्त्व तथा अल्पज्ञत्वादि धर्म होते हैं। इसीका नाम 'आभासवाद' है।

प्रतिबिम्बवाद

विवरणकारके मतमें जीव एवं ईश्वर दोनोंकी उपाधि एक अज्ञान ही है। जीव और ईश्वर दोनोंकी एक अज्ञान उपाधि होनेसे दोनोंमें अल्पज्ञत्वादिके प्रसंगका दोष भी सम्भव नहीं होता। जिस उपाधिमें प्रतिबिम्ब होता है उस उपाधिका यह स्वभाव है कि अपना दोष प्रतिबिम्बमें ही आरोपण करता है, बिम्बमें नहीं। उपाधिमें प्रतिबिम्बका पक्षपातित्व नियम लोकमें भी देखा जाता है। जैसे दर्पणरूप उपाधिमें मुखका प्रतिबिम्ब होता है। उसमें ग्रीवास्थ मुखको बिम्ब कहते हैं। उस दर्पणरूप उपाधिमें स्थित श्यामत्व, पीतत्व, लघुत्व आदि दोष प्रतिबिम्बमें ही प्रतीत होते हैं, बिम्बमें नहीं भान होते। इसी प्रकार दर्पणस्थानीय अज्ञानरूप उपाधिमें प्रतिबिम्बभूत जीवमें उपाधिरूप अज्ञानकृत अल्पज्ञत्वादि दोष होते हैं। बिम्बरूप ईश्वरमें वे सब दोष नहीं होते। इसी कारण ईश्वरमें सर्वज्ञत्वादि हैं और जीवमें अल्पज्ञत्वादि हैं।

[प्रतिबिम्बवादमें शुद्ध ब्रह्म ही ईश्वर है। उसमें सर्वज्ञत्वादि धर्म भी स्वतः सम्भव नहीं होते। तो भी जीवमें आश्रित अल्पज्ञत्वादिकी अपेक्षासे शुद्ध ब्रह्ममें बिम्बत्व, ईश्वरत्व और सर्वज्ञत्वादि धर्म आरोपित हैं। वस्तुतस्तु जीव एवं ईश्वर—दोनों शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही हैं। इनमें कोई धर्म सम्भव नहीं है।]

आभास और प्रतिबिम्बवादमें भेद

आभासवादमें आभासको मिथ्या मानते हैं और प्रतिबिम्बवादमें प्रतिबिम्बको सत्य मानते हैं। प्रतिबिम्बवादका सिद्धान्त यह है कि दर्पणमें प्रतीत होनेवाला मुखका प्रतिबिम्ब मुखकी छाया नहीं है। क्योंकि छायाका यह स्वभाव होता है कि जिस दिशामें छायावान्‌का मुख और पृष्ठभाग

होता है उसी दिशामें मुख एवं पृष्ठभागकी छाया भी होती है। अतः दर्पणमें छायारूप प्रतिबिम्ब नहीं है। किन्तु दर्पणको विषय करनेके लिये चक्षुके द्वारा निर्गत अन्तःकरणकी वृत्ति दर्पणको विषय करके उसी क्षण दर्पणसे निवृत्त हो (लौटकर) ग्रीवास्थ मुखको विषय करती है। अत्यन्त वेगसे भ्रमणके कारण, जैसे अलातदण्ड ही चक्रके समान भान होता है किन्तु वह चक्र नहीं है, उसी प्रकार मुख और दर्पणको विषय करनेमें प्रवृत्त अन्तःकरणवृत्तिके वेगके कारण ही मुख दर्पणमें स्थितके समान भान होता है। वस्तुतः मुख ग्रीवामें ही है, दर्पणमें नहीं है। तथा मुखकी छाया भी दर्पणमें नहीं है। अन्तःकरणवृत्तिके वेगवशात् भ्रान्तिसे प्रतीत होनेवाला जो दर्पणस्थ मुख है उसीको प्रतिबिम्ब कहते हैं।

इस प्रकार दर्पणरूप उपाधिके सम्बन्धसे ग्रीवास्थ मुख ही प्रतिबिम्ब और बिम्बरूपसे भान होता है। सम्यक् विचार करनेसे बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब कुछ नहीं है। इसी प्रकार अज्ञानरूप उपाधिके सम्बन्धसे असंग चैतन्यमें बिम्बस्थानीय ईश्वरभाव तथा प्रतिबिम्बस्थानीय जीवभाव प्रतीत होता है। सम्यक् विचारसे न ईश्वरत्व है न जीवत्व ही सम्भव है। अज्ञानवश जो चैतन्यमें जीवभावकी प्रतीति है उसीको अज्ञानस्थ प्रतिबिम्ब कहते हैं। अतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब मिथ्या ही हैं। चैतन्य स्वरूपसे तो बिम्ब एवं प्रतिबिम्बादि सत्य ही हैं। क्योंकि दृष्टान्तमें बिम्ब तथा प्रतिबिम्बका स्वरूप मुख है और दार्ष्टान्तमें चैतन्य है—ये दोनों मुख तथा चैतन्य सत्य हैं। इस रीतिसे स्वरूपतः सत्य होनेसे प्रतिबिम्बको सत्य कहते हैं। आभासका स्वरूप तो छाया स्वीकार किया गया है, अतः मिथ्या है। यही आभास और प्रतिबिम्बवादमें भेद है।

अवच्छेदवाद

कुछ ग्रन्थोंमें शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त मायाविशिष्ट चैतन्यको ईश्वर कहा गया है और मलिन सत्त्वगुणसे युक्त अन्तःकरणके उपादान कारणीभूत अविद्यांशविशिष्ट चैतन्यको जीव कहा गया है। इसीका नाम अवच्छेद-

वाद है। वेदान्तमें प्रक्रियाके भेद हैं, किन्तु सभी प्रक्रिया अद्वैतात्माके
बोधनके लिये ही हैं। इसीलिये जिस-जिस प्रक्रियासे जिज्ञासुको बोध हो जाय
वही प्रक्रिया उसके लिये समीचीन कही गयी है। तो भी वाक्यवृत्ति
और उपदेशसाहस्री आदि ग्रन्थोंमें भाष्यकारने आभासवादको ही स्वीकार
किया है। अतः आभासवाद ही मुख्य है।

चारों महावाक्योंमें भागत्याग लक्षणाका प्रदर्शन

(१) यहाँ **'तत्त्वमसि'** इस महावाक्यमें भागत्याग लक्षणा इस प्रकार
है—माया एवं मायामें स्थित आभास और मायाका अधिष्ठान चैतन्य—
इन तीनोंको मिलाकर सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वज्ञत्व आदि धर्मविशिष्टको ईश्वर
कहते हैं। यही 'तत्' पदका वाच्यार्थ है। व्यष्टि अविद्या तथा अविद्यामें
आभास एवं इनका अधिष्ठान चैतन्य—इन तीनोंको मिलाकर अल्प-
शक्तिमत्त्व, अल्पज्ञत्वादि धर्मविशिष्टको जीव कहते हैं। यही 'त्वम्' पदका
वाच्यार्थ है। 'तत्त्वमसि' यह वाक्य इन दोनोंमें अभेद बोध कराता है।
और यह अभेद बनता नहीं है। अतः आभाससहित माया तथा मायाकृत
सर्वशक्तिमत्त्व-सर्वज्ञत्वादि धर्मांश जो तत्पदके वाच्यांश हैं, इनको त्यागकर
चैतन्यभागमात्रके ग्रहणमें तत्पदकी भागत्याग लक्षणा सिद्ध होती है। तथा
आभाससहित अविद्यांश एवं अविद्याकृत अल्पशक्तिमत्त्व-अल्पज्ञत्वादि
धर्मांश जो त्वंपदके वाच्यांश हैं, इनको छोड़कर चैतन्यभागमात्रके ग्रहणमें
त्वंपदकी भागत्याग लक्षणा सिद्ध होती है। इस प्रकार भागत्याग लक्षणासे
जीव और ईश्वरमें स्थित लक्ष्यार्थभूत चैतन्यांशका एकत्व 'तत्त्वमसि' यह
महावाक्य बोध कराता है।

[**तत्त्वमसि'** यह वाक्य (१) पदोंमें सामानाधिकरण्य,
(२) पदार्थोंमें विशेषणविशेष्यभाव, (३) प्रत्यगात्मा तथा
परमात्मामें लक्षणलक्ष्यभाव—इन तीन सम्बन्धोंसे अखण्डार्थ बोध
कराता है।]

(१) पदोंमें सामानाधिकरण्य सम्बन्ध—जैसे 'सोऽयं देवदत्तः'

इस वाक्यमें तत्कालादिविशिष्ट देवदत्तके वाचक 'सः' 'वह' इस पदका
तथा एतत्कालविशिष्ट देवदत्तके वाचक 'अयम्' इस पदका एक देवदत्तके
शरीरमें तात्पर्य होनेसे दोनों पदोंमें सामानाधिकरण्य सम्बन्ध 'भिन्नार्थयोः
पदयोरेकार्थबोधकत्वरूपः' सिद्ध होता है। वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्य-
में परोक्षत्वादि धर्मविशिष्ट चैतन्यके वाचक तत्पदका तथा अपरोक्षत्वादि
धर्मविशिष्ट चैतन्यके वाचक त्वंपदका एक ही चैतन्यमें तात्पर्य होनेसे
दोनों 'तत्त्वम्' पदोंमें सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है।

(२) विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध—जैसे "इतरेभ्यो व्या-
वर्तकं विशेषणम्" "व्यावर्त्यं विशेष्यम्" अर्थात् अन्यसे व्यावर्तक (पृथक्
करनेवाले) का नाम विशेषण है। तथा जो वस्तु व्यावर्त्य (पृथक्) की
जाय उसका नाम व्यावर्त्य (विशेष्य) है। जैसे "सोऽयं देवदत्तः" इस
वाक्यमें 'अयम्' इस शब्दसे ज्ञातव्य है एतद्देशकालविशिष्ट देवदत्त और
'सः' इस शब्दसे ज्ञातव्य है तद्देशकालादिविशिष्ट देवदत्त। इनमें भेद नहीं
है। जब अभेद प्रतीत होता है तब 'अयम्' इस शब्दमें वाच्यार्थनिष्ठ भेदको
'सः' यह शब्दार्थ व्यावृत्त करता है। अतः 'सः' यह विशेषण है और
'अयम्' इस शब्दका अर्थ व्यावर्त्य होनेसे 'अयम्' यह विशेष्य है। इस
प्रकार 'स एवायम्' 'वही यह है' 'अयमेव सः' 'यह वही है'—इस वाक्य-
द्वयमें निष्ठ 'सः' और 'अयम्' इन दोनों शब्दोंमें परस्पर विशेषणविशेष-
भाव होनेसे विशेषणविशेष्यभाव सिद्ध होता है। इस दृष्टान्तसे "तत्त्वमसि"
इस वाक्यमें भी, त्वंपदवाच्यार्थभूत अपरोक्षत्व-अल्पज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट
चैतन्य और तत्पदवाच्यार्थभूत परोक्षत्वादि धर्मविशिष्ट चैतन्यमें जब
अभिन्नता प्रतीत होती है, तब त्वंपदार्थनिष्ठ भेदको तत्पदार्थ व्यावर्तन करता
है, अतः तत्पद विशेषण है। और त्वंपदार्थ व्यावर्त्य होता है, अतः त्वंपद
विशेष्य है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' एवं 'त्वं तदसि' इन दोनों वाक्योंमें
तत् और त्वंपदमें परस्पर विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

(३) लक्षणलक्ष्यभाव सम्बन्ध— "असाधारणधर्मप्रतिपादकं
वाक्यं लक्षणम्"। 'तादृशवाक्यप्रतिपाद्यं लक्ष्यम्'। असाधारण धर्मके

प्रतिपादक वाक्यको लक्षण कहते हैं। तादृशवाक्यसे प्रतिपाद्य वस्तुको लक्ष्य कहते हैं। 'स एवायं देवदत्तः' इस वाक्यमें 'सः' 'अयम्' इन दोनों शब्दोंसे ज्ञातव्य विरुद्ध धर्मभूत तद्देशकाल एवं एतद्देशकाल-वैशिष्ट्यको परित्याग करके देवदत्तत्वविशिष्ट देवदत्तके पिण्डमात्रके साथ 'स एवायं देवदत्तः' इस वाक्यका लक्ष्यलक्षणभाव सिद्ध होता है। इसी प्रकार "तत्त्वमसि" इस वाक्यमें भी 'तत्' 'त्वम्' इन दोनों पदोंसे ज्ञातव्य विरुद्ध धर्मभूत परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व-वैशिष्ट्यको त्यागकर चैतन्यमात्रके साथ "तत्त्वमसि" इस वाक्यका लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। अतः विरुद्धांश परित्यागकर अविरुद्ध चैतन्यांशमात्रका बोधक "तत्त्वमसि" यह वाक्य लक्षण है और अखण्ड चैतन्य लक्ष्य है—यह सिद्ध होता है।

"तत्त्वमसि" यह उपदेश-वाक्य है। "प्रज्ञानं ब्रह्म" यह स्वरूपबोधक वाक्य है। "अयमात्मा ब्रह्म" यह अपरोक्षत्वबोधक है। "अहं ब्रह्मास्मि" यह अनुभवबोधक वाक्य है।

'प्रज्ञानं ब्रह्म'—इस ऋग्वेदमहावाक्यके अर्थबोधक दो श्लोक—

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदाहृतम्॥ १॥
('प्रज्ञानम्' शब्दार्थबोधक वाक्य)

चतुर्मुखादिदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि॥ २॥
('ब्रह्म' शब्दार्थबोधक वाक्य)

'अहं ब्रह्मास्मि'—इस यजुर्वेदमहावाक्यके अर्थबोधक दो श्लोक—

परिपूर्णः परात्मास्मिन् देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते॥ ३॥
('अहम्' शब्दार्थबोधक वाक्य)

स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम्॥ ४॥
('ब्रह्मास्मि' शब्दार्थबोधक वाक्य)

'तत्त्वमसि'—इस सामवेदमहावाक्यके अर्थबोधक दो श्लोक—

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते॥ ५॥
('तत्' शब्दार्थबोधक वाक्य)

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्॥ ६॥
('त्वमसि' शब्दार्थबोधक वाक्य)

'अयमात्मा ब्रह्म'—इस अथर्ववेदमहावाक्यके अर्थबोधक दो श्लोक—

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्।
अहङ्कारादिदेहान्तात् प्रत्यगात्मेति गीयते॥ ७॥
('अयमात्मा' शब्दार्थबोधक वाक्य)

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते।
ब्रह्मशब्देन तद् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम्॥ ८॥
('ब्रह्म' शब्दार्थबोधक वाक्य)

(२) इसी प्रकार "अयमात्मा ब्रह्म" इस महावाक्यमें भी भागत्याग लक्षणा जाननी चाहिये। यहाँ 'आत्मा' इस पदका वाच्यार्थ जीव है और 'ब्रह्म' इस पदका वाच्यार्थ ईश्वर है। यहाँ 'ब्रह्म' पदका शुद्ध चैतन्य वाच्य नहीं है, किन्तु ईश्वर ही वाच्य है; यह बात चतुर्थ अंशमें प्रतिपादन की गयी है। पूर्ववत् यहाँ भी दोनों पदोंमें लक्षणा ग्रहण करनी चाहिये। लक्ष्यार्थभूत चैतन्य परोक्ष नहीं है, किन्तु नित्य अपरोक्ष ही है—इस अर्थको जनानेके लिये 'अयम्' इस पदका प्रयोग है। 'अयम्'

—ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंका 'अहम्' 'अहम्'—यों नित्य अपरोक्षरूपसे भासमान 'आत्मा' ही 'ब्रह्म' है यह वाक्यार्थ होता है।

(३) **"अहं ब्रह्मास्मि"** इस महावाक्यमें भी 'अहं' पदका वाच्यार्थ जीव है और 'ब्रह्म' पदका वाच्यार्थ ईश्वर है। इन दोनों पदोंकी शुद्ध चैतन्यांशमें लक्षणा करके 'मैं ही परब्रह्म हूँ' यह वाक्यार्थ होता है।

(४) **"प्रज्ञानं (आनन्दं) ब्रह्म"** इस महावाक्यमें 'प्रज्ञान' पदका वाच्यार्थ जीव है और 'ब्रह्म' पदका वाच्यार्थ ईश्वर है। पूर्ववत् दोनों पदोंकी शुद्ध चैतन्यांशमें लक्षणा करके लक्ष्यार्थभूत जो प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मात्मा है वह आनन्द-गुणयुक्त नहीं है, किन्तु आनन्दस्वरूप ही है—इस अर्थका बोध करानेके लिये 'आनन्द' पदका अध्याहार किया गया है। 'प्रत्यगभिन्न ब्रह्म आनन्दस्वरूप है'—यह वाक्यार्थ जानना चाहिये।

जैसे महावाक्यस्थ पदोंमें भागत्याग लक्षणा है वैसे ही अवान्तर वाक्य 'सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं' इत्यादि पद भी भागत्याग लक्षणासे ही शुद्ध ब्रह्मका बोध कराते हैं, शक्तिसे नहीं। किसी भी पदका वाच्यार्थ शुद्ध ब्रह्म नहीं होता है—यह सिद्धान्त है। क्योंकि—

"यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह" "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा" "अथात आदेशो नेति नेति" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। इसलिये समस्त पदका वाच्य विशिष्ट है और शुद्ध लक्ष्य है।

मायाका आपेक्षिक सत्यत्व तथा चैतन्यका निरपेक्ष सत्यत्व—यह दोनों मिलकर सत्य शब्दका वाच्य होता है, निरपेक्ष (मुख्य) सत्य लक्ष्य होता है। और बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान तथा स्वयंप्रकाशरूप ज्ञान—यह दोनों मिलकर ज्ञान शब्दका वाच्य होता है एवं स्वयंप्रकाशांश लक्ष्य कहलाता है। विषयसम्बन्धजन्य सुखाकार-सात्त्विक अन्तःकरणवृत्ति तथा परमप्रेमास्पद

स्वरूपसुख—यह दोनों मिलकर आनन्दपदका वाच्य होता है और वृत्त्यंशको त्यागकर स्वरूपानन्दांश लक्ष्य होता है। इस प्रकार समस्त पदोंकी शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणा होती है—यह संक्षेपशारीरकमें प्रतिपादन किया गया है।

पूर्वोक्तार्थसंग्रह

'गङ्गायां घोषः' इस पदमें जहल्लक्षणा है। 'शोणो धावति' इसमें अजहल्लक्षणा है। सोऽयं देवदत्तः" इसमें भागत्याग लक्षणा है; इसीको जहदजहल्लक्षणा भी कहते हैं। "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्योंमें जहल्लक्षणा अथवा अजहल्लक्षणा सम्भव नहीं होती। अतः इन दोनोंको छोड़कर भागत्याग लक्षणा ही दिखायी गयी है। **"यतो वाचो निवर्तन्ते"** इत्यादि श्रुतियाँ 'ब्रह्म किसी भी पदका वाच्य नहीं होता'—यह बोध—ज्ञान कराती हैं। अतः समस्त पदोंमें ब्रह्मविषयक लक्षणा ही ग्रहण की जाती है। मायाका आपेक्षिक सत्त्व एवं चैतन्यनिष्ठ निरपेक्षिक (पारमार्थिक) सत्त्व—यह दोनों मिलकर सत्य पदका वाच्य कहा जाता है। इसमें निरपेक्ष सत्त्व ही सत्य पदका लक्ष्य कहलाता है। स्वयंप्रकाशमान ज्ञान एवं बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान मिलकर ज्ञान पदका वाच्य होता है और स्वयंप्रकाशमान ज्ञान ज्ञान पदका लक्ष्य होता है। आत्माके स्वरूपानन्द तथा इष्ट विषयके सम्बन्धसे जन्य सुखाकार अन्तःकरणकी वृत्तिरूप विषयसुख—यह दोनों मिलकर आनन्द पदका वाच्यार्थ होता है। इनमें वृत्तिरूप विषयसुखको त्यागकर स्वात्मस्वरूप सुख ही आनन्द पदका लक्ष्यार्थ होता है।

'महावाक्यके दोनों पदोंमें लक्षणा स्वीकार करना निष्फल है' यह आक्षेप

यहाँ कोई कहते हैं कि महावाक्यमें विरोध-परिहार करनेके लिये दोनों पदोंमें लक्षणा स्वीकार करना व्यर्थ है। एक पदमें भी लक्षणा अङ्गीकार करनेसे विरोध-निवृत्ति हो सकती है। इनका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट और अल्पज्ञत्वादि धर्मविशिष्टके साथ

यद्यपि ऐक्य सम्भव नहीं है, तथापि एक पदके लक्ष्यार्थभूत शुद्धका दूसरे पदके अर्थभूत विशिष्ट (वाच्यार्थ) के साथ ऐक्य हो ही सकता है। इसमें यह दृष्टान्त है कि जैसे "क्षत्रियमनुष्योऽयं ब्राह्मणः" 'क्षत्रिय मनुष्य ब्राह्मण है'—यहाँ क्षत्रियत्व धर्मविशिष्टका ब्राह्मणत्व धर्मविशिष्टके साथ ऐक्य तो विरुद्ध है। किन्तु "मनुष्योऽयं ब्राह्मणः" इसमें क्षत्रियत्व धर्मरहित शुद्ध मनुष्यका ब्राह्मणत्व धर्मविशिष्टके साथ ऐक्य विरुद्ध नहीं है। वैसे ही किञ्चिज्ज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट चैतन्यका सर्वज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट चैतन्यके साथ विरोध होनेसे ऐक्य सम्भव नहीं, परन्तु जीववाचक तथा ईश्वरवाचक पदोंकी चैतन्यमात्रमें लक्षणा करके चेतनमात्रका सर्वज्ञत्वादि धर्मविशिष्टके साथ अथवा अल्पज्ञत्वादि धर्मविशिष्टके साथ ऐक्य विरुद्ध नहीं होता है। इसलिये दोनों पदोंमें लक्षणा माननेमें कोई युक्ति नहीं है।

'दोनों पदोंमें लक्षणा सफल है' पूर्वोक्त आक्षेपका समाधान

यहाँ महावाक्योंकी एक पदमें ही लक्षणा स्वीकार करनेवाले वादीसे पूछना चाहिये कि महावाक्यगत दो पदोंमें किस पदमें लक्षणा मानते हो ? यदि सभी महावाक्योंके प्रथम पदमें लक्षणा है, द्वितीय पदमें नहीं—यह पक्ष अङ्गीकार करें तो यह युक्त नहीं है। अथवा सर्वत्र द्वितीय पदमें ही लक्षणा मानें, प्रथममें नहीं तो यह पक्ष भी संगत नहीं है। ये दोनों प्रकारके नियम माननेमें महावाक्योंका परस्पर विरोध ही होगा। क्योंकि "अहं ब्रह्मास्मि" "प्रज्ञानं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" इन तीनों वाक्योंमें प्रथम पद जीववाचक है। तथा "तत्त्वमसि" इस वाक्यमें प्रथम पद ईश्वरका वाचक है। सभी वाक्योंके प्रथम पदमें लक्षणा अङ्गीकार करनेपर 'चैतन्य सर्वज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट ईश्वरस्वरूप है' यह तीनों महावाक्योंका अर्थ होगा; क्योंकि प्रथम तीन वाक्योंमें प्रथम पद जीवका वाचक है। उसकी चैतन्य मात्रमें लक्षणा है। द्वितीय ईश्वरके वाचक पदका वाच्यार्थ ही ग्रहण किया है। इस प्रकार 'चैतन्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वरस्वरूप है' यही प्रथम तीनों वाक्योंका अर्थ निश्चय होगा।

और "तत्त्वमसि" इस वाक्यमें 'चैतन्य अल्पज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट संसारी जीवका स्वरूप है' यह चतुर्थ महावाक्यका अर्थ होगा; क्योंकि "तत्त्वमसि" इस वाक्यमें प्रथम पद ईश्वरका वाचक है। उसकी चैतन्य-मात्रमें लक्षणा है। द्वितीय जीववाचक पदका वाच्यार्थ ही ग्रहण करते हैं। इस रीतिसे 'चैतन्य सब जीवस्वरूप है' यही अन्तिम अर्थ होगा।

यदि सभी वाक्योंके द्वितीय पदमें ही लक्षणा स्वीकार करें तो पहिले तीन वाक्योंके जीववाचक प्रथम पदका वाच्यार्थ ही ग्रहण होगा और ईश्वरवाचक द्वितीय पदकी चैतन्यमात्रमें लक्षणा ग्रहण होगी। इस प्रकार 'अल्पज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट चैतन्य है' यह प्रथम तीन वाक्योंका अर्थ होगा और "तत्त्वमसि" इस वाक्यमें पहिला ईश्वरवाचक पदका वाच्यार्थ ग्रहण होगा और जीववाचक द्वितीय पदकी लक्षणासे चैतन्यका ग्रहण होगा। इस प्रकार 'सर्वज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट चैतन्य है' यह 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका अन्तिम अर्थ होगा। इस प्रकार भी परस्पर विरोध ही है। अतः महा-वाक्योंके प्रथम पदमें अथवा द्वितीय पदमें ही लक्षणा स्वीकार करना योग्य नहीं है। इसीलिये आचार्योंने महावाक्यके दोनों पदोंमें लक्षणाका वर्णन किया है।

'ईश्वरवाचक पदमें ही लक्षणा करनी चाहिये' यह पक्ष मानना भी असंगत है

यदि यह कहें कि महावाक्योंके प्रथम पद या द्वितीय पदमें ही लक्षणा है यह नियम नहीं मानते। किन्तु सब वाक्योंके ईश्वरवाचक पदमें ही लक्षणा है यही नियम है। ईश्वरवाचक पद पहिले हो या पीछे इससे वाक्योंका परस्पर विरोध नहीं होता है।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। ईश्वरवाचक पदमें ही लक्षणा है यह स्वीकार करनेपर अल्पज्ञत्व, पराधीनत्व, जनन-मरणादि दुःखके कारणरूप समस्त अनर्थकी खानि जो जीव है वह जीव ही समस्त श्रुति-

वाक्योंसे गम्य—जानने योग्य होगा। अतः ईश्वरवाचक पदमें लक्षणा स्वीकार करनेसे मोक्षमें हानि होगी।

इसका भाव यह है कि ईश्वरवाचक पदमें ही लक्षणा स्वीकार करनेपर महावाक्योंका यह अर्थ होगा कि तत्पदका लक्ष्यार्थभूत अद्वय, असंग, मायारूप मलसे रहित चैतन्य ही अविद्यासे काम-कर्मके वश होकर अल्पज्ञत्व, अल्पशक्तिमत्त्व, परिच्छिन्नत्त्व, पुण्य-पाप, सुख-दुःख, जन्म-मरण, गमनागमन आदि अनन्त अनर्थका मूल है। इस प्रकार महावाक्यका अर्थ होनेपर जिज्ञासुको इसी अर्थमें बुद्धि स्थिर करनी होगी। जिसमें बुद्धि स्थिर होती है वही वस्तु प्राणके वियोग होनेपर प्राप्त होती है यह नियम है।

"यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।"

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

—इत्यादि श्रुति-स्मृति इसमें प्रमाण है।

अतः वेदान्त-विचारसे मुमुक्षुको अनर्थ ही प्राप्त होगा, आनन्द प्राप्त नहीं होगा। अतः महावाक्योंके ईश्वरवाचक पदमें ही लक्षणा है, जीववाचक पदमें नहीं—यह नियम असंगत है।

'जीववाचक पदमें ही लक्षणा है' यह पक्ष भी असंगत है

यदि कहें कि समस्त महावाक्योंके जीववाचक पदमें ही लक्षणा है, ईश्वरवाचक पदमें नहीं। ऐसा माननेसे तो पुरुषार्थ-हानि नहीं होती है। जीववाचक पदमें लक्षणा स्वीकार करनेपर 'त्वंपदार्थका लक्ष्यभूत चैतन्यभाग सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, जन्मादिबन्धरहित ईश्वरस्वरूप है' यह महावाक्योंका अर्थ होगा। इसी अर्थमें जिज्ञासुको बुद्धि स्थिर करनेसे उत्तम

ईश्वरभावापत्ति होगी। अतः जीववाचक पदमें ही लक्षणा है यह नियम स्वीकार करना चाहिये। तो यह नियम भी ठीक नहीं है। त्वंपदका लक्ष्यार्थभूत साक्षी ही ईश्वर है यह कहना भी संगत नहीं है। इसीलिये विद्वान् लोग दोनों पदोंमें लक्षणा कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जीववाचक पदमें ही लक्षणा है, ईश्वरवाचक पदमें नहीं—यह नियम अङ्गीकार करनेवाले वादीसे पूछना चाहिये कि (१) त्वंपदके वाचक व्यापक चैतन्यमें लक्षणा है? (२) अथवा जहाँ जीवके उपाधि है उस साक्षिचैतन्यमें लक्षणा मानते हो? त्वंपदके व्यापक चैतन्यमें तो लक्षणा नहीं कह सकते हो। वाच्यार्थमें प्रविष्ट जो चैतन्य है उसीमें भागत्याग लक्षणा सम्भव होती है। व्यापक चैतन्य तो त्वंपदके वाच्यार्थमें प्रविष्ट नहीं है, किन्तु जीवोपाधिके अन्तर्गत साक्षिचैतन्य ही प्रविष्ट है। त्वंपदके वाच्यार्थके एकदेशभूत साक्षिचैतन्यमें ही त्वंपदकी लक्षणा होगी, व्यापक चैतन्यमें नहीं। किन्तु उस साक्षिचैतन्यमें सर्वान्तःकरणप्रेरकत्व, सर्वप्रपञ्चमें व्यापकत्वादि ईश्वरके धर्म सम्भव नहीं। तथा साक्षी सदा अपरोक्ष है, उसमें परोक्षत्वादि ईश्वरके धर्म सम्भव नहीं होंगे। और भी बात है कि दण्डरहितको दण्डी कहना, संस्कारहीनको संस्कारवान् कहना जैसे असंगत होता है, वैसे ही त्वंपदके लक्ष्य मायारहित चैतन्यको मायाविशिष्ट ईश्वर कहना सर्वथा अयुक्त ही है। इसलिये साक्षिचैतन्यका ईश्वरसे अभेद कहना महावाक्योंका असम्भावितार्थप्रतिपादकत्व कहा जायगा।

महावाक्यके दोनों पदोंमें लक्षणा और ओतप्रोतभाव

दोनों पदोंमें लक्षणा स्वीकार करनेपर दोष नहीं है। दोनों पदोंके वाच्यार्थनिष्ठ अनेकत्वविरोधी धर्मोंको त्यागकर समस्त धर्मशून्य स्वयंप्रकाश चैतन्यमात्र अंशमें दोनों ही पदोंकी लक्षणाको ग्रहण किया गया है। उपाधि एवं उपाधिप्रयुक्त धर्मोंसे चैतन्यमें भेद होनेपर भी स्वरूपसे चैतन्यमें भेद नहीं है। अतः उपाधि एवं तत्प्रयुक्त धर्मोंके त्यागसे दोनों पदोंके लक्ष्यार्थभूत

चैतन्यमें ऐक्य सम्भव होता है। जैसे घटाकाशमें केवल घटदृष्टिके त्याग-मात्रसे मठाकाशसे ऐक्य सम्भव नहीं, किन्तु मठाकाशगत मठदृष्टिके भी त्यागसे ऐक्य सम्भव होता है। वैसे ही दोनों पदोंके वाच्यार्थगत उपाधि तथा उपाधिप्रयुक्त धर्मके त्यागसे महावाक्योंमें ऐक्य सम्भव होता है। "तत् त्वं" "त्वं तत्" इस रीतिसे सब महावाक्योंमें ओतप्रोतभाव जानना चाहिये।

तत् त्वं त्वं तत् रीति यह, सब वाक्यनमें जानि।
जातैं होय परोछता, परिच्छिन्नता हानि॥

इस प्रकार ओतप्रोतभाव करनेपर महावाक्योंमें परोक्षत्व तथा परि-च्छिन्नत्व भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। 'तत् त्वं' यह कहनेसे 'तत्' पदार्थको 'त्वं' पदार्थसे अभिन्न कहा जाता है। त्वंपदार्थभूत साक्षी नित्य अपरोक्ष है। इससे परोक्षत्व भ्रम दूर होता है। एवं 'त्वं तत्' यह कहनेसे 'त्वं' पदार्थ-को 'तत्' पदार्थसे अभिन्न कहा जाता है। 'तत्' पदार्थका अर्थ व्यापक है। इससे परिच्छिन्नत्व भ्रम दूर हो जाता है। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादिसे भी परिच्छिन्नत्व भ्रम निवृत्त होता है। 'ब्रह्माहम्' 'ब्रह्म प्रज्ञानम्' 'ब्रह्म आत्मा' इत्यादिसे परोक्षत्व निवृत्त होता है। जहाँ-जहाँ वेदवाक्य अथवा स्मृतिवाक्य जीव-ब्रह्मका ऐक्य बोधन कराते हैं वहाँ-वहाँ सर्वत्र भागत्याग लक्षणा जाननी चाहिये।

स्वप्नग्रन्थकी समाप्ति

गुरुके उपदेश-श्रवणसे शिष्यकी कृतकृत्यता

इत्थं श्रुत्वा कृतार्थोऽभूद्वाक्यं शिष्यो गुरोर्मुखात्।
इत्थमन्योऽपि यः कश्चिद्वेद चेद्विद्विचारणात्॥
निःशेषदुःखनाशात् स सद्य एव विमुच्यते।
सर्वमेतच्चोपदिष्टं स्वप्नवत् स्वविकल्पितैः॥

गुरुवेदान्तशास्त्राद्यैर्मिथ्याभूतैर्मनःकृतैः।
श्रुतेऽस्मिन् ग्रन्थरत्ने तु ह्यज्ञानं प्रविनश्यति॥
उपदेशोऽगृधदेवस्य स्वप्ने गुरुकृतोऽप्ययम्।
मिथ्यावनस्वरूपं तु न नष्टं दुःखकारणम्॥

शिष्यका प्रश्न—हे गुरो! मैंने आपके द्वारा उपदिष्ट इस ग्रन्थका तात्पर्यसहित श्रवण किया, तथापि दुःखका कारणभूत संसाररूप वन अभी मुझे भान होता ही है। किस उपायसे इस वनका विनाश होगा? कृपाकर वह उपाय बतायें।

अगृधदेवकूं स्वप्नमें, यह कियो गुरु उपदेस।
नस्यो न तहु दुःखमूल यह, मिथ्या वनको वेस॥
भगवन् यह तुम ग्रंथ पढ़ायो। अर्थसहित सो मो हिय आयो॥
वन दुःखमूल तऊ मुहिं भासै। कहु उपाय जातैं यह नासै॥

पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर—गुरु बोले—हे सोम्य! संसारवनके विनाश-का उपाय कहता हूँ। सावधान मनसे सुनो। महावाक्यके अर्थका विचार ही संसारवनके नाशका उपाय है। अन्य कोई उपाय नहीं है। महावाक्यके अर्थका सम्यक् विचार करके "अयमहमस्म्यगृधः" 'यह मैं ही अगृध हूँ' इसे निश्चय करके दृढतर उद्घोषसे बोलो। शिष्यने भी महावाक्यार्थका विचार करके "अहमेवागृधः" 'मैं ही अगृध हूँ' यह उच्च शब्दोंसे घोष किया। दूसरे क्षणमें निद्रासे जागकर नेत्र खोले तो उसी क्षणमें ही स्वप्नमें देखा हुआ संसारवन, गुरु, ग्रन्थ आदि समस्त द्वैत प्रपञ्च तिरोभूत हो गया। संसारवनके सब दुःख विनष्ट हो गये। "अहमगृधः" 'मैं ही अगृध हूँ' यह जानकर सुखी हो गया।

मिथ्याभूत गुरु-वेदान्त-वाक्योंसे अज्ञान एवं अज्ञानके कार्यरूप मिथ्या-भूत अखिल जगत्की आत्यन्तिक निवृत्ति होती ही है। अगृधदेव मुझको

जैसे निद्राके वशसे संसारवनका दुःख हुआ, वैसे ही अपने आत्मस्वरूपके अज्ञानसे अहंकारादि द्वैत प्रपञ्चकी प्रतीति हुई। जैसे मिथ्याभूत गुरु-वेदान्तसे मिथ्या वनका नाश हुआ, उसी प्रकार मिथ्याभूत गुरु तथा वेदान्त-वाक्यसे मिथ्याभूत जगत्, जीव एवं समस्त दृष्ट प्रपञ्चका नाश होता है। महावाक्योंके लक्ष्यार्थ-ज्ञानसे जिज्ञासु मुमुक्षुको निरावरण कृतकृत्यता होती है। 'निरावरणमायातीतसद्गुरुरेवाहम्'।

अगृधदेवमैं नींद्त, भौ वनदुख जिहि रीति।
आतममैं अज्ञानतैं, त्यूं जग दुःख प्रतीति॥
ज्यूं मिथ्या गुरु ग्रंथतैं, मिथ्या वन संहार।
त्यूं मिथ्या गुरुवेदतैं, मिथ्या जग परिहार॥

॥ श्रीः ॥

सप्तम अंश

(जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्तिका वर्णन)

ज्ञानियोंके व्यवहारमें नियम नहीं

उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ तीन प्रकारके अधिकारियोंको इस प्रकारके गुरूप-देशसे श्रवणादिके द्वारा निःसंशय "अयमात्मैव ब्रह्म" 'यह आत्मा ही ब्रह्म है' यह उत्तम ज्ञान हुआ। तीनोंको गुरुका उपदेश समान होनेपर भी ब्रह्मसाक्षात्कार उत्तम तत्त्वदृष्टिको ही हुआ। वृक्षके शुष्क पत्ते गिरकर जैसे वायुवेगसे इतस्ततः उड़ते रहते हैं वैसे ही प्रारब्धकर्मवश नाना प्रकारके कर्म करता हुआ ज्ञानीका शरीर भी इतस्ततः व्यवहारीके तुल्य भान होता है। ज्ञानी कभी रथ, घोड़े और हाथीपर चढ़कर वन, वाटिका आदिको देखते हैं। कभी पादरक्षाके विना भी घूमते हैं। उनके शयन, आसन आदिकी भी अव्यवस्था ही रहती है। कभी तो भोग-भोजनादि उत्तम होता है, कभी विना अन्नके ही पर्वतकी गुफाओंमें रहते हुए शिलातलपर ही रात्रि व्यतीत करते हैं। कभी सहस्रों व्यक्ति उनको प्रणाम करते हैं, कभी कर्मी लोग उनकी निन्दा करते हुए कहते हैं कि यह दोनों लोकोंसे भ्रष्ट है। यहाँ विशेषता यह है कि जो लोग उनकी स्तुति करते हैं वे लोग उनके पुण्यके भागी होते हैं और जो लोग निन्दा करते हैं वे लोग उनके पापके भागी होते हैं। इस प्रकार ज्ञानीके देहका व्यवहार अनियत होता है। तत्त्ववित्को भ्रम-संशयादि नहीं होता है। कभी कुछ भी उनको कर्तव्य नहीं है। क्योंकि उनके सम्पूर्ण भेद-भ्रम आदि नष्ट हुए रहते हैं। वे सर्वोत्तम वेदजनित प्रमाणसे स्वप्रकाश अद्वितीय प्रत्यग्ब्रह्मात्माके अपरोक्ष साक्षात्कारवान् होते हैं।

ज्ञानीका व्यवहार अनियमित है—इसपर आक्षेप

ज्ञानीकी समाधि और शरीर-स्थिति-निर्वाहके अतिरिक्त कर्ममें प्रवृत्ति होनेमें नियम नहीं इसपर आक्षेप करते हुए कोई कहते हैं कि ज्ञानीके भी व्यवहारमें नियम है। त्रिपुटीमात्र दुःखका करण है यह जानकर उससे रहित हो ज्ञानी सदा समाधिनिष्ठ ही होता है। जब कुछ व्यवहार होता है तब भी वह अशन-पान-शयन-भिक्षादि शरीर-स्थितिमात्रमें ही होता है, अन्यत्र नहीं होता। ज्ञानी समाधि-सुखको विस्मरण नहीं करता है। क्योंकि उससे अधिक सुख कहीं है नहीं। दुःखकी हेतु त्रिपुटीसे ग्लानि करता है। अतः समाधिके लिये ही बार-बार प्रयत्न करता है। जो ज्ञानी भ्रमसे समाधि-सुखको बाह्य सुखकी आसक्तिसे त्यागता है वह श्व-गदर्भ और प्रेतके समान ही है। गौडपादाचार्यने माण्डूक्यकारिकामें समाधिको सप्रपञ्च विस्तारसे कहा है। इस प्रकार ज्ञानी प्रपञ्चरूप विक्षेपको तुच्छ मानकर समस्त सुखके समुद्रभूत स्वरूपानन्दात्मामें ही स्थित रहता है।

अष्टाङ्गके विना समाधि-सुख प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि समाधि-सुखका कारण अष्टाङ्ग ही है। असाधारण कारणके विना कार्य उत्पन्न नहीं होता है। अतः उनको कहते हैं, सुनो। (१) पाँच यम, (२) पाँच नियम, (३) अनेक प्रकारके आसन, (४) अनेक प्रकारके प्राणायाम, (५) अनेक प्रकारके प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) सविकल्प समाधि—इन अष्टाङ्गोंका सम्यक्प्रकार अनुष्ठान होनेपर निर्विकल्प समाधि सुलभ होती है। विना इनके नहीं होती है। अतः इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। यह समाधि अवश्य अनुष्ठेय है इसको सुनकर भूताविष्टके समान 'कुछ लोग और ही बात कहते हैं' यह समझते हुए तत्त्वदृष्टि कुछ बोले विना मन्द-मन्द हँसा।

इस हँसनेका अभिप्राय यह था कि शरीर-व्यवहारमें ज्ञानीको कुछ नियम नहीं है। क्योंकि ज्ञानीको व्यवहारके हेतुभूत अज्ञान एवं तज्जन्य

राग-द्वेषादि नहीं होते। किन्तु प्रारब्ध कर्म ही अवशेष रह जाता है। वही उनके व्यवहारका कारण है। वह प्रारब्ध कर्म पुरुष-भेदसे नाना प्रकारके होते हैं। प्रारब्धजन्य ज्ञानीके व्यवहार भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः कोई नियम नहीं है। यही सिद्धान्त है।

इस विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि विहित कर्मानुष्ठानके नियमका अभाव तो है किन्तु ज्ञानीके निषिद्ध कर्माचरणकी निवृत्तिमें नियम है। ज्ञानीकी प्रवृत्ति देहकी स्थितिके हेतुभूत भिक्षा-अशन-कौपीन-आच्छादन आदिमें ही होती है, अन्यत्र नहीं होती। क्योंकि ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व जिज्ञासा-दशामें ही मुमुक्षु साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर विषयोंमें तीव्र दोषदृष्टिके कारण वैराग्य प्राप्त कर लेता है। वह वैराग्य ज्ञान उत्पन्न होनेपर भी दोष-दृष्टिके बलसे विषयमें मिथ्यात्व निश्चयके कारण दृढतर होता है। अद्वितीय आत्माके अपरोक्ष ज्ञानके बलसे अनात्म पदार्थोंमें तुच्छ निश्चय होनेसे पुनः पदार्थोंमें सत्यत्व बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। दोषदृष्टिके प्राबल्यसे ही विषयों-में राग भी नहीं होता। प्रवृत्ति रागमूलक ही होती है। ज्ञानीकी रागके अभावमें प्रवृत्ति भी नहीं होती। शरीरके जीवन-निर्वाहके लिये भोजनादिमें प्रवृत्ति तो रागके विना ही प्रारब्ध कर्मोंके अधीन ही होती है।

कर्म सञ्चित, आगामी और प्रारब्धके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। उनमें (१) अतीत अनन्त शरीरोंसे अनुष्ठित कर्म जो फल देनेमें प्रवृत्त नहीं हुए हैं उनका नाम सञ्चित कर्म है। (२) वर्तमान शरीरसे किये जानेवाले भविष्य कर्मका नाम आगमी कर्म है। (३) जन्मान्तरके किये हुए जिन कर्मोंसे वर्तमान शरीरका आरम्भ है उनका नाम प्रारब्ध कर्म है। उनमेंसे (१) सञ्चित कर्म तो ज्ञानसे नष्ट होता है। (२) ज्ञानीके आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्व-भ्रान्तिका अभाव होनेसे आगामी कर्मका सम्बन्ध नहीं होता और (३) जो ज्ञानीका शरीर उत्पन्न करके उसकी स्थितिके हेतुभूत भिक्षा-अशन आदिमें प्रवृत्त कराता है वह प्रारब्ध कर्म भोगके विना क्षय नहीं होता है। कहीं-कहीं (अपरोक्षानुभूति, विवेक-चूडामणि आदि

ग्रन्थोंमें) सञ्चित आगामी कर्माभाव-न्यायके बलसे ज्ञानीको प्रारब्ध भी नहीं होता है, अतः ज्ञानीको भोजनादिमें प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं—ऐसा कहते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि ज्ञानीकी अपनी दृष्टिसे तो आत्मामें क्रिया एवं क्रियाके फलका सम्बन्ध नहीं है। अतः समस्त कर्मोंका निषेध है। अपनेमें प्रारब्ध कर्मका भी प्रतिषेध है, किन्तु ज्ञानीके शरीरमें प्रारब्ध कर्म भोग ही उत्पन्न नहीं करेगा—इसका निषेध नहीं है। क्योंकि ज्ञानीका सञ्चित कर्म तो ज्ञानसे नष्ट हो जाता है। आगामी कर्मका सम्बन्ध ही नहीं होता। परन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोगसे ही नष्ट होता है, अन्यथा नष्ट नहीं होता। यही सूत्रकारादिका भी अभिप्राय है। अतः प्रारब्धवश शरीर-पोषणादि निर्वाहकी क्रियामें ज्ञानीकी भी प्रवृत्ति होती ही है, अन्यत्र नहीं होती है।

आक्षेप—कर्म अनेक प्रकारके होते हैं। एक कर्म एक शरीरका आरम्भक होता है। एक कर्म अनेक शरीराम्भक होता है। जहाँ एक ही कर्म अनेक शरीर आरम्भ करता है वहाँ उस कर्मके फलभूत प्रथम शरीरमें ही जब ज्ञान हो जाता है तब तो आरब्ध कर्मका फलभूत शरीरान्तर भी होना चाहिये। क्योंकि जो कर्म फल देनेको आरम्भ हुआ है उसको प्रारब्ध कहते हैं, यह प्रारब्ध भोगके विना नष्ट नहीं होता है।

समाधान—कुछ लोग इसका समाधान यह कहते हैं कि प्रारब्ध-कर्मके फलभूत जितने शरीर हैं वे सब-के-सब ज्ञानीको भी होते हैं। प्रारब्ध भोगसे अधिक नहीं होता है। इसीमें ज्ञानकी भी सफलता है। किन्तु यह समाधान ठीक नहीं है। वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि ज्ञानीके प्राण लोकान्तरमें अथवा इस लोकमें देहान्तरको प्राप्त नहीं होते। किन्तु इसी शरीरमें अन्तःकरण और इन्द्रियाँ लय हो जाती हैं। "**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। अत्र ब्रह्म समश्नुते।**" प्राणके गमनके विना शरीरान्तर-की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः ज्ञानीको प्रारब्धशेषके बलसे शरीरान्तर प्राप्त होता है—यह कहना युक्त नहीं है।

यहाँ यह समाधान है कि जिस एक कर्मसे अनेक शरीर उत्पन्न होते हैं, उसमें अन्तिम शरीरमें ही ज्ञान होता है, पूर्व शरीरमें ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि अनेक शरीरप्रद प्रारब्ध कर्म ज्ञानमें प्रतिबन्धक होता है। जैसे विषयासक्ति, बुद्धिमान्द्य और भेदवादी द्वैतशास्त्रके वचनमें विश्वास ज्ञानमें प्रतिबन्धक होते हैं, उसी प्रकार विलक्षण प्रारब्ध भी ज्ञानमें प्रतिबन्धक होता है। प्रतिबन्धक रहनेपर प्रथम जन्ममें किये हुए ज्ञानके साधनभूत श्रवण-मननादि, प्रतिबन्ध-निवृत्तिके अनन्तर ही, बहुत कालसे प्रतिबन्धक होते हुए भी, शरीरान्तरमें ज्ञान उत्पन्न कराते हैं। जैसे महर्षि वामदेवजीको पूर्वजन्ममें श्रवणादि करनेपर भी प्रारब्ध कर्मके फलभूत अनेक शरीरोंमें-से शेष एक अन्तिम शरीरमें ज्ञान हुआ। बलवान् प्रतिबन्धके कारण श्रवणादिके होते हुए भी प्रथम शरीरमें ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। प्रतिबन्ध निवृत्त होनेसे पूर्वशरीर-पात होनेपर, अन्तिम शरीर प्राप्त होनेपर पूर्वजन्म-कृत श्रवणादिसे गर्भमें ही ज्ञान उत्पन्न हो गया। अतः ज्ञानानन्तर पुनः शरीरान्तरका सम्बन्ध नहीं हुआ। ज्ञानीके वर्तमान शरीरकी चेष्टा प्रारब्ध कर्माधीन ही होती है। उसमें भी शरीर-निर्वाहमात्रके लिये आवश्यक चेष्टा ही होती है। रागजन्य अधिक यथेष्ट चेष्टा नहीं होती। इसीलिये ज्ञानी सर्व-प्रवृत्तिशून्य ही होते हैं।

"प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः॥
शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम्।
नीतेऽस्मिन् प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते॥
आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः॥
योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः॥"

इस प्रकार निवृत्तिप्रधान ही ज्ञानीका व्यवहार होता है

यहाँ यह आशङ्का होती है कि "मनका तो अत्यन्त चञ्चल स्वभाव है। उसकी निरालम्ब स्थिति तो क्षणमात्र भी नहीं होती। कुछ-न-कुछ आलम्बन लेकर ही मन स्थित होता है। अतः ज्ञानीकी भी मनके आलम्बनके लिये कुछ प्रवृत्ति होनी चाहिये।

इसका उत्तर यह है कि असमाहित चित्त एवं समाधि-अनुष्ठानशून्य चित्तके समाधानके अभावमें चाञ्चल्य होनेपर भी समाहित चित्तमें अनवरत समाधि-अनुष्ठानसे चाञ्चल्य नहीं होता है। ज्ञानी तो सदा समाधिमें ही स्थित रहता है। अतः ज्ञानीको कभी प्रवृत्ति नहीं होती है।

समाधिके अष्टाङ्ग

समाधिके आठ अङ्ग होते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—पाँच प्रकारके होते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। पुराणोंमें दशविध यम तथा दशविध नियम माने गये हैं।

आसनके अनन्त भेद हैं। स्वस्तिक, गोमुख, वीर, भद्रासन और सिद्धासनादि चौरासी आसनोंका योग-ग्रन्थोंमें वर्णन मिलता है। इनमें—

सुखेनैष भवेद्यस्मिन् अजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम्॥

भाव यह कि जिस आसनसे सुखपूर्वक बैठकर ब्रह्मचिन्तन हो वही यथार्थ आसन है। अन्य सब आसन रोगादि-निवृत्तिके लिये हैं।

आसनके बाद प्राणायामकी विधि है। **प्राणायाम** भी अनेक प्रकारके होते हैं। तथापि थोड़ेमें लक्षण कहते हैं। (१) नासिकाके वामछिद्रमें स्थित इडा नामकी नाडीके द्वारा वायुको अन्तः पूरण करनेका नाम पूरक है। (२) दक्षिण नासिकामें स्थित पिङ्गला नामकी नाडीके द्वारा वायुको बाहर निकालनेका नाम रेचक है। (३) सुषुम्नाद्वारा वायु-निरोधका नाम कुम्भक है। इस प्रकारसे किये जानेवाले पूरक, कुम्भक और रेचकके समुदायका नाम प्राणायाम है। वह प्राणायाम दो प्रकारका है (१) एक अगर्भ (२) दूसरा सगर्भ। प्रणव-उच्चारणके विना किया जानेवाला अगर्भ और प्रणव-उच्चारणके साथ किया जानेवाला सगर्भ है।

प्रत्याहार, धारणा और ध्यान—अपने-अपने विषयोंसे सभी इन्द्रियोंके निरोध करनेका नाम प्रत्याहार है। निरन्तर अन्तःकरणकी एकाकार स्थितिका नाम धारणा है। अद्वितीय प्रत्यग्ब्रह्ममें बहते हुए अन्तःकरणके प्रवाहका नाम ध्यान है।

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तमज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः॥
यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्।
मनसो धारणश्चैव धारणा सा परा मता॥
ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बनतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी॥

समाधि—व्युत्थान-संस्कारके तिरस्कार और निरोध-संस्कारके प्रकट होते हुए जो अन्तःकरणका एकाग्रतारूप परिणाम है उसका नाम समाधि है। यह समाधि दो प्रकारकी होती है। (१) सविकल्प (२) निर्विकल्प। (१) ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटीके सहित अद्वितीय ब्रह्मविषयक अन्तःकरणवृत्तिकी स्थितिका नाम सविकल्प समाधि है। वह सविकल्प

समाधि दो प्रकारकी होती है। १. शब्दानुविद्ध, २. शब्दाननुविद्ध। "अहं ब्रह्मास्मि" इस शब्दके सहित होनेवाली समाधिको शब्दानुविद्ध कहते हैं। और शब्दरहित समाधिको शब्दाननुविद्ध कहते हैं। (२) त्रिपुटी (ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय)—भानरहित अखण्ड ब्रह्माकार अन्तःकरण-वृत्तिकी स्थितिको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इस प्रकार समाधिके भेद जानने चाहिये।

इनमें सविकल्प समाधि साधन है और निर्विकल्प फल है। साधनात्मक सविकल्प समाधिमें यद्यपि त्रिपुटीरूप द्वैतकी प्रतीति होती है, तथापि वह द्वैत कारणब्रह्मस्वरूप ही प्रतीत होता है, पृथक् प्रतीत नहीं होता। जैसे मृत्तिकाके विकार घट-शरावादिको मृत्तिकारूपसे जाननेवालेको मृत्तिकाके विकार मृत्तिकारूप ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही सविकल्प समाधिमें त्रिपुटी-रूप द्वैत भी ब्रह्मस्वरूप ही प्रतीत होता है। निर्विकल्प समाधिमें भी सविकल्प समाधिके समान सूक्ष्मरूपसे द्वैत रहता हुआ भी प्रतीत नहीं होता, जैसे कि जलमें डाला हुआ लवण-पिण्ड जलमें लीन होकर रहता हुआ भी नेत्रसे ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार सविकल्प और निर्विकल्प समाधिके भेद जानने चाहिये। सविकल्प समाधिमें ब्रह्मस्वरूप द्वैत प्रतीत होता है, किन्तु निर्विकल्प समाधिमें त्रिपुटीरूप द्वैत नहीं प्रतीत होता।

सविकल्प समाधि

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि।
दृश्यशब्दानुविद्धेन सविकल्पः पुनर्द्विधा॥

दृश्यानुविद्ध

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्।
ध्यायेद् दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः॥

शब्दानुविद्ध

असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
अस्मीति शब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः॥

निर्विकल्प समाधि

दृश्यानुविद्ध

स्वानुभूतिरसावेशात् दृश्यशब्दानुपेक्षितुः।
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत्॥

समष्टि-व्यष्टि समस्त दृश्य प्रपञ्च-विलापक शब्दानुविद्ध समाधि

अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत्॥
स्तब्धीभावो रसास्वादस्तृतीयः पूर्ववन्मतः।
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम्॥

इस प्रकार समाधिके अनेक भेद बतलाये गये हैं।

सुषुप्ति एवं निर्विकल्प समाधिमें भेद

सुषुप्तिमें अन्तःकरणकी वृत्ति ब्रह्माकार नहीं होती है। किन्तु कारण अज्ञानमें मिल जाती है। निर्विकल्प समाधिमें अन्तःकरणकी वृत्ति ब्रह्माकार हो जाती है। इस प्रकार सुषुप्तिमें वृत्तिसहित अन्तःकरणका अभाव हो जाता है और निर्विकल्प समाधिमें वृत्तिसहित अन्तःकरण रहनेपर भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण प्रतीत नहीं होता है। निर्विकल्प समाधिमें अन्तःकरणकी ब्रह्माकार वृत्तिकी उत्पत्तिमें हेतु सविकल्प समाधिका अभ्यास है। इसीलिये साधनरूप अष्टाङ्गमें सविकल्प समाधिकी गणना की गयी है। उसका फल तो निर्विकल्प समाधि ही है।

निर्विकल्प समाधिके दो भेद

निर्विकल्प समाधि भी दो प्रकारकी है। (१) अद्वैत-भावनारूप (२) अद्वैतावस्थानस्वरूप। अद्वैत ब्रह्माकाराकारित अन्तःकरणवृत्तिको अद्वैत-भावनारूप निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इस समाधिके अत्यन्त अभ्याससे ब्रह्माकाराकारित वृत्ति भी शान्त हो जाती है। इसी वृत्तिरहित अवस्थाको अद्वैतावस्थानरूप निर्विकल्प समाधि कहते हैं। जैसे तप्त लौह-कटाहमें निक्षिप्त जलबिन्दु उसीमें प्रवेश कर जाता है, वैसे ही अद्वैत-भावना-रूप समाधि भी दृढ अभ्याससे अत्यन्त प्रकाशस्वरूप ब्रह्मात्मामें प्रवेश कर जाती है। इसमें प्रथम समाधि द्वितीय समाधिकी साधन होती है।

अद्वैतावस्थानरूप समाधि एवं सुषुप्तिमें भेद

अद्वैतावस्थानरूप समाधि और सुषुप्तिमें यह भेद है कि (१) सुषुप्तिमें वृत्तिसहित अन्तःकरण अज्ञानमें लीन होता है। (२) अद्वैता-वस्थानरूप समाधिमें वृत्ति ब्रह्मप्रकाशस्वरूप चैतन्यमें लय होती है। दूसरी बात यह कि सुषुप्तिमें स्वरूपानन्द अज्ञानसे आवृत होता है और समाधिमें निरावरण ब्रह्मानन्दका भान होता है।

निर्विकल्प समाधिके चार विघ्नोंका निरूपण

निर्विकल्प समाधिमें चार विघ्न होते हैं। उनकी निवृत्तिके लिये उनका स्वरूप कहते हैं। लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार विघ्न हैं।

लय—आलस्य अथवा निद्रासे वृत्तिके अभावको लय कहते हैं। वृत्ति लय होनेपर सुषुप्तिके तुल्य ही अवस्था समाधिनिष्ठकी भी हो जाती है। उस अवस्थामें ब्रह्मानन्दका तिरोभाव होता है। इसलिये निद्रा-आलस्य आदिके कारण जब अन्तःकरणकी वृत्ति अपने उपादान कारणमें लय होती है तब योगीको सावधान होकर निद्रादिका निरोध करके वृत्तिको बनाये रहना चाहिये। इसीको श्रीगौडपादाचार्यजीने चित्तका सम्बोधन कहा है। लय-

रूप विघ्नके विरोधी निद्रा-आलस्य आदिका निरोधक वृत्तिप्रवाहरूप जागरण ही चित्तका सम्बोधन है।

विक्षेप—जैसे बाज या मार्जारके भयसे चटक (पक्षिविशेष) गृहमें प्रवेश करता है, किन्तु भय, क्लेश और व्याकुलतादिकी निवृत्तिके योग्य स्थान तत्काल न देखकर पुनः बाहर आकर भय अथवा मरणादि दुःख प्राप्त करता है, वैसे ही बाहर अनात्म पदार्थोंको दुःख मानकर अद्वैतानन्दको विषय करनेके लिये चित्तवृत्ति अन्तर्मुख होती है। किन्तु प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण उसमें कुछ काल भी वृत्ति स्थिरता न प्राप्तकर चैतन्यस्वरूप आनन्दको अनुभव किये बिना ही पुनः बहिर्मुख होती है। इस प्रकार बहिर्मुख वृत्तिको ही विक्षेप कहते हैं। चित्तवृत्तिके स्थिर हुए बिना स्वरूपानन्दका लाभ नहीं होता। अतः दीर्घकालतक अन्तर्भूत वृत्ति जबतक ब्रह्माकाराकार नहीं होती, तबतक साधक नियत मनसे बाह्य अनात्म पदार्थोंमें बार-बार दोषदृष्टि करता हुआ वृत्तिको अन्तर्मुख ही करे। विक्षेपरूप विघ्नके विरोधी साधकके प्रयत्नको श्रीगौडपादाचार्यने शम कहा है।

कषाय—रागादि दोषको कषाय कहते हैं। वे बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमें (१) स्त्री, पुत्र और धनादिरूप वर्तमान विषय बाह्य कहे जाते हैं। (२) वे ही भूत, भावी अथवा चिन्तारूपमें आरूढ मनोराज्यमात्र हुए आन्तर कहे जाते हैं। ये दोनों प्रकारके ही रागादि दोष योगियोंको समाधिमें नहीं होते हैं।

अन्तःकरणकी पाँच भूमिकाएँ—(१) क्षेप, (२) मूढता, (३) विक्षेप, (४) एकाग्रता, (५) निरोध—ये चित्तकी पाँच भूमिकाएँ हैं।

(१) लोकवासना—देहवासना—शास्त्रवासनारूप रजोगुण-परिणामात्मक दृढतर अनेक अनात्मवासनाको 'क्षेप' कहते हैं।

१. लोकवासना—"मैव निन्दतु लोको माम्। सर्वेऽपि मां स्तुवन्तु" 'लोग मेरी निन्दा न करें, सभी मेरी स्तुति करें' इस आग्रहयुक्त दृढतर

संस्कारको लोकवासना कहते हैं। २. देहवासना—स्थूल-सूक्ष्म देहमें स्थित रोगात्मक पापफलरूप मलोंको मणि, मन्त्र, औषध आदिसे निःशेष दूर करके इस देहको सुन्दर पुष्ट करूँगा—इस दृढ संस्कारको देहवासना कहते हैं। ३. शास्त्रवासना—सकल शास्त्रोंको पढ़कर उनके अर्थोंको धारण करूँगा—इस दृढ संस्कारका नाम शास्त्रवासना है।

(२) निद्रा, आलस्य और प्रमादादि तमोगुणके परिणामको अन्तः-करणकी 'मूढता' कहते हैं।

(३) ध्यानमें प्रवृत्त चित्तकी कभी बाह्य प्रवृत्ति होनेका नाम 'विक्षेप' है।

(४) अन्तःकरणके अतीत परिणाम और वर्तमान परिणामकी समानाकार-प्राप्तिको 'एकाग्रता' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि समाधि-कालमें योगियोंके अन्तःकरणमें एकाग्रता होती है। वह एकाग्रता वृत्त्यभाव-रूप नहीं है, किन्तु समाधिकालमें अन्तःकरणकी सभी परिणामविशेष वृत्ति ब्रह्मको ही विषय करती है। उसमें अन्तःकरणके अतीत परिणाम और वर्तमान परिणामके ब्रह्माकार होनेसे ही समानाकारता होती है।

(५) इस एकाग्रताकी प्रवाह-वृद्धिको ही 'निरोध' कहते हैं। ये पाँच भूमिकाएँ अन्तःकरणकी ही अवस्थाविशेष होती हैं। इन पाँच भूमिकाओं-से विशिष्ट अन्तःकरणका ही क्रमसे क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नाम है। इनमें क्षिप्त और मूढका समाधिमें अधिकार नहीं है। विक्षिप्त अन्तःकरणका समाधिमें अधिकार है। एकाग्र और निरुद्ध अन्तःकरण समाधिमें होता है। यह सब योगशास्त्रमें विशेष विस्तारसे कहा गया है, वहाँ देख लेना चाहिये।

तत्त्वदृष्टिका देशकालादिसे अनपेक्ष देहपात

इस प्रकार कुछ काल इतस्ततः भ्रमण करते हुए प्रारब्धभोगके अनन्तर तत्त्वदृष्टिके प्राण यहीं लीन हो गये। प्रारब्धभोगके अनन्तर ज्ञानियोंके प्राण

कहीं गमन नहीं करते—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति"। अतः तत्त्वदृष्टि-के प्राण भी अपने उपादान कारणमें लीन हो गये। क्योंकि ज्ञानीको शरीर-त्यागके लिये देशकालादिकी अपेक्षा नहीं होती।

भ्रमन करत कछु काल यूं, तत्त्वदृष्टि सुज्ञान।
भोगै निज प्रारब्ध तव, लीन भये तिहिं प्रान॥

अदृष्टिका देशकालादिकी अपेक्षासे देहपात

द्वितीय शिष्य अदृष्टिने गङ्गातटके शुभ एकान्त पवित्र देशमें ब्रह्म-ध्यानसे अपना शरीर त्यागकर, उत्तरायण मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाकर क्रमसे ब्रह्मस्वरूप निरतिशयानन्दको प्राप्त किया। ब्रह्म-ध्यान करते हुए उत्तम देश, उत्तम कालमें उपासकका शरीर-त्याग करना महत्त्वपूर्ण होता है।

तृतीय शिष्य तर्कदृष्टिका निश्चय

अष्टादश विद्या एवं समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य ब्रह्मज्ञानमें ही है—

तृतीय शिष्य तर्कदृष्टिने गुरुमुखसे उपदेश सुनकर अपने अवगत विषय-में अन्य शास्त्रोंका विरोध परिहार करनेके लिये सकल शास्त्रोंके अभिप्रायको विचारकर यह निश्चय किया।

(१) सकल शास्त्रोंका परम प्रयोजन मोक्ष ही है।
(२) मोक्षका साधन एकमात्र ज्ञान है।
(३) वह ज्ञान भी अद्वय आत्मतत्त्व-निश्चयरूप है।
(४) भेदनिश्चय यथार्थ ज्ञान नहीं होता।
(५) समस्त शास्त्र साक्षात् अथवा परम्परासे ब्रह्मज्ञानके हेतुभूत ही हैं। चार वेद, चार उपवेद, वेदके छः अङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र—ये चार—इस प्रकार संस्कृत वैखरी वाणीके अष्टादश भेद हैं, इन्हींको अष्टादश प्रस्थान कहते हैं। इनमें—

१. कोई कर्मके प्रतिपादक हैं।
२. कोई विषय-सुखके उपाय-प्रतिपादक हैं।
३. कोई ब्रह्मसे अन्य देवताओंकी उपासनाके बोधक हैं।
४. कोई ज्ञानके प्रतिपादक हैं।

इनमें न्याय और सांख्यादि शास्त्र भेदज्ञानको ही यथार्थ ज्ञान कहते हैं। अतः समस्त शास्त्रोंका यद्यपि अद्वैतब्रह्म-बोधकत्व नहीं बनता है, तथापि शास्त्रोंके रचयिता सर्वज्ञ एवं दयालु हुए हैं। उनके मूलसूत्रोंके अर्थ तो वेदोंके अनुसार ही हैं। किन्तु उनकी व्याख्या करनेवाले भ्रान्तिसे मूलसूत्रोंके अभिप्राय न समझकर विरुद्ध अर्थोंकी कल्पना करते हैं। सूत्रोंके अर्थ तो वेदविरुद्ध नहीं हैं। तर्कदृष्टिने अत्युत्तम संस्कारसे यह निश्चय किया।

इस प्रकार शुभसन्तति नामक राजाने अपने पुत्र तर्कदृष्टिके निश्चययुक्त वचनको सुनकर मनके सर्व संशयों और शोकोंको त्यागकर पूर्णानन्द प्राप्त किया। तर्कदृष्टिने अपने पिता शुभसन्ततिके देहपातके अनन्तर दृढतर द्वैतकी तुच्छता निश्चयकर सावधान होकर समस्त राज्यकार्य किया। वह कभी भी राज्यभोगमें आसक्त नहीं हुआ। सदा ब्रह्ममें ही निष्ठासे रहकर उसने प्रारब्धभोगके अनन्तर निश्चल धाम कैवल्य प्राप्त किया। यद्यपि आत्मा (कूटस्थ साक्षी) परमात्मासे सदा अभिन्न है, देह भस्मीभूत है, तथापि उपाधिसे भिन्नवत् भान होता है। उपाधि लय होनेपर समस्त भेद लय हो जाता है एवं परमात्मासे अभेद होता है।

ऊपर जो परमात्मासे अभेद कहा गया, इसका अभिप्राय यह है कि विदेहमुक्तिमें परमेश्वरसे ही अभेद होता है, शुद्ध चैतन्यसे नहीं। इस विषयका वर्णन शारीरकभाष्यके चतुर्थाध्यायमें मिलता है। (१) विदेह-मुक्तिमें सत्यसंकल्पत्वादिकी प्राप्ति होती है यह जैमिनि आचार्य मानते हैं—**"ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः"** इति। सत्यसंकल्पत्वादिका अभाव औडुलोमि मानते हैं—**"चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः"**। सिद्धान्तमें तो सत्यसंकल्पत्वादिका भावाभाव दोनों कहा गया

है—**"एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः"**। इसका अभिप्राय यह है कि विदेहमुक्तिमें ईश्वरसे अभेद होता है। मुक्तपुरुषमें ईश्वरीय सत्यसंकल्पत्वादि गुणोंका अन्य जीवोंके द्वारा व्यवहार किया जाता है। परमार्थ दृष्टिसे तो ईश्वर शुद्ध चैतन्य ही है। उसमें गुणोंका लेश भी नहीं है। निर्गुण होनेसे सत्यसंकल्पत्वादिका अभाव है। संसारदशामें भी जीव परमार्थतः निर्गुण तथा शुद्ध है। तथापि संसारदशामें अविद्यासे जीवमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अनर्थ प्रतीत होता है। ईश्वरको अपनेमें या जीवमें कभी भी संसार-प्रतीति नहीं है। अतः ईश्वर सदा असंग, निर्गुण और शुद्ध ही है। इसी कारण ईश्वरसे जो अभेद कहा गया है वह शुद्ध ब्रह्मसे ही अभेद जानना चाहिये। यदि ईश्वरसे अभेदको शुद्ध ब्रह्मसे अभेद न मानें तब तो ईश्वरका शुद्ध ब्रह्मसे ऐक्यात्म कभी सिद्ध ही नहीं होगा। क्योंकि जीवके समान ईश्वरको उपदेशद्वारा ज्ञान और विदेहमुक्ति सम्भव नहीं। ईश्वरका स्वरूप सदा-सर्वदा शुद्ध नहीं होगा, तब तो जीवकी अपेक्षा भी ईश्वर न्यून होगा और सदा बद्ध भी रहेगा। अतः वक्ष्यमाण रीतिसे ही मानने योग्य है—'ईश्वरको आवरण नहीं होता है। इसीलिये उपदेशजन्य ज्ञानकी भी अपेक्षा नहीं रहती। आवरणके अभावमें ईश्वरको भ्रान्ति भी नहीं होती, अतः नित्य सर्वज्ञ और नित्य मुक्त होता है। माया एवं मायाके कार्य भी आत्मामें प्रतीत नहीं होते, इसीलिये सदा असंग और शुद्ध है। बिम्बवादकी प्रक्रियासे प्रतिबिम्ब बिम्बसे भिन्न नहीं माना जाता है। अतः प्रतिबिम्ब बिम्बमें ही लय होता है।'

इस प्रकार ईश्वरसे अभेद ही शुद्ध चैतन्यसे अभेद कहा गया है। दृष्टान्तसे भी यही सिद्ध होता है। जैसे मठमें घटनाश होनेपर घटाभावदशामें मठाकाशमें ही घटाकाश लय होता है, महाकाशमें लय नहीं होता है। वैसे ही विद्वान्का शरीर भी ईश्वरकृत ब्रह्माण्डमें ही नष्ट होता है। समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वरके शरीरभूत मायाके अन्तर्भूत ही होता है। विद्वान्का आत्मा विदेहमोक्षमें ब्रह्माण्डसे बाहर नहीं जाता है। इस प्रकार ईश्वरमें अभेद सिद्ध

होता है। किन्तु जिस मठाकाशसे घटाकाशका अभेद सिद्ध होता है, वह मठाकाश महाकाशरूप ही है। उसी प्रकार यहाँ भी विद्वान्‌का ईश्वरसे अभेद होता है, वह ईश्वर शुद्ध ब्रह्म ही है। अतः शुद्ध ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है।

इस प्रकार अनेक वेदान्त-सिद्धान्तरत्नोंसे गर्भित सागरवत् यह 'वेदान्त-तत्त्व-विचार' ग्रन्थ समाप्त हुआ। वेदान्त-सिद्धान्त प्रतिपादन करनेवाले अनेक ग्रन्थ हैं, किन्तु वे सब अत्यन्त कठिन एवं दुरूह हैं। व्याकरणके पूर्ण ज्ञानके विना साधारण बुद्धिके लोग उन ग्रन्थोंको पढ़ने और समझनेमें समर्थ नहीं हो सकते। अतः परोपकारके हेतु यह भाषाप्रबन्ध लिखा गया है। इसको पढ़कर साधारण मनुष्य भी अनायास परमानन्दका अनुभव कर सकेंगे।

व्यावृत्तनामरूपात्म जगत्यनुगतं तु यत्।
वेदान्तवेद्यं तल्लक्ष्यमस्तिभातिप्रियात्मकम्॥
एकं निरुपमं तत्त्वं शुद्धाद्वैतं चिदात्मकम्।
विषयावगमं ज्ञानं स्वयं विषयवर्जितम्॥
अखण्डं सच्चिदानन्दं मनोवागाद्यगोचरम्।
सर्वेषां प्रत्यगात्मानं परं ब्रह्म भवामि तत्॥
अहमेव परं ब्रह्म मयि सर्वं प्रकल्पितम्।
इति यत्कृपया बुद्धं सद्‌गुरुं तं नमाम्यहम्॥

॥ इति शम्॥

सं० २०२५ आषाढकृष्णत्रयोदश्यां समाप्तोऽयं प्रबन्धः।

मुद्रक—संसार प्रेस, संसार लिमिटेड, काशीपुरा वाराणसी।